जानकर अत्यन्त आश्चर्य-पूर्ण कुतूहल हुआ, अविश्वास नहीं, कि श्रीनाथजी वहाँके गोपालोंके साथ, अपने भक्तोंके साथ बैठकर भोजन करते, आँख-मिचौनी खेलते, अनेक प्रकारके खेल खेलते और रूठन-मनावन करते। मैं तन्मय होकर पूर्ण विश्वासके साथ उन कथाओं-का रसास्वादन करता और कामना करता कि कभी मुझे भी इसी प्रकार उनका सखा बनकर सदा हारते हुए उन्हें अपने कन्धेपर चड्ढी देनेका सौभाग्य प्राप्त हो।

यों तो मैंने अनेक बार श्रीमद्भागवतका छिट-पुट पाठ किया है किन्तु सन् १९५९ की अस्वस्थताकी दशामें मैं उस दिव्य ग्रन्थका एक बार आद्यन्त पारायण कर गया। उसका स्वाभाविक सुखकर परिणाम यह हुआ कि श्रीकृष्ण मेरे हृदयमें, मस्तिष्कमें, प्राणोंमें, आत्मामें आ बसे और उन्होंने मेरे इस ग्रन्थ-प्रणयनमें विचित्र रूपसे अद्भुत प्रेरणा और सहायता देनी प्रारम्भ की।

यह कौन विश्वास करेगा कि यह साढ़े तीन सौ पृष्ठोंका ग्रन्थ आज दस वर्षमें छपकर प्रकट हो रहा है। इस ग्रन्थके साथ कुछ ऐसा कुसंयोग रहा कि प्रेसपर प्रेस बदलते चले गए और जो मिले वे सब ऐसे कूर्मगतिक मिले कि उन्होंने वर्षमें तीन फ़र्मे भी छापकर नहीं दिए, यहाँतक कि जिस प्रेसने इस ग्रन्थको छापना प्रारम्भ किया था वह समाप्त हो गया और उसके यहाँ रक्खे हुए फर्मे दीमकार्पण हो गए। अन्तमें इन सब उपद्रवोंसे लोहा लेते हुए ग्रन्थ-को संक्षिप्त करके पूर्ण कर देना पड़ा, दीमकों-द्वारा कवलित फ़र्मोंको पुनः मुद्रित कराना पड़ा और तब कहीं यह ग्रन्थ इस रूपमें पाठकोंके सम्मुख आनेके योग्य बन सका। मूल योजनाके अनुसार यह ग्रन्थ लगभग छह सौ पृष्ठोंमें पूर्ण किया जानेवाला था किन्तु अब इन्हीं ३५० पृष्ठोंसे सन्तोष करना पड़ रहा है।

पुष्टिमार्गमें दीक्षित न होनेपर भी पुष्टिमार्गके प्रति मेरी प्रगाढ

निष्ठाके सबसे बड़े दो कारण हैं—एक तो यह कि इसमें घर-बार छोड़कर जंगल-पहाड़में जाकर तपस्या करनेका आदेश और बन्धन नहीं है। दूसरे, इसमें भगवान् श्रीकृष्णको इतना पूर्ण रूपसे आत्म-समर्पण कर दिया जाता है, अपनेको सर्वतोभावेन उनपर ऐसा छोड़ दिया जाता है कि न तो उनसे कुछ माँगा जाता न उनसे कुछ कामना की जाती वरन् उनसे यही कहा जाता है कि 'मैं तेरा हूँ, जो तेरी इच्छा हो वह कर।' यह दूसरी बात मुझे बहुत अधिक प्रिय लगी क्योंकि जो मेरे इष्टदेव होंगे वे वही करेंगे जो वे उचित समझेंगे और जो वे करेंगे उससे निश्चय ही मेरा कल्याण होगा—लौकिक दृष्टिसे सुख दें तो भी अच्छा, दुःख दें तो भी अच्छा—

तुम बिनु एती को करै, कृपा जु मेरे नाथ।
मोहि अकेली जानि कै, दुख राख्यौ है साथ॥

सामान्यतः, सभी देशों, समाजों तथा युगोंमें लोक-नेताओं और महापुरुषोंकी महत्ता और गुरुताका संवर्धन करनेके लिये उनके जीवनचरितके सम्बन्धमें उनके शिष्य, अनुयायी तथा प्रशंसक ऐसी अलौकिक तथा चमत्कारपूर्ण घटनाओंका प्रचार कर देते हैं जिनका वास्तवमें कोई अस्तित्व नहीं होता। लोक-श्रद्धा इतनी नेत्र-हीन होती है कि वह सत्यासत्य, संभवासंभवका विचार करनेके लिये रुकना नहीं चाहती। इसलिये स्वभावतः श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके जीवन-चरितके सम्बन्धमें भी अनेक ऐसी अलौकिक घटनाओंका समावेश हो गया है जिन्हें सामान्य रूपसे विश्वसनीय नहीं समझा जा सकता। यद्यपि अलौकिक महापुरुषोंके जीवनमें अलौकिक घटनाओंका होना असंभव नहीं है तथापि यह असंभव नहीं है कि भक्तोंने भक्तिके आवेशमें कुछ ऐसी घटनाएँ जोड़ दी हों जिनका अस्तित्व ही न हो किन्तु जिन्हें जोड़ देनेका सात्त्विक अभिप्राय केवल उनकी महत्ताका अभिवर्द्धन रहा हो। हमने बिना

किसी टिप्पणी या अलोचनाके ऐसी सभी घटनाओंका उल्लेख यथा-स्थान कर दिया है और पाठकोंपर ही उसकी सत्यताके विवेचनका भार छोड़ दिया है।

जो विद्वान् साम्प्रदायिक दृष्टिसे इस प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना करते हैं उनकी दृष्टि, विचार-सरणि, भाव-भूमि और व्याख्या-पद्धति पूर्णतः एकांगी, पक्ष-निष्ठ और विशेष लक्ष्यबद्ध होती है। संयोगवश, मैं इस दृष्टिसे पूर्णतः मुक्त रहा हूँ और इसीलिये यह संभव है, जिसकी मुझे आशा नहीं है, कि इसमें कुछ ऐसे प्रसंगोंका अनायास समावेश हो गया हो जो साम्प्रदायिक दृष्टिसे उचित न प्रतीत होते हों। यदि इस प्रकारके कोई प्रसंग इस ग्रन्थमें कहीं आ गए हों तो सहृदय पाठक मुझे तत्काल सूचना दें जिससे अगले संस्करणमें उसका उचित संशोधन कर दिया जाय। अपनी ओरसे मैं सभी कृपालु पाठकोंको पहले ही यह विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि मैंने पूर्ण सद्भावके साथ पुष्टिमार्गमें दीक्षित तथा विश्वास करनेवाले भक्तोंकी भावनाओंका सम्मान करते हुए, पुष्टिमार्गमें उनकी भक्ति-भावना और निष्ठाको अधिक तीव्र करनेके विचारसे ही इस ग्रन्थकी रचना की है। इस प्रयासमें न तो 'मुरारेस्तृतीयः पन्था' खड़ा किया गया है, न पांडित्य-प्रदर्शनका कोई छद्म-कौशल ही दिखलाया गया है। हाँ, जहाँ कहीं श्रीकृष्णका प्रसंग आ गया है वहाँ मैंने कुछ स्वाभाविक कवि-भावुकताके कारण कुछ अधिक तन्मयताके साथ प्रसंग-विवेचन किया है, जो मुझे विश्वास है, पाठकोंको प्रिय ही लगेगा। महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी महाराजके सान्निध्यसे मैंने श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और भगवान् श्रीकृष्णके सरस जीवन-चरितके जो आध्यात्मिक उदात्त तत्त्व प्राप्त किए थे वे मैंने यथा-प्रसंग इसमें सन्निविष्ट कर दिए हैं जिनके समावेशसे भागवत-धर्म, पुष्टि-मार्ग तथा भगवान् श्रीकृष्ण-की आध्यात्मिक गुरुताका रस लेनेमें निश्चय ही सहायता मिलेगी।

मैं अपने मित्र श्रीमहेशदत्त शुक्लका हृदयसे अनुगृहीत हूँ जिन्होंने प्रूफ़-संशोधन करके मेरा भार कम किया और राजा बाबू-का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थके प्रणयनका भार सौंपकर मुझे भगवत्-स्मरणका पुण्य अवसर प्रदान किया।

६३।४३, *छोटी पियरी,*
काशी
जगन्नाथ-यात्रा
सं० २०२२

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-क्रम

	विषय		पृष्ठ
	आत्म-निवेदन	...	क–च
१.	यज्ञ-परम्परा और तपस्याका फल	...	१
२.	श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका अवतार	...	१२
३.	महाप्रभुका बाल्यकाल	...	१९
४.	कनकाभिषेक	...	२८
५.	पृथ्वी-प्रदक्षिणा और गृहस्थाश्रममें प्रवेश	...	४८
६.	श्रीनाथजीका आविर्भाव	...	६३
७.	पुष्टिमार्गका प्रचार	...	७६
८.	लीला-प्रवेश	...	८९
९.	पुष्टिमार्गके सिद्धान्तकी भूमिका	...	९९
१०.	भक्तिका स्वरूप	...	१५८
११.	जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण	...	१९३
१२.	श्रीकृष्णका स्वरूप	...	२०३
१३.	दुग्धं गीतामृतं महत्	...	२०८
१४.	योगः कर्मसु कौशलम्	...	२२२
१५.	तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय	...	२२६
१६.	धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्	...	२३०
१७.	तमसो मा ज्योतिर्गमय	...	२३९

	विषय		पृष्ठ
१८.	श्रीकृष्ण और अर्जुन : समाधान	...	२४३
१९.	श्रीकृष्णः शरणं मम	...	२४९
२०.	ब्रज और ब्रजाङ्गना	...	२५६
२१.	पुष्टिमार्गीय सेवाका स्वरूप	...	२६०
२२.	श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके सोलह ग्रन्थ	...	२७३
२३.	श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका परिवार	...	३२५

—: ० :—

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य और पुष्टि-मार्ग

१

प्रथम अध्याय

यज्ञ-परम्परा और तपस्याका फल

परम पुण्यमय भारतवर्षकी जिस भव्य भूमिपर अवतार लेनेके लिये देवता भी निरन्तर तरसते रहते हैं, उसी पवित्र देशमें समय-समयपर बड़े-बड़े महात्मा, तपस्वी और लोक-संग्रही महापुरुष निरन्तर अवतार ग्रहण करके लोक-मंगलकी सृष्टि और अमंगलका विनाश करते रहे हैं। उन्हीं महापुरुषोंकी विश्वविश्रुत उदात्त परम्परामें महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका भी अवतार हुआ।

यद्यपि भारतवर्षका उत्तरीय भाग आर्यावर्त विश्वकी पवित्रतम नदी भागीरथी, यमुना और सिन्धुके परम शुद्ध, सात्त्विक और दैवी जलसे निरन्तर अभिषिक्त होनेके कारण अत्यन्त पवित्र रहा है, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अवतार लेकर इस भूमिको गौरव प्रदान किया है, भगवान् महेश्वरके लीला-धामसे मंडित कैलास-शिखर और स्निग्ध, स्वच्छ तथा स्फटिकमय सुधा-वारिसे परिपूर्ण मानसरोवरको अपने पावन अङ्कमें पोषित

करनेवाले देवात्मा हिमालयने अपनी विशाल हिम शैल-शृङ्खलासे सुरक्षित करके इसे और भी अधिक महत्त्वशाली बना दिया है तथापि विन्ध्य पर्वतमालाके दक्षिण कन्याकुमारी-तक विस्तृत दंडकारण्य और जनस्थानका सुविस्तृत सस्यश्यामल दक्षिणापथ भी महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा और ताप्तीके जलसे अभिषिक्त परम वैभवपूर्ण वनश्रीसे हरिताभ, मलयगिरि, नीलगिरि आदि मनोरम हरे-भरे पर्वतोंसे रमणीय, कांची,मदुराई आदि विविध पवित्र तीर्थोंसे सुशोभित, श्रीरंग, मीनाक्षी, चिदंबरम् तथा रामेश्वरम् आदिके अत्यन्त सुविशाल, गगनस्पर्शी देवालयोंके गोपुरोंके कारण दर्शनीय, नारिकेल, पनस (कटहल), पूगीफल (सुपारी), ताल और तमालके वृक्षोंसे समलंकृत, नित्य-कल्याणम् (सदा-सुहागिन या सदाबहार) के सदा खिले हुए श्वेत और बैंगनी फूलों तथा एला, लवङ्ग और काली मिर्चकी लताओंसे मनोहर होनेके कारण कम सुन्दर और पावन नहीं है जहाँ आज भी अनेक निष्ठावान्, विद्याव्रती, तपःपूत विद्वान् आचार्य सात्त्विक निष्ठाके साथ भारतीय विद्या, संस्कृति, ज्ञान और विज्ञानकी निरन्तर सुरक्षा कर रहे हैं।

इसी दक्षिणापथमें आन्ध्र प्रदेशके काकुंभकर (काँकरवाड) नामक ग्राममें पन्द्रहवीं शती विक्रमीमें वेदाध्ययन-शील, आहिताग्नि, तपःपूत, विशुद्ध-चरित वेल्लनाडु श्रोत्रिय ब्राह्मणोंका प्रसिद्ध परिवार निवास करता था। ये तपस्वी अग्निहोत्री ब्राह्मण अत्यन्त नियमके साथ नित्यप्रति यज्ञ-देवताका आराधन करते हुए अत्यन्त मनोयोगपूर्वक ब्राह्मण धर्मका निर्वाह और पालन करते थे। इन्हीं ब्राह्मणोंमें परम भगवद्भक्त भारद्वाज-गोत्रीय, आंगिरस आयास्य, तैत्तिरीय शाखाध्यायी, त्रिप्रवर अधीति तैलंग ब्राह्मण भी ब्रह्मसंस्कारके साथ निवास करते थे जिनकी

कुलदेवी रेणुकाजी थीं और जिनका अवटक 'खम्भं पाट्टिवारु' था। इसी सल्लक्षण-युक्त विप्र-परिवारके पूर्व पुरुष श्री गोविन्दाचार्यजीके कुलमें यज्ञनारायण दीक्षित (भट्ट) जी बड़े यशस्वी महापुरुष हो गए हैं जिन्होंने इस कवियुगमें भी वत्तीस सोम-यज्ञ करके धर्मप्राण ब्राह्मणों और निष्ठावान् विद्वानोंमें अपूर्व यश अर्जित किया।

आठवें वर्षमें विधिपूर्वक उपनयन आदि संस्कारोंसे सुसंस्कृत होकर यज्ञनारायणजी सभी वेदों और शास्त्रोंमें अव्याहत गति प्राप्त करके सर्व-विद्या-पारङ्गत हो गए। जब वे विधिवत् स्नातक होने-पर अपने गुरुजीसे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी आज्ञा पाकर अपने घर लौटे तभी अत्यन्त कुलीन ब्राह्मणकी नर्मदा नामक सुलक्षणी कन्याका पाणिग्रहण करके उन्होंने गृहस्थाश्रममें में प्रवेश किया। अपनी उस पतिव्रता, सुशीला, गुणशीला और तपस्विनी भार्याके साथ वे अत्यन्त संयमपूर्वक गृहस्थ-धर्मका पालन और अग्निहोत्र करते हुए मानसिक सन्तोष और सुखके साथ जीवन व्यतीत करने लगे।

इसी गृहस्थाश्रमकी अवस्थामें एक दिन सुसंयोगवश द्रविड़-देश-निवासी विष्णुमुनि नामक परम भागवत और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य उपासक एक तेजस्वी ब्राह्मण श्रीयज्ञनारायण भट्टके यहाँ अतिथि होकर आ पहुँचे। 'अतिथिदेवो भव' के स्वाभाविक संस्कार और पारम्परिक भावसे ओतप्रोत इस गृहस्थ विप्र-युगलने उस तेजस्वी अतिथिका अत्यन्त श्रद्धाके साथ स्वागत और सत्कार किया। मध्याह्नमें सूर्यकी उपासना और भोजन करके मौन बैठे हुए उस दिव्य अतिथिकी शान्त मूर्त्ति और तेजस्वी मुख-ज्योति देखकर श्रीयज्ञनारायणजी अत्यन्त विस्मय और श्रद्धाके साथ उनके पास

जाकर विनय करने लगे—'हे ब्रह्म-श्रेष्ठ ! मेरी इस दीन कुटियापर प्रतिदिन अनेक अतिथि पधारकर और मुझपर कृपा करके मेरा आतिथ्य ग्रहण करते रहे हैं। इन कृपालु अतिथियोंमें अनेक वेद-पारग, शास्त्र-निष्णात, अगणित यज्ञ करनेवाले महापुरुष भी कुटिया पवित्र कर चुके हैं किन्तु आपके समान अतुलनीय और अलौकिक तेजस्वी अतिथिका दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे कभी नहीं प्राप्त हुआ। आपके इसी अलौकिक तेजने मुझे आपसे ढिठाई करके कुछ पूछनेको प्रेरित किया है। अतः, आप कृपा करके मुझे यह बतानेका कष्ट करें कि आपने कौन-सा तप, व्रत, या नियम पालन किया है जिसके प्रभावसे आप इतनी शान्ति और इतना तेज अर्जित कर पाए। आपके दिव्य दर्शनसे मुझे भी प्रेरणा मिल रही है कि मैं भी ऐसा अलौकिक सौख्य और सन्तोष प्राप्त करनेके लिये इसी प्रकारकी दिव्य शान्ति और तेज अर्जित करनेका यथा-शक्ति प्रयत्न करूँ।

महापुरुष तो स्वभावतः उदार होते ही हैं। इसलिये परम कृपालु विष्णु मुनिने श्रीयज्ञनारायण भट्टको मन्त्रोपदेश का योग्य पात्र समझकर उनसे कहा—'वत्स यज्ञनारायण ! आप अत्यन्त कुलीन, सदाचारी धर्मनिष्ठ और नियम-व्रती हो। इसलिये मैं आपके व्यवहारसे अत्यन्त संतुष्ट होकर आपको शांतिका मार्ग समझाता हूँ। यद्यपि पारलौकिक सुखके लिये अश्वमेध यज्ञ आदि अनेक श्रौत कर्मों का विधान अनेक शास्त्रोंमें बताया गया है किन्तु उन सबमें सबसे अधिक सरल और सुलभ क्रिया भगवान् कृष्णकी उपासना है जिससे इस लोकमें भी परम शान्ति प्राप्त होती है और परलोकमें भी। प्रारम्भमें मैंने भी बहुत दिनोंतक श्रौत कर्मोंका ही अनुपालन किया किन्तु अन्तमें मेरे परम पूजनीय सद्गुरुने मुझपर अत्यन्त कृपा करके मुझे भगवान्

श्रीकृष्णकी भक्तिका ऐसा अनुपम उपदेश दिया कि मुझे वास्तवमें सात्त्विक शांति भी मिली और आनन्द भी प्राप्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके प्रसादसे मेरा चित्त अत्यन्त प्रसन्न और कल्मष-हीन हो गया है, मनकी चिन्ताएँ शान्त हो गई हैं, सब प्रकारके पाप, ताप और शाप स्वयं विलीन हो गए हैं और उनके चरणोंमें मन लगाए हुए मैं निरन्तर अगाध आनन्द-सागरका अलौकिक सुख अनुभव करता रहता हूँ। इस प्रकारकी शान्ति सच्चे हृदयसे भगवान् पुरुषोत्तम गोकुलनाथ राधारमण श्रीकृष्णचन्द्रकी अनन्य भक्ति करनेसे आ सकती है। इसलिये, यदि आप वास्तवमें शांतिके इच्छुक हों तो आप भी गोपालनन्दन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके सेवक हो जाइए। मैं आपको उनके ध्यान, पूजन और उपासनाका सब रहस्य बता दूँगा।

उसी दिन श्रीयज्ञनारायण भट्टने श्रीविष्णु मुनिसे भगवान् कृष्णकी उपासनाका रहस्य-मन्त्र प्राप्त किया और उनके उपदेशके अनुसार निरन्तर भक्तिपूर्वक भगवान् कृष्णकी उपासना करते हुए वे अपने कुलकी परम्पराके अनुसार यज्ञ भी करते रहे। जब वे इकतीस यज्ञ करके बत्तीसवें सोमयज्ञके समय अग्निमें आहुति देने लगे तभी वह्नि-ज्वालाके बीच अग्नि-कुंडसे शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी साक्षात् विष्णु भगवान् प्रकट होकर बोले—'वरं ब्रूहि' (वर माँगो)।

साक्षात् त्रैलोक्यनाथ भगवान् विष्णुको अग्निकी लपटोंके बीच द्वितीय सूर्यकी भाँति प्रकाशमान देखकर श्री यज्ञनारायण दीक्षित इतने हर्षोद्विग्न हो गए कि उल्लाससे फूले नहीं समाए। वे अपने अत्यन्त आनन्द-दृप्त नयनोंमें हर्षाश्रु भरकर भक्तिके आवेगसे गद्गद-स्वर होकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके बोले—'दीनानाथ! दीनबन्धु! त्रैलोक्यपति! आज अपने अनेक जन्मोंके संचित सुकृतोंके फल-

स्वरूप आपके इस अलौकिक जन्म-मरणके बन्धनोंको सदाके लिये नष्ट करनेवाले दिव्य दर्शनने मुझे और मेरे समस्त कुलको सदाके लिये पवित्र और कृतार्थ कर दिया है। सांसारिक विषयोंकी इच्छा भी तभी तक मनुष्यके मनमें रहती है, जब-तक भगवान् आनन्दकन्द, श्रीकृष्णचन्द्रकी नयनानन्द मूर्ति नयनोंमें नहीं समाती। आपके समान शरणागत-वत्सल और दीन-वत्सल कौन है जो मुझ-जैसे क्षुद्र जीवका उद्धार करनेके लिये स्वतः अपनी इच्छासे मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट हो जाय। आपकी जय हो।'

प्रणत-वत्सल वैकुण्ठनाथ श्रीवत्सलाञ्छन भगवान् विष्णुने अपने भक्तको इस प्रकार भक्ति-गद्गद देखकर कहा—'वत्स यज्ञनारायण! मैं तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और भक्तिसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम वर माँगो।' किन्तु भगवान्के साक्षात् दर्शनसे यज्ञनारायण दीक्षित इतने भावाभिभूत हो गए थे कि भगवान्के इतना कहनेपर भी उनके मुखसे एक शब्द नहीं निकला। उन्हें इस प्रकार मौन खड़े देखकर मधुर मुसकानके साथ अपने पद्म-वदनसे भगवान् स्वयं बोले—'यज्ञ-नारायण! तुम तो इस समय कामना-रहित हो गए हो किन्तु मैं तुम्हें वर देता हूँ कि जब तुम्हारे वंशमें एक सौ यज्ञ पूरे हो जायँगे तब सम्पूर्ण लोकोंका उद्धार करने, पुष्टि-मार्गका प्रसार-प्रचार करनेके लिये मैं स्वयं तुम्हारे वंशमें जन्म लूँगा।' इतना कहकर भगवान् लक्ष्मीनाथ वहीं अन्तर्धान हो गए और श्रीयज्ञनारायण भट्ट भगवान्के दिव्य वाक्यका स्मरण कर-करके आनन्दविभोर हो उठे।

अपने सत्कर्मों और सुचरितोंसे लोक-मङ्गल करते हुए और अपने ब्राह्मण-धर्मका निर्वाह करते हुए श्रीयज्ञनारायण दीक्षितने जब वैकुण्ठ-वास किया तब उनके पश्चात् उनके योग्य पुत्र श्रीगंगाधर

सोमयाजीने भी अपने पिताकी ही सात्त्विक वृत्तिका अनुष्ठान करना प्रारम्भ कर दिया। विधिपूर्वक वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके उन्होंने कांची नामकी अत्यन्त सुशीला और गुणवती कन्यासे विवाह करके गृहस्थाश्रममें पदार्पण किया। श्रीमती कांची इतनी पतिपरायणा थीं कि अपने व्यवहार, सेवा-भाव और स्नेहसे अपने धर्मनिष्ठ पतिको सन्तुष्ट करके उन्होंने वास्तवमें अपना अर्धाङ्गिनी और सहधर्मिणी पद सार्थक कर दिया। सौभाग्यशाली श्रीगंगाधर सोमयाजीने भी अपने पितृ-चरणकी कामना पूर्ण करनेके निमित्त अट्ठाइस सोमयज्ञ किए, अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी की और साथ-साथ अपने पिताजीसे भी अधिक भक्तिके साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी उपासना की।

उनके वैकुण्ठवास करनेके पश्चात् उनके गुणी पुत्र श्रीगणपति भट्ट सोमयाजीने सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-पारंगत होनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके तीस यज्ञ किए। उनके गोलोक-वासके अनन्तर उनके पुत्र श्रीवल्लभ भट्ट (बालभट्ट) सोमयाजीने सदा भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें सात्त्विक श्रद्धा और भक्तिके साथ अनेक ज्ञानवर्द्धक ग्रन्थरत्नों-की रचना भी की और पाँच सोमयज्ञ भी किए। श्रीवल्लभ भट्ट (बालंभट्ट) सोमयाजीके बहुत दिनों-तक कोई पुत्र नहीं हुआ। अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी अनुकम्पासे उन्हें एक पुत्र हुआ जिसका नाम लक्ष्मण भट्ट रक्खा गया। देरसे पुत्र-लाभ होनेके कारण श्रीवल्लभ सोमयाजी स्वभावतः अपने इस पुत्रसे बहुत मोह करते थे। लक्ष्मण भट्ट जब आठवें वर्षमें प्रविष्ट हुए तब श्रीवल्लभ भट्टने बालक लक्ष्मण भट्टको गुरुके यहाँ विद्याभ्यासके लिये भेज दिया। अलौकिक प्रतिभाशाली होनेके कारण यथा-नियम गुरु-सेवा करके थोड़े ही समयमें उन्होंने समस्त विद्याओंपर अखण्ड अधिकार प्राप्त कर लिया।

विद्याके गम्भीर अध्ययनसे और स्वभावतः विरक्त-चित्त होनेके कारण गुरु-गृहसे लौटने पर वे गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेमें आना-कानी करने लगे। इसपर गुरुजीने इन्हें प्रबोध देते हुए कहा—वत्स लक्ष्मण भट्ट! मैं जानता और मानता हूँ कि गृहस्थाश्रम स्वीकार करना मनुष्यका कोई प्रधान और आवश्यक कर्म नहीं है और मैं भी तुमसे केवल विषयोंका उपभोग करनेके लिये गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेका आग्रह नहीं कर रहा हूँ। मैं केवल यही आदेश दे रहा हूँ कि गृहस्थाश्रम ग्रहण करके अपना ही नहीं सम्पूर्ण संसारका उद्धार कर सकोगे क्योंकि तुम्हारे पिताके प्रपितामह परम धार्मिक श्रीयज्ञनारायण भट्टने रात-दिन गोपालनन्दनकी उपासना करते हुए जब सोमयज्ञ आरम्भ किया तब उनकी अखण्ड भक्तिसे प्रभावित और संतुष्ट होकर भगवान् नारायणने स्वयं प्रकट होकर कहा था कि जब तुम्हारे वंश-वाले सौ सोमयज्ञ कर लेंगे तब मैं संसारके उद्धारके लिये तुम्हारे कुलमें स्वयं जन्म लूँगा। इसलिये सोमयज्ञकी सौ संख्या पूर्ण करनेके लिये तुम्हें अवश्य गृहस्थाश्रम सेवन करना चाहिए। मैं जानता हूँ कि गृहस्थाश्रमसे तुम्हें कोई विशेष सुख या सन्तोष नहीं मिलेगा और तुम्हारी इच्छा भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट करनेकी नहीं है तथापि असंख्य जनोंके उद्धार और उपकारके लिये अपने सुख-दुःखोंकी चिन्ता लोकोपकारीको नहीं करनी चाहिए। देखो, जो पुरुष दूसरोंको दुःख-सागरमें डूबते हुए देखकर निश्चिन्त बैठा रहता है वह मनुष्य नहीं कहलाता। इसलिये तुम सोमयज्ञ पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही जाकर गृहस्थ धर्म स्वीकार करो और अपने लिये अक्षय्य कीर्ति अर्जित करो क्योंकि भगवान्‌के अवतारका जनक होनेका श्रेय और यश तुम्हें ही मिलेगा।

अपने गुरुका यह आदेश सुनकर लक्ष्मण भट्ट अत्यन्त शांतिपूर्वक

दुःख सागरमें डूबते हुए देखकर निश्चिन्त बैठा रहतः है वह मनुष्य नहीं कहलाता। इसलिये तुम सोमयज्ञ पूर्ण करनेके उद्देश्यये ही जाकर गृहस्थ धर्म स्वीकार करो और अपने लिये अक्षय्य कीर्ति अर्जित करो क्योंकि भगवान्‌के अवतारका जनक होनेका श्रेय और यश तुम्हें ही मिलेगा।

अपने गुरुका यह आदेश सुनकर लक्ष्मण भट्ट अत्यन्त शांतिपूर्वक अपने पिताके साथ घर लौट आये और विद्या-नगर (विजयनगर) निवासी राज्य-पुरोहित श्रीसुशर्माकी यल्लमा और इल्लमा नामक दोनों कन्यायोंका पाणिग्रहण करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हो गए। वे दोनों कन्याएँ कुलीन परिवारकी होनेके कारण साक्षात् लक्ष्मी और सरस्वतीके समान अत्यन्त स्नेह और सौहार्द्र के साथ श्रीलक्ष्मण भट्टकी सेवा करने लगीं।

सम्पूर्ण वेद और शास्त्रमें पारंगत श्रीलक्ष्मण भट्टने श्रौत विधिसे सोमयज्ञका विधान प्रारम्भ कर दिया और पाँच सोमयज्ञ थरके सौ सोमयज्ञ पूर्ण कर लिए। जब अन्तिम सोमयज्ञ होने लगा उस समय परम्परासे भगवान् नारायणके अवतारकी कथासे परिचित अनेक दक्षिणापथ-निवासी कुतूहल और श्रद्धावश वहाँ आ एकत्र हुए। अन्तिम सोमयज्ञ करके विधिपूर्वक अवभृथ-स्नानके लिए परम पवित्र श्रीलक्ष्मण भट्ट जब नदीके तीर पर पहुँचे तब सहस्रों लोग उनके पीछे-पीछे कृष्णा नदीमें स्नान करनेके लिए एकत्र हो गए थे। अवभृथ-स्नानके अनन्तर श्रीलक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी और सम्बन्धी लोगोंके साथ नदीके जलमेंसे निकले ही थे कि उसी समय मेघके

समान गम्भीर कोई दैवी वाणी सबको सुनाई पड़ी—'वत्स लक्ष्मण भट्ट ! तुमने सौ यज्ञ करके अपने पिताके प्रपितामहका संकल्प पूर्ण कर दिया है इसलिये मैं तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ और तुम्हारे उन पूर्वजको दिए हुए व्रतको सफल करनेके लिये तथा अपने भक्तके कल्याणके लिये तुम्हारी पत्नीके पुण्य गर्भसे शीघ्र ही अवतार धारण करूँगा। वह दिव्य वाणी सुनकर वहाँ आए हुए सभी लोग अत्यन्त विस्मित हो उठे और महात्मा लक्ष्मण भट्टके हृदयमें भी भगवान्‌का अनुग्रह प्रत्यक्ष देखनेका नैसर्गिक कुतूहल उसी प्रकार जाग उठा जैसे प्रचण्ड पवनकी प्रेरणा पाकर पावक प्रदीप्त हो उठता है।

कुछ समय बीतनेपर देवी यल्लमाके गर्भसे लक्ष्मण भट्टके राम-कृष्ण नामक पुत्र और सुभद्रा नया सरस्वती नामकी दो कन्याएँ हुईं। उसी समय अपने देशपर अन्य राजाओंका आक्रमण होनेके कारण वे देश छोड़कर काकर या काकरवाड नामक नगरमें जा बसे। तीन संतति होनेपर भी भनवान्‌के अवतारका कोई चिह्न न देखकर लक्ष्मण भट्ट चिन्तित हुए और इस अभावको अपने दुष्कृतों-का फल और अपना अभाग्य समझने लगे। बार-बार सोचते-सोचते उन्होंने निश्चय किया कि हमें अपनी कुल-परम्परामें चली आती हुई भगवान् कृष्णकी उपासना प्रारम्भ करनी चाहिए। इस प्रकार अपने पतिको कृष्ण-भक्तिमें लीन देखकर उनकी साध्वी पत्नी इल्लमाने भी असने पतिका अनुसरण करते हुए भगवान् कृष्णकी आराधना प्रारम्भ कर दी।

इस परम सात्त्विक तपस्या और एकान्तनिष्ठ भगवद्-भक्तिकी

चुकनेके उपरान्त अपने गुरुजीकी आज्ञा पाकर और वहाँ कुछ दिन बसकर ये लोग विश्वेश्वरपुरी वाराणसीमें जा पहुँचे। वहाँ शंकर दीक्षित तथा साथके अन्य लोगोंको हनुमान-घाटपर स्थापित करके वे स्वयं सपत्नीक परम श्रद्धालु सेठ कृष्णदासके अनुरोध पर उनके गृहमें जाकर रहने लगे। यह सेठ पहलेसे ही द्रविड़ देशसे आए हुए अनेक प्रवासियोंसे लक्ष्मण भट्टकी कीर्ति सुन चुका था और यह सुनकर कि वे यात्राके लिये प्रयाग आए हुए हैं, वे अपने सेवकोंके साथ प्रयाग जाकर लक्ष्मण भट्टजीके साथ ही काशी लौटे। सेठ कृष्णदासने अत्यन्त भक्तिके साथ महाभाग श्रीलक्ष्मण भट्ट तथा उनकी साध्वी पत्नी इल्लमाको अपने भवनमें लाकर ठहराया और उनकी अत्यन्त भक्ति-भावसे सेवा की।

———

२

द्वितीय अध्याय

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका अवतार

पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवीके अन्तिम चरणमें उत्तरीय भारतपर मुसलमान शासकोंका घोर आतंक और दवदबा छाया हुआ था। दिल्लीके सिंहासनपर लोदी वंशका बहलोल खाँ लोदी प्रतिष्ठित होकर समस्त उत्तरी भारतपर शासन कर रहा था। काशीके पुण्यक्षेत्र-की समस्त भूमि उन दिनों जौनपुरके मुसलमान शासकोंके हाथमें थी जिनमें हुसेन शाह शर्कीने सन् १४५७में मोहम्मद शाहका वध करके जौनपुरकी गद्दीपर अधिकार कर लिया था। उन दिनों वह यावनी शासन इतना अधिक कठोर हो गया था कि हिन्दुओंके समस्त धर्म-कर्म बड़े संकटमें पड़ गये थे। प्रायः सभी मुसलमान शासकोंने हिन्दुओंकी रीति-नीति और उनके संस्कारोंका दमन करने और आर्य वैदिक परिपाटी तथा कर्मकाण्ड लुप्त करनेके लिये ऐसी व्यापक और घातक नीति बना ली थी जिसके अन्तर्गत ऐसे सभी अन्याय्य, अवैध और अनैतिक उपयोंका प्रयोग किया जाता था जिनसे हिन्दुओंकी धार्मिक और आचार-शील भावनाको सब प्रकारसे ठेस पहुँचे, उन्हें आचार-पालन और व्रत-नियमें बाधा हो और वे किसी न किसी प्रकार ऊबकर मुसलिम धर्म ग्रहण करनेके लिए बाध्य हो जायँ। मुसल-मान मुल्ला लोग खुलकर यह प्रचार करते थे कि हिन्दुओंके परमात्मा

से मुसलमानोंका खुदा बड़ा है। जो इस बातको स्वीकार नहीं करता था वह क़ाफिर समझा जाता था और उसे क़ाफ़िर होनेका निर्मम दण्ड दिया जाता था जिसकी पराकाष्ठा मृत्यु-दण्ड तक पहुँच सकती थी। नये मन्दिरोंके निर्माणपर रोक लगा दी गई थी। हिन्दुओंकी बारातमें वरको मसजिदके आगे सवारीसे उतरकर चलनेको बाध्य किया जाता था। खुले स्थानोंपर गो-वध होता था। हिन्दुओंको अपने धर्मका प्रचार करनेकी स्वतन्त्रता न थी। स्थान-स्थान पर हिन्दुओंके धर्म-ग्रन्थ जलाए जाते थे, मन्दिर तुड़वा-तुड़वाकर उनकी सामग्रीसे वहींपर मसजिद बनवा दी जाती थी। किसीको शंख बजाने की आज्ञा न थी। हिन्दुओंकी कन्याओंका बलपूर्वक अपहरण कर लिया जाता था। मोहरम्मके समय सभी हिन्दू त्यौहार बन्द कर दिए जाते थे। हिन्दुओंको बलपूर्वक मुसलमान बनाया जाता था। हिन्दुओंपर व्यापक रूपसे जज़िया कर भी लगा दिया गया था। इस प्रकारकी आतंकपूर्ण परिस्थितिमें हिन्दू लोग मुसलमानी शासन-चक्रके नीचे दाँतोंके बीच जीभके समान अत्यन्त दैन्यपूर्ण जीवन व्यतीत करनेके लिए विवश किए जा रहे थे।

उन्हीं त्रासपूर्ण दिनोंमें श्रीलक्ष्मण भट्टजी अपनी साध्वी पत्नी श्रीमती इल्लमा देवीके साथ सेठ कृष्णदासके यहाँ काशी आए हुए थे। काशीमें भी सम्पूर्ण उत्तरी भारतके समान जौनपुरके मुसलमान शासकोंका ही शासन चल रहा था। उनमें भी कोई स्थिरता नहीं थी, शान्ति नहीं थी क्योंकि सन् १४५७ में महमूदके बेटे मोहम्मद शाहको मोहम्मद शर्कीने मरवाकर जौनपुरका राज्य अपने हाथ में कर लिया था और काशीका राज्य भी जौनपुर शासनके अन्तर्गत ही चला गया था। वे मुसलमान शासक स्वयं ऐसे आतंकपूर्ण वातावरणमें इतने अधिक भयभीत और सशंक रहते थे कि न जाने कब

कौन किसका वध करके शासक हो जाय। किसीका भी जन-धन सुरक्षित नहीं था। हिन्दू लोग अपनी कन्याओं और वधुओंको जन-दृष्टिसे छिपाकर रखनेमें ही अपना और अपने कुटुम्बका कल्याण तथा समाज-रक्षण समझते थे।

इसी बीच एक दिन श्रीलक्ष्मण भट्टजी ज्यों ही स्नान करनेके लिये गङ्गा-तटपर पहुँचे तो उन्होंने वहाँ स्नान करनेवाले काशी-निवासियोंके मुखसे यह उड़ती हुई बात सुनी कि कल यहाँ दो मुसलिम शासक अपनी-अपनी सेना लेकर आमने-सामने भिड़नेवाले हैं। उनमें जो विजयी होगा वही सारे नगरको लूट-पाटकर नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। फिर क्या था। भगदड़ मच गई। कुछ लोग तो यह सुनते ही अपना-अपना परिवार और टंट-घंट लेकर वहाँसे हट-बढ़ गए या कहीं दूर अपने संबन्धियोंके यहाँ चले गए।

महाभाग श्रीलक्ष्मण भट्टने भी जब यह बात सुनी तो उन्हें निश्चय हो गया कि क्रूर यवन आक्रमणकारी तो काशीमें भी निरापद नहीं रहने देंगे। बस वे भी सेठ कृष्णदासके कुछ सेवकोंको लेकर चम्पारण्य (मध्य प्रदेशके रायपुर जनपद) की ओर चल दिए। उस समय देवी इल्लमा आपन्नसत्त्वा और कठोरगर्भा थीं। उन्हें मार्गमें बड़ी असुविधा और बड़ा कष्ट हुआ था किन्तु दूसरा उपाय क्या था। अन्तमें जब उनके पैर पत्थर हो गए तो वे श्रान्त और क्लान्त होकर मार्गमें शमीके वृक्षके नीचे बैठ गईं। वहीं पर रातको नदीके तीरपर संवत् १५३५ विक्रमी (सन् १४७९) की वैशाख कृष्णा एकादशीके मंगलमय दिन रायपुरके समीप महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका जन्म हुआ। श्रीलक्ष्मण भट्ट और सेठ कृष्णदासके सेवक कुछ आगे बढ़ गए थे। यवनोंके आक्रमणके समाचारसे देवी इल्लमा इतनी भय-सन्त्रस्त थीं कि जब उन्होंने

अपने सद्यःजात स्थिरचेष्ट पुत्रकी ओर देखा तो प्रतीत हुआ मानो वह मृत है और यह समझकर वे उस बालकको कपड़ा उढ़ाकर वहीं एक महावृक्षके कोटरमें स्थापित करके भद्रपुर नामक गाँवमें अपने पतिदेवके पास जा पहुँचीं और उनको उन्होंने सारा समाचार और मृत पुत्र होनेका दुःसंवाद भी सुना दिया। भावी बलवान् समझकर श्रीलक्ष्मण भट्ट मौन रह गए। इल्लमादेवीकी ज्यों ही लेटे-लेटे आँखें लगी और घरके अन्य लोग भी तन्द्रिल अवस्थामें विश्राम करने लगे त्यों ही श्रीलक्ष्मण-भट्टजीको और उनकी माताजीको भगवान्‌ने दर्शन देकर कहा—'वत्स लक्ष्मण भट्ट! मैं अपने परम प्रिय पुष्टिमार्गके प्रसारके लिये और अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये तुम्हारे कुलमें अवतीर्ण हुआ हूँ। तुम्हारी पत्नी इल्लमा देवी मुझे शमीके वृक्षके नीचे छोड़कर डरके मारे यहाँ चली आई हैं। मैं वहाँ अत्यन्त सुखसे लेटा हुआ हूँ। जिस भयसे तुमने वाराणसीका त्याग करके अरण्य-सेवन किया है वह कारण अब समाप्त हो गया है क्योंकि यवनोंका उपद्रव अब पूर्णतः शान्त हो गया है। वे भाग गए हैं और वहाँ पूर्ण शान्ति विराजमान है। इसलिये तुम वाराणसी लौट चलो। मैं मार्गमें शमी वृक्षके नीचे विश्राम कर रहा हूँ।'

स्वप्नमें यह वचन सुनकर श्रीलक्ष्मण भट्ट तत्काल चौंककर उठ खड़े हुए और उन्होंने अपनी माताजीको जगाया। उनकी माताजीने भी उनका समर्थन करते हुए कहा कि मैंने भी ऐसा ही स्वप्न देखा है। तब तो निःशंक होकर श्रीलक्ष्मण भट्टजीने अपने सब साथियोंसे कहा कि काशी लौट चलना चाहिए। आदेश पाते ही सब लोग तत्काल काशी लौटनेके लिये सन्नद्ध हो गए। वाराणसीके लिये प्रस्थान करनेसे

पहले ही उन्हें यह समाचार प्राप्त भी हो गया था और उन्हें निश्चिन्तता भी हो गई थी कि अब काशी लौट चलनेमें कोई संकट नहीं है। मार्गमें ज्योंही इल्लमादेवीने उस शमीके वृक्षको दूरसे देखा तो जान पड़ा कि वृक्ष चारों ओरसे अत्यन्त तेजसे घिरा हुआ है और उसके बीच वह बालक हँसता हुआ लेटा है। इल्लमादेवीने दौड़कर उस बालकको गोदमें उठा लिया और सारा समाज हर्षोत्फुल्ल होकर भगवान्‌का अनुग्रह मानकर भगवान्‌को धन्यवाद देने लगा। अब श्रीलक्ष्मण भट्टको निश्चय हो गया कि यही बालक हमारे कुलका दीपक और भगवान्‌का अवतार है नहीं तो भला शमीके कोटरमें अरक्षित छोड़ा हुआ बालक कैसे सुरक्षित और जीवित रह सकता था।

वैष्णव समाजमें लोगोंकी धारणा है कि श्रीमद्वल्लभाचार्यजी साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके मुखावतार और पावक-स्वरूप वैश्वानरके अवतार हैं। श्रीकृष्ण-भक्त विशेषतः श्रीमद्-वल्लभाचार्यजीके द्वारा स्थापित वल्लभ-सम्प्रदायवाले लोग मानते हैं कि पृथ्वीतलपर आनेके पूर्व श्रीमद्वल्लभाचार्यजी आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके पास लीलाधाममें उनकी नित्य-लीलामें विराजमान थे। भारतकी दुर्दशा और विशेषतः अपने ब्रजमंडलकी दयनीय दशा देखकर उनका हृदय करुणासे द्रवित हो उठा और उन्होंने संकल्प किया कि गोपी जनोंने मेरा अनुग्रह पाकर जिस पुष्टिमार्गका प्रवर्त्तन किया है और जो मुझे हृदय से प्रिय है वह अब मेरे प्रिय भारतवर्षमें लुप्त हो चला है। इसलिये उसका पुनः उद्धार करना आवश्यक है। यह विचारकर उन्होंने अपने मुख-स्वरूप श्रीमद्वल्लभाचार्यजीको आदेश दिया कि आप मर्त्यलोकमें भारतकी पवित्र भूमिपर जन्म

लेकर पुष्टि-मार्गका पुनरुद्धार कीजिए क्योंकि मैंने श्रीयज्ञनारायण भट्टको वचन दिया है कि जब उनके वंशधर सौ सोमयज्ञ पूरे कर लेंगे तब मैं वहीं अवतार लूँगा । अब उनके वंशधरोंने सौ सोमयज्ञ करके अपने वंशको इतना पवित्र कर लिया है कि आप वहाँ निश्चिन्त होकर अवतार धारण कर सकते हैं । वहाँ प्रकट होकर आप साक्षात् मेरे ही स्वरूप श्रीमद्भागवतका गूढार्थ प्रकट करके उसका वास्तविक तत्त्व सबको समझा दीजिए जिससे भागवतके संबन्धमें फैला हुआ अपवाद समाप्त हो जाय और उसका शुद्ध अर्थ सभी भक्तोंको सुलभ हो जाय ।'

भगवान् गोपी-जन-वल्लभ श्रीकृष्णचन्द्रजीका यह आदेश मान-कर श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने श्रीलक्ष्मण भट्टजीकी साध्वी पत्नी श्रीमती इल्लमा देवीकी कोखसे जन्म लेकर केवल उनके ही कुलको नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्षको तथा संपूर्ण विश्वको ही पवित्र कर दिया ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने यह प्रतिज्ञा की थी :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

[जब-जब धर्मका ह्रास होगा और अधर्मका विलास होगा तब-तब मैं साधुओंकी रक्षाके लिये, पापियोंके विनाशके लिये तथा धर्मकी स्थापनाके लिये युग-युगमें अवतार लेता रहूँगा ।] उसी प्रतिज्ञाका

पालन करनेके लिये भगवान् निरन्तर अधर्मके नाशके लिये अवतार लिया करते हैं। यह अवतार वे चाहे स्वयं लें, चाहे अपने अंश-रूप किसी अपने प्रतिनिधिको भेज दें क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीतामें ही उन्होंने यह भी कहा है--

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगन्तव्यं मम तेजोंश-सम्भवम्॥

[संसारमें जितने भी लोग विभूतिमान्, श्रीयुक्त और ऊर्जस्वित् दिखाई पड़ते हैं उन सबको मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न समझो।] इस दृष्टिसे महाप्रभु निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके विग्रहावतार या अंशावतार ही थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

---:०:---

३

तृतीय अध्याय

महाप्रभुका बाल्यकाल

ऐसे विचित्र और विस्मयजनक रूपसे महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके अवतारकी कथा सुनकर भद्रपुरमें ठहरे हुए सभी सेवक तत्काल वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने सारा वृत्तान्त सेठ कृष्णदासको जा सुनाया। यह सुनते ही सेठ कृष्णदास भी हर्ष-विस्मित होकर दौड़े हुए वहीं जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने सूतिका-गृह आदिका निर्माण करके सब व्यवस्था करा दी। श्रीलक्ष्मण भट्टजीने विधिपूर्वक उस दिव्य बालकके जात कर्मादि सब संस्कार सम्पन्न करा दिए। उस समय जो ज्यौतिषी वहाँपर उस बालकके जन्म-नक्षत्रादि देखनेके लिये उपस्थित हुए थे उन्होंने ग्रह-गणनाका विचार करके अत्यन्त प्रसन्न होकर आह्लादपूर्वक कहा—'हे विप्र-श्रेष्ठ! आप बड़े भाग्यशाली हैं। आपका यह पुत्र साधारण मनुष्य नहीं है। स्वयं गोपाल-नन्दन ही आपपर अनुग्रह करके आपके घर अवतरित हुए हैं। हम सब भी इनके दर्शन करके अपनेको धन्य और पवित्र समझते हैं।' श्रीलक्ष्मण भट्ट भी विद्वान् ब्राह्मणों और ज्यौतिषियोंके मुखसे इस प्रकार अपने पुत्रकी भावी कीर्ति सुनकर मनमें बड़े प्रसन्न हुए और अपनेको कृत-कृत्य समझने लगे। ग्यारहवें दिन नामकरण संस्कारके

समय श्रीलक्ष्मण भट्टने यह समझकर उनका नाम वल्लभ रख दिया कि यह बालक सबका वल्लभ, सबका प्रिय होगा; विशेषतः समस्त विश्वमंडलके कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता गोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजीका वल्लभ या प्रिय होगा।

धीरे-धीरे वह बालक अपनी स्मृति, मधुर व्यवहार और क्रियाओं से सबको आनन्द प्रदान करने लगा। एक बार बचपनकी अवस्थामें श्रीवल्लभजी धीरे-धीरे घुटनोंके बल चलते हुए अपनी माताजीको कार्य-व्यस्त देखकर वहाँ रक्खा हुआ कुल मक्खन खा गए और शेष नवनीत उन्होंने पृथ्वीपर फेंक दिया। यह सब देखकर माता इल्लमा देवी वहाँ दौड़ी चली आईं और उन्होंने बालक वल्लभको बहुत डाँटा। इसके पश्चात् जब वे पुनः अपने काममें लग गईं तब वल्लभजी पुनः जलके बर्तनमें हाथ डालकर पानी हँडोलने लगे। यह सुनकर जब उनकी माताजी वहाँ आईं तो देखती क्या हैं कि मक्खन-का बड़ासा गोला उसमें तैर रहा है। वे हक्की-बक्की होकर खड़ी हो गईं, उनकी आँखें आश्चर्यसे खुलीकी खुली रह गईं।

इसी प्रकार एक दिन वल्लभजी अपने पिता लक्ष्मण भट्टजीके अध्ययन-कक्षमें प्रविष्ट होकर वहाँ रक्खे हुए अनेक शास्त्र-ग्रन्थोंको इधर-उधर फेंककर उनके बीचसे श्रीमद्भागवतकी पोथी खोलकर बाँचने लगे। उनके पिता जब लौटकर आए तब उन्होंने अत्यन्त विस्मय और कौतूहलके साथ देखा कि वह दिव्य बालक भागवतके दशम स्कन्धमें रास-क्रीडाका प्रकरण पढ़ रहा है।

इसी प्रकार एक दिन जब मध्याह्नमें सब घरके लोग भोजनादिसे निवृत्त होकर विश्राम कर रहे थे उस समय श्रीवल्लभजी अनेक

कोठरियोंको पार करके उस कक्षमें जा पहुँचे जहाँ भीतपर रास-क्रीडाका चित्र बना हुआ था। उसे देखते ही वे अनिमेष नेत्रोंसे भगवान् यशोदा-नन्दनका एकाग्रध्यान करते हुए इस प्रकार बैठ गए मानो पूर्व जन्मकी किसी स्मृतिको पुष्ट कर रहे हों। जब माता इल्लमा देवी उठीं तो श्रीवल्लभको वहाँ न देखकर व्याकुलताके साथ इधर-उधर ढूँढ़ने लगीं। चारों ओर कोलाहल मच गया कि श्रीवल्लभ कहाँ गए। इसी बीच सेठ कृष्णदासके सेवकने आकर सूचना दी कि घबरानेकी कोई बात नहीं है, वे तो भीतर चुपचाप बैठे हैं। श्रीलक्ष्मण भट्ट और देवी इल्लमागारुने आकर देखा कि वे चित्र-लिखितसे एकटक होकर भगवान् श्रीकृष्णकी रास-क्रीडाका दृश्य अत्यन्त तन्मयतासे इस प्रकार निहार रहे हैं मानो ये भी उसीके अङ्ग हों।

इस प्रकारकी अनेक बाल-लीलाओंसे अपने माता-पिताको प्रसन्न और सन्तुष्ट करते हुए श्रीवल्लभजी बड़े होने लगे। अवस्था प्राप्त होनेपर उनके पिताजी ने ही उन्हें विद्यारम्भ कराकर अक्षर-ज्ञान कराया और अक्षर-ज्ञान होनेके साथ-साथ उन्होंने भागवतका पाठ प्रारम्भ कर दिया। इससे पूर्व भी वे अपने पिताजीको भागवतका पाठ करते सुनते रहते थे। रास-क्रीड़ाका प्रसंग उनको इतना प्रिय था कि जब वे अपने साथी बालकोंके साथ खेलते भी रहते थे उस समय भी वे उन्हें भागवतका अर्थ बता-बताकर अन्तमें रास-क्रीडाका उपदेश देते थे और जब वे बालक अत्यन्त भक्तिभावमें मग्न होकर अपनी सुध-बुध भूलकर आनन्दके साथ भगवान्का नाम लेते हुए झूम-झूमकर नाचने लगते थे उस समय श्रीवल्लभ भी प्रेमातिरेकसे अपने नयनोंसे आँसू बहाते हुए उसका आनन्द लेते रहते थे।

इसी बीच एक बड़ी विचित्र घटना हुई। सेठ कृष्णदासने

श्रीलक्ष्मण भट्टको जो अत्यन्त सुलक्षणी गौ प्रदान की थी वह सहसा पंचत्वको प्राप्त हो गई। उसके इस असामयिक और आकस्मिक अवसानसे सारा परिवार खिन्न और दुखी हो उठा। यह देखकर श्रीवल्लभजी सहसा उठे और गोशालामें पहुँचकर उस गौके सिरपर हाथ फेरने लगे। उनके कोमल कर-कमलका कमनीय स्पर्श पाकर वह गौ सहसा इस प्रकार उठकर खड़ी हो गई मानो सोकर जागी हो। इस आश्चर्य-जनक घटनाको देखकर सब लोग दाँतों तले उँगली दबाकर खड़ेके खड़े ही रह गए और सबको विश्वास हो गया कि हो न हो यह अवश्य कोई असाधारण बालक है।

इस प्रकार अनेक बाल-लीलाएँ करते हुए जब श्रीवल्लभजी सात वर्षके हुए तब उनके पिताजीकी इच्छा हुई कि इस बालकका उपनयन संस्कार अपने देशमें चलकर किया जाय। किन्तु सेठ कृष्णदासके विनीत आग्रहपर उन्होंने काशीमें ही उनका व्रतबन्ध और उपनयन करनेका निश्चय किया। बड़ी धूम-धामसे अत्यन्त विधि-पूर्वक स्वयं श्रीलक्ष्मण भट्टजीने उन्हें सावित्री मन्त्रका उपदेश दिया और काशीके बड़े-बड़े पंडितोंको बुलाकर श्रीवल्लभजीको उनके हाथमें अध्ययनके लिये सौंप दिया। उन प्रतिष्ठित विद्वानोंमें परम वैदिक श्रीविष्णु उपाध्यायजी ही कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाध्यायी थे इसलिये वेदके अध्यापनका भार उन्हींको सौंपा गया। उन्होंने तैत्तिरीय शाखाके अनुसार कृष्ण-यजुर्वेद उन्हें पढ़ा दिया और फिर ऋग्वेद तथा अन्य वेद उन-उन वेदोंके आचार्योंसे अध्ययन करके उन्होंने सब वेदों, वेदाङ्गों और शास्त्रोंमें पूर्ण गति प्राप्त कर ली। अपनी प्रखर मेधा तथा स्वाभाविक बुद्धि-वैभवके कारण उन्होंने थोड़े ही समयमें

पंडित-समाजमें अत्यन्त सम्माननीय स्थान प्राप्त कर लिया। उनके पिता श्रीलक्ष्मण भट्टने अपने पुत्रका यह अद्वितीय पांडित्य देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर शुभ मुहूर्तमें उन्हें 'श्रीकृष्णः शरणं मम' महा-मन्त्रका उपदेश दे दिया।

थोड़े दिनोंके पश्चात् सहसा श्रीलक्ष्मण-भट्टके मनमें यह विचार आया कि मैंने संसारका समस्त वैभव पा लिया, सोमयाजियोंके कुलमें जन्म लेकर मैं पवित्र-जन्मा हुआ, मैंने स्वयं सोमयज्ञ किए, भगवान्‌का दर्शन किया, भगवान्‌की ही कृपासे मैंने ऐसा पंडित और धार्मिक पुत्र प्राप्त किया, अब मेरे लिये क्या प्राप्य रह ही गया है। इसलिये अब अधिक जीवन धारण करनेसे क्या लाभ है? क्यों न मैं भी वैकुंठवासी भगवान्‌का अनन्य सेवक बनकर उन्हींके लोकमें शाश्वत निवास करके नित्य मोक्ष प्राप्त कर लूँ। इस सम्बन्धमें वे अपने इष्टदेवका आदेश प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषासे ज्योंही एक दिन पूजापर बैठे कि उन्हें दिव्य वाणीमें भगवान्‌का आदेश मिला—'हे लक्ष्मण भट्ट! तुम्हारे कुलमें मैं ही वल्लभके रूपसे आविर्भूत हुआ हूँ। तुम्हारी सेवासे भी मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। लोक-कल्याणका समस्त कार्य श्रीवल्लभ करेंगे ही और मेरा अनुग्रह प्राप्त किए हुए भक्तोंका पृथ्वीतलपर उपकार करके तुम्हारी कीर्ति अक्षय करेंगे। इसलिये अब मर्त्यलोकमें तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। वैकुंठ-लोकमें तुम्हारा स्वागत है। यहाँ आकर अपने पुण्यों-का और सुकृतोंका दिव्य भोग करो।'

स्वयं भगवान्‌का यह अशरीरी आदेश सुनकर और अत्यन्त

आदरके साथ उसे स्वीकार करके उन्होंने अपनी साध्वी पत्नी श्रीइल्लमा देवी और अपने पुत्र श्रीवल्लभको भगवान्‌का यह दिव्य आदेश कह सुनाया। अपने वैकुंठ गमनका समय समीप जानकर उन्होंने अपने सर्वगुण-सम्पन्न ब्रह्मवर्चस्वी पुत्र श्रीवल्लभसे कहा—'वत्स श्रीवल्लभ! मैं तुम्हें लोक-कल्याणके लिये अवतीर्ण साक्षात् गोकुलनाथ ही मानता हूँ। फिर भीलौकिक दृष्टिसे अपना अनुभव और अपने ज्ञानके अनुसार संचित किया हुआ जो कर्तव्य और व्यवहार बता रहा हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुन लो। यह संसार अनेक प्रकारके प्रलोभनोंसे भरा हुआ प्रचंड मोहका केन्द्र है। पग-पगपर इसमें ऐसे-ऐसे प्रलोभन मिलते हैं कि अत्यन्त धैर्यशील व्यक्ति भी मोहग्रस्त हो कर पथ-भ्रष्ट हो जाता है। इसलिये सदा इस बातका ध्यान रखना कि किसी प्रकारका भी प्रलोभन तुम्हारे मनको कभी विचलित न करे, क्योंकि धैर्यशाली व्यक्ति वही है जो विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी अपना मन विकृत न होने दे। विशेष रूपसे ब्राह्मणको सदा शांतमना, परोपकारी और ज्ञानशील होकर रहना चाहिए। ब्राह्मणके लिये शास्त्रका उपदेश है—'यावज्जीवमधीते विप्रः।' ब्राह्मणको जीवनभर अध्ययन करना चाहिए। जो व्यक्ति ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेकर द्रव्य-लोलुप और भोगी होता है, अपने शरीरसे दूसरोंका उपकार नहीं करता, वह ब्राह्मण-कुल-कलंक है। आजका युग और भी भयंकर इसलिये है कि यवन-लोग बल-पूर्वक लोगोंको धर्मच्युत करके उन्हें मुसलमान बना रहे हैं, गो-ब्राह्मणका संहार कर रहे हैं। ऐसी स्थितिमें सर्व-सुलभ भक्ति-मार्गका जो प्रचार स्वयं भगवान्‌ने किया है उसका उद्धार करके लोकका कल्याण करो। यों तो सब कुछ भगवान्‌के ही हाथ है किन्तु मेरी यह मंगल कामना है कि भगवान् तुम्हें इस सत्कर्मके लिये प्रेरित करें।'

अपने पुत्र श्रीवल्लभजीको यह उपदेश देकर उन्होंने अपनी धर्मपत्नी श्रीइल्लमा देवीजीको सम्बोधित करते हुए कहा—'देवि ! हम-तुम दोनों कृत-कृत्य हो गए हैं कि हमें ऐसा सुयोग्य पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। तुम अभी अपने पुत्रका भाग्योदय देखना चाहती हो, इसलिये तुम्हें मेरे साथ चलनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम दोनोंके वियोगमें श्रीवल्लभको कष्ट होगा। इसलिये अपनी मनोकामना पूर्ण होनेपर ही तुम वैकुण्ठ-लोकमें आना।

इस प्रकार सबको यथा-शक्ति उपदेश देकर श्रीलक्ष्मणभट्टजीने ऐसी समाधि लगाई कि वे फिर उठे नहीं और वैकुंठ-लोकको प्राप्त हो गए। 'अनायासेन मरणं विना दैन्येन जीवनम्।' [अनायास मृत्यु और बिना दैन्यका जीवन] किसी-किसी भाग्यशालीको प्राप्त होता है। श्रीलक्ष्मण भट्टके वैकुंठ-वास होनेपर श्रीवल्लभने उनके सब और्ध्वदैहिक कृत्य बड़ी श्रद्धाके साथ पूर्ण किये।

अपने समादरणीय पिताजीके गोलोकवासके पश्चात् एक वर्षके भीतर अपने पाण्डित्यके कारण उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी। वे काशीमें घूम-घूमकर बड़े विचित्र ढङ्गसे अपने नवीन ब्रह्मवादका उपदेश देते रहे। विद्वानोंके घरोंके सामने यानपर, नौकापर, शास्त्रार्थ-के स्थानोंपर, गंगाजीके घाटोंपर जहाँ भी होता वहाँ वे अपने ब्रह्म-वादकी चर्चा छेड़ देते। इस प्रकार काशी भरमें उन दिनों जहाँ देखो वहीं उनके ब्रह्मवादकी धूम थी। इतना हो चुकने पर उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब काशीसे बाहर भी इस ब्रह्मवादका प्रचार करना चाहिए।

वर्षभर अपने पिताजीके सब कृत्य करके उनके मनमें स्वदेश

जानेकी इच्छा जागरित हुई। यह सुनकर सेठ कृष्णदासको बड़ा कष्ट हुआ और उन्होंने श्रीवल्लभजीसे कहा—'हे गुरुपुत्र! आपके पिताजी तो हम सब लोगोंको अथाह दुःख-सागरमें निमग्न छोड़कर वैकुंठ चले गए हैं। अब आपको देखकर ही हमें उन्हींका प्रतिबिम्ब दर्शन प्राप्त होता है इसलिये हम उनके वियोगपर सन्तोष किए रहते हैं। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के सिद्धान्तके अनुसार आप स्वयं उनके प्रतिरूप हैं इसलिये आप कृपा करके यहीं निवास कीजिए।' सेठ कृष्णदासका ऐसा करुण आग्रह सुनकर दयालु श्रीवल्लभजीने उनसे कहा—'सेठजी! अब यहाँ रहने और निवास करनेमे क्या लाभ है। मुझे तो चारों ओर घूम-घूमकर अज्ञानके अन्धकारमें पड़े हुए लोगोंको ज्ञानका उपदेश देना है, भगवान्‌की भक्तिका मार्ग प्रशस्त करना है, स्थान-स्थानपर भगवान् गोपाल-नन्दनकी मूर्तियाँ स्थापित करनी हैं। इसलिये मुझे जानेकी आज्ञा देकर आप भी मिथ्या मोह छोड़कर रात-दिन भगवान् गोकुलनाथकी सेवा कीजिए। इसीसे आपको आनन्द मिलेगा। मैं भी समय-समयपर आपको दर्शन देकर सन्तुष्ट करता रहूँगा।' विचारशील सेठ कृष्णदास भी उनकी ये सब बातें सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्हें बहुत धन देकर तथा अनेक सेवक उनके साथ करके उन्हें विदा देकर भक्ति-पूर्वक भगवान् गोकुलनाथकी सेवामें तल्लीन हो गए।

वहाँसे अपनी माताजीके साथ श्रीवल्लभ प्रयागके मार्गसे चित्रकूट तथा भृगुतुङ्ग होते हुए चम्पारण्य पहुँच गए जहाँ वे स्वयं आविर्भूत हुए थे। वहाँ महानदीके किनारे अपने शिष्यों-द्वारा बनाई हुई वेदीपर बैठकर उन्होंने महाभागवतका पारायण किया, अपने शिष्योंके लिये

कुआँ खुदवा दिया और भगवान् गोपी-वल्लभ श्रीकृष्णके वसन्तोत्सवके लिये वहीं हिंडोल-महोत्सव भी मनाया। इस प्रकार उन्होंने अपने जन्म-स्थानके निवासियोंको अपने दर्शन और भक्तिभावसे तृप्त कर दिया। चम्पारण्यका मार्ग आजकल नागपुरसे रायपुर और रायपुरसे राजिम जाकर वहाँसे लगभग चार मील या दो कोस पड़ता है।

४

चतुर्थ अध्याय

कनकाभिषेक

काशीसे चलकर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी स्थान-स्थानपर भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिका प्रचार करते हुए राजाओं, धनिकों, भूमिपतियों, व्यापारियों तथा साधारण जनोंके हृदयमें भक्ति-भावनाका संचार करते हुए उन्हें अष्टाक्षर मंत्र 'श्रीकृष्णः शरण मम' का उपदेश देते रहे और श्रीगोकुलनाथजीकी सेवाका उपाय, रहस्य और भेद बताते रहे।

जब श्रीवल्लभजी अपने पूर्वपुरुषोंके ग्राम काकुंभकर (काँकरवाड़) में पहुँचे तो वहाँ आनन्दोल्लासकी लहर दौड़ गई। उनके दर्शनके लिये सारा गाँव उमड़ पड़ा। ग्रामके निवासियोंने अत्यन्त स्नेह और भक्तिके साथ उनका भव्य स्वागत किया और उनके सभी संबधियोंने बड़े प्रेम और आत्मीयताके भावसे उनका स्वागत-सत्कार किया। उनके बड़े भाई श्रीरामकृष्ण दीक्षित तो अपने अनुजकी प्रतिभा और विद्वत्तासे द्रवित होकर प्रेमाश्रु बहाने लगे। उन्होंने सब लोगोंको महाप्रभु-श्रीवल्लभाचार्यजीके गुणोंका जो परिचय दिया उसे सुनकर सब अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्य-चकित होकर अपनेको गौरवान्वित समझने लगे। इस प्रकार अपने आत्मीय बन्धु-जनोंके

बीच रहकर श्रीमद्वल्लभाचार्यजी चारों ओर अपने पांडित्य, ज्ञान और भक्ति-भावका प्रचार करके वहाँके विद्यामय वातावरणको और भी अधिक सरस बनाने लगे।

उस प्रदेशमें पहलेसे ही संस्कृत भाषा तथा प्राचीन विद्याओंके अनेक महाविद्यालय विद्यमान थे, जहाँ अनेक विद्याधुरीण विद्वान् अनेक शास्त्रोंका अध्यापन और उपदेश करते रहते थे। जब उन्हें श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके इस अप्रतिम यशका समाचार मिला तो उनके मनमें ईर्ष्या और असूयाकी ऐसी प्रचण्ड ज्वाला प्रज्वलित हुई कि वे सब श्रीमद्वल्लभाचार्यजीसे शास्त्रार्थ करनेपर उतारू हो उठे और उनके यहाँ आ उपस्थित हुए। किन्तु उन अहम्मन्य पंडितोंमेंसे कोई एक भी ऐसा विद्वान् न निकला जिसे महाप्रभुने अपनी विद्वत्ता और प्रगाढ पांडित्यसे पराजित करके पछाड़ न दिया हो। इस शास्त्रार्थके पश्चात् तो श्रीमद्वल्लभाचार्यजीकी विद्या और उनके पांडित्यकी यशःदुन्दुभि बड़े वेगसे संपूर्ण दक्षिणापथमें बज उठी। अपने योग्य भतीजेकी ऐसी अलौकिक बुद्धि, मेधा और वाक्शक्ति देखकर उनके चाचा जनार्दन दीक्षितको इतना सन्तोष और आनन्द हुआ कि वे गद्गद हो उठे और उन्हें विश्वास हो गया कि हमारे सम्पूर्ण कुलका उद्धार करनेवाले श्रीमहाप्रभुने हम सबका यश तो बढ़ाया ही, हमारा कुल भी पवित्र कर दिया और हमारे पूर्वपुरुषोंको भी तार दिया।

विद्यानगर (वर्तमान विजयनगरम्)-वासी उनके मामाने अपनी बहिन (महाप्रभुकी माताजी) तथा भानजे श्रीवल्लभजीको बुला लानेके लिये किसी आदमीको भेजा। उसने सूचना दी कि तुंगभद्राके तटपर स्थित विद्यानगरके राजा श्रीकृष्णदेव राय बड़े धार्मिक हैं

और विद्वानोंका समुचित आदर करते हैं। वे प्रतिदिन विभिन्न शास्त्रोंमें पारंगत विद्वानोंको बुला-बुलाकर उनसे शास्त्र-चर्चा सुनते रहते हैं तथा उनकी विद्याके अनुरूप उनका समादर और सम्मान भी करते हैं। इस समय वे धर्म-सम्मेलन करके सब सम्प्रदायोंके मुख्य आचार्योंको बुलाकर यह निर्णय कराना चाहते हैं कि कौन-सी धर्मोपासना अधिक श्रेयस्कर है। तदनुसार दक्षिणापथके अनेक सम्प्रदायोंके पारंगत विद्वान् अपने-अपने मतोंका पोषण करनेके लिये वहाँ एकत्र हुए हैं। अतः, आप भी वहाँ पहुँचकर अपने विद्याका चमत्कार प्रदर्शित कीजिए क्योंकि आपनी तो सिद्धपीठ काशीमें रहकर सब शास्त्रोंका अध्ययन किया है। अब उस अध्ययनकी सफलताके परीक्षणका यही अवसर है अन्यथा शास्त्रोंके अध्ययनमें समय लगानेका कोई अर्थ नहीं होगा।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने यह वृत्तान्त सुना तो मनमें बड़े प्रसन्न हुए और सोचने लगे कि अखंड-ब्रह्मांड-नायक भगवान् श्रीकृष्णजीकी उपासनाका मार्ग प्रशस्त करनेके निमित्त पुष्टि-मार्गका प्रसार करनेका यह स्वर्ण-सुयोग प्राप्त हो गया है। कौन जाने इसी कार्यके लिये भगवान्की प्रेरणासे मैं यहाँ पहुँच गया हूँ। यदि मैं दक्षिणा-पथके विद्वानोंको अपने मतसे सन्तुष्ट कर सकूँ तो निश्चय ही भक्ति-मार्ग-का द्वार सबके लिये सुलभ हो जायगा। यह विचारकर उन्होंने अपनी माताजीसे विद्यानगर जानेकी बात छेड़ी। वे भी बहुत दिनोंसे अपने भाईसे नहीं मिल पाई थीं। इसलिये उनको भी स्वयं बड़ी उत्सुकता थी। उन्होंने तत्काल समर्थन करते हुए कहा—'वत्स! यद्यपि मैं तो संसारके किसी बन्धनमें बँधी हुई नहीं हूँ, न मुझे किसी प्रकारकी आकांक्षा या ममता ही रह गई है तथापि

गिरिवरपर समवस्थित भगवान् श्रीवेंकटेशके दर्शनोंकी बड़ी प्रबल लालसा है। साथ ही तुम भी अपने पिता-द्वारा संकल्पित दक्षिणा-पथकी यात्रा करके उनके ऋणसे उऋण हो जाओगे। एक पन्थ दो काज सिद्ध होंगे।'

अपनी आदरणीया माताजीकी यह सात्त्विक और दिव्य इच्छा सुनकर श्रीमद्वल्लभाचार्यजी बड़े सन्तुष्ट हुए। उन्होंने झट अपने चाचा श्रीजनार्दन दीक्षितसे सहायताकी याचना की। तदनुसार उन्होंने साथमें कई सेवक लगाकर यात्राके लिये बैलगाड़ीकी व्यवस्था कर दी। सब व्यवस्था हो चुकनेपर मंगल मुहूर्तमें श्रीमद्वल्ल-भाचार्यजी अपनी माताजीके साथ विद्यानगर जानेके लिये अपने घरसे चलते हुए अपने चाचाजीसे बोले—'पूज्य चाजाजी ! यद्यपि मैं आपका भतीजा हूँ और अपने पिताजीके द्वारा अर्जित सम्पत्तिके दाय-भागका अधिकारी भी हूँ तथापि संसारमें मेरी कोई रुचि नहीं है। मेरे मनमें किसी प्रकारका लोभ या मोह भी नहीं है। मैं तो भगवान्‌की आराधना करना, श्रीमद्भागवतका पाठ करके सब लोगों-को भक्ति-मार्गका उपदेश देना और उसका प्रचार करना ही अपना कर्तव्य समझता हूँ। मेरा निवेदन है कि इस देवालयमें विद्यमान श्रीशालग्रामजीकी बटिया और श्रीमद्भागवतकी पुस्तक आदि आप मुझे प्रदान करनेकी कृपा करें तो मैं आपका जीवन-भर आभारी रहूँगा।' जब उन्होंने इतना कहकर मौन धारण कर लिया तब उनकी माता श्रीइल्लमा देवीने श्रीजनार्दन दीक्षितजीसे कहा कि 'एक मेरी भी याचना है। भगवान् गोपालनन्दनकी यह सुन्दर मूर्ति आप मुझे देनेकी उदारता प्रकट कीजिए।'

अत्यन्त उदार-हृदय श्रीजनार्दन दीक्षित अपने भतीजे श्रीमद्वल्लभाचार्यजी तथा अपनी भ्रातृ-जाया श्रीइल्लमादेवीकी बात सुनकर हर्ष-विभोर हो गए और बोले—'वत्स वल्लभ ! इस शालग्राम शिलाकी अर्चना स्वयं ब्रह्माने की है और यह साक्षात् भगवान्के श्रीमुखसे उत्पन्न हुई है। यह भागवतकी पुस्तक हमारे पूर्वज श्रीगोविन्दाचार्यजीकी है और यह श्रीमुकुन्दजीकी मूर्ति श्रीगोविन्दाचार्यजीने और श्रीबाल-कृष्णकी मूर्ति श्रीविष्णु मुनिने दी है। ये मदन-मोहनजी तो साक्षात् यज्ञकुंडसे ही उत्पन्न हुए हैं। इसलिये इन सबकी रक्षा बड़े प्रयत्नसे करनी चाहिए क्योंकि ये ही तो हम वैष्णव लोगोंके सर्वस्व हैं, शेष सब कुछ तो केवल उदर-पालनके लिये है। तुम हमारे कुलके गौरव हो और परम भागवत हो। तुम वैष्णव धर्मका प्रचार करके हमारे पूर्वजोंका यश उज्ज्वल करो।' यह कहकर जो-जो कुछ उन्होंने माँगा था सब उन्हें देकर बड़े स्नेहातिरेकके साथ विदा किया।

सब अभिलषित प्रसाद पाकर श्रीवल्लभाचार्यजी अपने चाचाजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आशीर्वादसे प्रोत्साहन पाकर अपनी माताजीके साथ विद्यानगर की ओर चलनेको उद्यत हो गए। जब उनके और उनके पिताजीके शिष्योंने सुना कि श्रीवल्लभाचार्यजी शास्त्रार्थके लिये विद्यानगर जा रहे हैं तब तो वे सब भी उनकी सेवाके लिये तत्काल वहाँ आ पहुँचे। उस समय सिद्धपदसे आए हुए केतु-कमंडलु और लकुटालोकि नामक उनके पिताजीके विरक्त शिष्य भी वहाँ आ पहुँचे जिन्हें श्रीवल्लभजीने सबकी रक्षाके लिये नियुक्त कर दिया। शंभुभट्टको रसोईघरका काम सौंपा गया। स्वभू और

स्वयम्भू नामके दो शास्त्रार्थ-कुशल शिष्योंको शास्त्रार्थका काम दिया तथा वाराणसीसे आए हुए गौड तथा गुर्जर शिष्योंको उनके योग्य परिचर्याके कामोंमें नियुक्त कर दिया। इसके पश्चात् भगवान् अनन्तशयन और मुकुन्दजीको ताँबेकी पिटारीमें रखकर श्रीवल्लभजी स्वयं अपने सिरपर रखकर चले और महाभागवतका विशाल ग्रन्थ उनके परम प्रिय शिष्य दामोदर लेकर चले।

मार्गमें जहाँ-जहाँ उन्होंने डेरा डाला वहाँ-वहाँके निवासी लोगों-ने आ-आकर बड़ी श्रद्धासे इनका आदर-सत्कार किया और इनका भक्ति-पूर्ण प्रवचन सुनकर अत्यन्त तृप्त हुए। श्रीवल्लभजी बड़े प्रेमसे नित्य श्रीमदनमोहनजी और श्रीशालग्रामजीकी बड़े आदरसे सेवा और पूजा करते रहे और प्रतिदिन सब पाक बनाकर पहले भगवान्‌को निवेदन करते रहे फिर अपने सब शिष्योंको प्रसाद बाँट देते रहे। उनकी यह भोग लगानेकी परम्परा श्रीवल्लभ सम्प्रदायके अनुयायियोंमें आजतक ज्योंकी त्यों चल रही है अर्थात् वे जो ग्रहण करते हैं सब भगवान्‌का प्रसाद मानकर ग्रहण करते हैं। उनका नियम ही यह है कि हम भगवान्‌को भोग लगाकर ही अपने जीवन-की रक्षा करेंगे।

इस प्रकार मार्गमें स्थान-स्थानपर विश्राम करते हुए वे कुछ ही दिनोंमें वेंकटाद्रि पहुँच गए। वहाँ नीचे तलहटीमें संस्थापित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी पूजा करके छह पहाड़ियोंको लाँघकर वे बालहरि-का दर्शन करने पहुँचे। वहाँ उन्हें प्रणाम करके भेंट देकर और उनका चरणामृत लेकर श्रीवल्लभजी और उनकी माताजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। जिस समय श्रीवल्लभाचार्यजीने वेंकटाद्रि पहुँचकर वेंकटेश भगवान्‌को प्रणाम किया उसी समय उनकी माता इल्लमा

देवीजी आश्चर्यके साथ देखती क्या हैं कि उनके पति श्रीलक्ष्मण भट्ट भगवान्‌के मुखारविन्दमें प्रवेश कर रहे हैं। यह बात जब अगले दिन उन्होंने अपने पुत्र श्रीवल्लभजीसे कही तो उन्होंने मन्द मोहक मुस-कानके साथ कहा—'माताजी! हमारे पिताजी कृत्य-कृत्य हो गए। वे निरीह थे, उनके मनमें कोई इच्छा या वासना नहीं रह गई थी। इसलिये वे तो भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो गए हैं। मनुष्य-देहके पार मनुष्यको जो कुछ करना चाहिए वह सब उन्होंने पूर्ण कर दिया।' इल्लमा देवीने अपने पितृ-भक्त पुत्र श्रीवल्लभके इन वचनों-कों सत्य मानकर अपने भाग्यकी भूरि-भूरि सराहना की। इसके पश्चात् कुछ दिन वहीं ठहरकर श्रीवल्लभजी वैष्णव सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अनुशीलन करते रहे और इस प्रकार थोड़े ही दिनोंमें श्रीवल्लभजी अपनी माताजी तथा अन्य अनुयायियोंके साथ वेंकट गिरिपर श्रीलक्ष्मण बालाजीके दर्शन करके तुंगभद्रा नदीपर स्थित विजयनगर जा पहुँचे। विजय नगर पहुँचनेसे पूर्व ही उन्होंने अपने मामाजीको अपने पहुँचनेका समाचार कहला दिया था। उन्होंने भी अपनी बहन और भानजेके शुभागमनका समाचार सुनकर अत्यन्त हर्षाकुल होकर स्वयं बन्धु-बान्धवोंके साथ आगे आकर उनका स्वागत किया और उन्हें अपने घर ले जा पहुँचाया। वहाँ जब वे विधिपूर्वक अपने उपास्य देवताकी पूजा करके और प्रसाद लेकर बैठे तो उन्होंने विजयनगरके गुणज्ञ राजा कृष्णदेवकी सभामें होनेवाले शास्त्रार्थकी बात सुनी जिसमें राजा कृष्णदेवने घोषणा की थी कि मैं सब धर्म-वालोंके आचार्योंका शास्त्रार्थ कराकर यह निर्णय कराना चाहता हूँ कि कौन-सा धर्म, सम्प्रदाय या वाद ठीक है जिससे मैं भी उसका अनुयायी बनकर अपना जीवन उसीके अनुसार वहन करूँ। यह शास्त्रार्थ कई दिनोंसे निरन्तर हो रहा था और यह निर्णय नहीं हो पा

रहा था कि कौन-सा सिद्धान्त या मत वास्तवमें श्रेष्ठ है। उस शास्त्रार्थ-में कभी शैव, कभी वैष्णव अथवा कभी अन्य सिद्धान्तवाले विजयी होते थे। उन दिनों भगवान् शंकराचार्यजीके केवलाद्वैत या माया-वादका बड़ा प्रचार था। उस केवलाद्वैतके बड़े-बड़े दिग्गज पंडित उन दिनों दक्षिणमें विद्यमान थे। उन्हींका चारों ओर बोलबाला भी था। फलतः इस शास्त्रार्थमें भी उन्हीं पंडितोंकी धूम थी और प्रायः सभीको यह विश्वास हो चला था कि अन्तमें भगवान् शंकराचार्यजीके केवलाद्वैतकी ही विजय होगी।

यह सब समाचार सुनकर महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य बड़े क्षुब्ध हुए और उन्होंने निश्चय किया किया कि भगवान् गोपालनन्दनके पुष्टिमार्गके प्रचारका इससे अच्छा कोई दूसरा अवसर नहीं होगा। अतः, उन्होंने अगले दिन उस शास्त्रार्थमें पहुँचनेका निश्चय कर लिया और अपने सभी पार्श्वचरोंको इस बातकी सूचना भी दे दी।

अगले दिन जिस समय ये राजसभामें पहुँचे तो इनका तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वयुक्त, विद्यादीप्त मुखमंडल देखते ही सभी पंडित संभ्रमके साथ उठ खड़े हुए और उन्हें राजाने स्वयं उच्च आसनपर प्रतिष्ठित कर दिया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने स्वाभाविक मृदु, मन्द तथा सुस्पष्ट कोमल स्वरमें पूछा—'कहिए, किस विषयपर वाद-विवाद हो रहा है?' महाप्रभुको बताया गया कि 'इस शास्त्रार्थमें यह निर्णय करना है कि कौन सा मत, धर्म, सम्प्रदाय या वाद सर्वश्रेष्ठ है। यदि आपकी इच्छा हो तो आप भी अपना पक्ष स्थापित कर सकते हैं।' फिर क्या था, अद्वैतवादपर तो विचार हो ही रहा था। इन्होंने अपने पुष्टिमार्गके सिद्धान्तके अनुसार अपने ब्रह्मवादका पक्ष

लेकर अत्यन्त पांडित्यपूर्ण शैलीमें अपने प्रति-पक्षियोंके एक-एक तर्कका सयुक्तिक प्रतिवाद करते हुए जब अपने विशुद्धाद्वैत-परक ब्रह्मवादकी स्थापना की तो वहाँके सम्पूर्ण पंडित-समाजमें खलबली मच गई। सबने अपने-अपने कौशलसे शास्त्रार्थ चलाया ता सही, किन्तु थोड़े ही समयमें सारा पंडित-समाज मौन हो गया। वहाँ केवलाद्वैत सिद्धान्तवाले मायावादी तथा अन्य सम्प्रदायोंके व्याख्याता जितने पंडित एकत्र थे सबने अपना पराजय स्वीकार कर लिया और सबने मिलकर उन्हें आचार्यकी पदवीसे विभूषित कर दिया। कई दिनोंसे चले आते हुए शास्त्रार्थकी इतिश्री हो गई। इस निर्णयसे संतुष्ट होकर राजा कृष्णदेवने घोषणा की कि इस विजयके उपलक्ष्यमें महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका कनकाभिषेक होगा और उसी दिव्य विजयके कारण ही तत्काल उन्हें महाप्रभुकी भी पदवी देकर राजा कृष्णदेवने अपना गौरव बढ़ाया। राजा कृष्णदेव इतने हर्ष-विह्वल हो गए कि शास्त्रार्थके अन्तमें वे साष्टांग इनके चरणोंपर गिर पड़े और उन्होंने इन्हें अपना गुरु मान लिया।

अगले दिन विजयनगरके राज कृष्णदेवके राज-प्रासादके प्रांगणमें कनकाभिषेकका उत्सव देखनेके लिये नगरवासियोंकी इतनी भारी भीड़ एकत्र हो गई कि कहीं तिल धरनेको स्थान नहीं बचा क्योंकि कनकाभिषेक केवल वहींके लिये नहीं, भारतके लिये नई बात थी। पहले कभी किसी स्थानपर किसीका कनकाभिषेक नहीं हुआ था इसलिये धूम-धाम और भी अधिक बढ़ गई थी। उस प्रांगणमें अत्यन्त विस्तीर्ण, बहुरंगा, विशाल पट-मंडप ताना गया और अत्यन्त कलात्मक रूपसे भारतीय मंगल द्रव्योंसे उसकी सज्जा की गई। चारों ओर आम्र-पल्लव, अशोक-पल्लव तथा पुष्पोंकी मालाएँ टँगी हुई थीं। राजा कृष्णदेव राजसी ठाट-बाटके साथ ज्यों ही उस मंडपमें

पधारे त्यों ही चारों ओर शान्ति स्थापित हो गई। अनेक विद्वान् और पण्डित आ-आकर अपने-अपने आसनपर विराजमान हो गए। सबके उपस्थित हो जानेपर राजा कृष्णदेवने अपने पुरोहित और पण्डितोंके साथ चतुरंग सेना देकर महाप्रभु श्री-वल्लभाचार्य को सम्मानके साथ लिवा लानेके लिये अपनी राज-पालकी भेजी।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी अपना सब आह्निक कृत्य करके अपने शिष्योंके साथ बात कर ही रहे थे कि राजा कृष्णदेवके भेजे हुए पंडित, प्रधानामात्य तथा राजपुरुष वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने निवेदन किया कि राज-शिविका आपके कृपारोहणके लिये प्रतीक्षा कर रही है। इसपर महाप्रभु बोले—मैंने कलके शास्त्रार्थमें जो कुछ विजय प्राप्त किया है इसका श्रेय वैकुण्ठनाथ भगवान् गोपालनन्दनको ही है। इसलिये इस शिविकापर तो उन्हें ही पधराऊँगा और हम सब उनके सेवक बनकर अपने पैरोंपर ही अभिषेकके स्थान-पर चलेंगे। उचित समयपर श्रीवल्लभाचार्यजीने स्वयं उठकर भगवान् मदनमोहन-जीको उस शिविकामें स्थापित किया। बाजे बज उठे और श्रीवल्लभा-चार्यजी अपनी माताजीके चरणोंमें प्रणाम करके उस शिबिकाके पीछे-पीछे राज-मार्गसे होते हुए राज-प्रासादकी ओर चल पड़े। मार्गमें स्थान-स्थानपर वहाँके नगर-निवासी उनकी पूजा करते, उनपर फूल बरसाते और उनकी आरती उतारते थे। इस प्रकार सबका सत्कार प्राप्त करते हुए भगवान् वल्लभाचार्यजी अभिषेक-मंडपमें जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही राजा कृष्णदेव स्वयं उठकर द्वारतक पहुँचे और उनका अभिनन्दन करके राज्य-चिह्न (चत्र, चामर) देकर स्वयं अकेले उनके पीछे भृत्यके समान चलने लगे। श्रीवल्लभाचार्यजीने वह सब सत्कार

स्वीकार करके कोमल रेशमी वस्त्रसे ढके हुए मार्गपर चलकर उस मंडपमें प्रवेश किया जहाँ उन्हें अत्यन्त उच्च और सम्माननीय स्थान-पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। राजा कृष्णदेव स्वयं अपने हाथमें चँवर लेकर उनपर डुलाने लगे।

इतना उपचार हो चुकनेपर जब सभामें पूर्ण शांति व्याप्त हो गई तब महाप्रभुका संकेत पाकर उनके शंभु नामक शिष्यने उठकर ऊँचे स्वरसे कहना प्रारम्भ किया—'सज्जनो! महाप्रभुने अपनी ओरसे मुझे यह निवेदन करनेका आदेश दिया है कि कलके शास्त्रार्थमें यदि मेरे मुखसे कोई कठोर या अनुचित बात निकली हो तो उसके लिये क्षमा कीजिएगा। यदि अब भी किसी प्रकारकी शंका आप लोगोंके हृदयमें बच रही हो तो उसे भी प्रस्तुत करनेका कष्ट कीजिएगा जिससे मैं उसका उचित निराकरण कर सकूँ।'

चारों ओरसे समवेत कोलाहल हुआ—'कोई शंका नहीं रही, कोई शंका नहीं रही।'

इसके पश्चात् वहाँ उपस्थित सभी विद्वान् पंडित कहने लगे—'आचार्य-चरण! आप तो साक्षात् भगवान् यशोदानन्दनके अंश-संभूत हैं। यही कारण है कि इतनी छोटी अवस्थामें ही आपमें इतनी विद्या और विद्याके साथ इतना विनय विद्यमान है। भला आपके मुखसे क्या कोई अनुचित बात निकल सकती है और यदि निकली भी हो तो वह हमारे कल्याणके लिये ही होगी। विजयनगरके महाराजने आपका कनकाभिषेक करनेका जो संकल्प किया है उसका हम लोग हृदयसे अभिनन्दन करते हैं।'

वहाँ उपस्थित सभी सदस्यों और पण्डितोंके ऐसे उत्साह-जनक

वचन सुनकर राजा कृष्णदेव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्होंने सबसे कहा कि आप सब लोग मंडपमें विराजमान हो जाइए। श्रीमद्-वल्लभाचार्यजी अपनी मंडलीके साथ श्रीमदनमोहनजीको लेकर अभिषेकके निमित्त वेदीपर पहुँच गए और बड़े धूमधामसे वैदिक विधिके साथ अभिषेक-महोत्सव प्रारम्भ हो गया। सर्वप्रथम राजा कृष्णदेवने अनेक तीर्थोंसे लाए हुए सुगन्धित जलोंसे श्रीमद्-वल्लभाचार्यको स्नान कराकर कौशेय वस्त्र पहनाकर, गोपी-चन्दन, तुलसीकी माला आदि अलंकारोंसे सुसज्जित करके महा-प्रभुको स्वर्ण सिंहासनपर आसीन करके महा-प्रभुके दामोदर आदि जितने शिष्य थे सबको राजचिह्नोंसे समलंकृत किया। उस स्वर्णमय राज-सिंहासनपर आचार्यके बैठ जानेपर पुरोहितकी प्रेरणासे राजा कृष्णदेवने गन्ध-माल्य आदिसे पूजा करके दक्षिणाके रूपमें स्वर्णसे भरा हुआ थाल उनके आगे स्थापित कर दिया और हाथ जोड़कर सिर नवाकर प्रार्थना की—'हे आचार्य! आपने स्वयं यहाँ पधारकर और संपूर्ण मंडलीको अपनी विद्वत्ता और तर्कोंसे सन्तुष्ट करके मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया। केवल इनके ही संशयका निवारण आपने नहीं किया वरन् इस युगमें चिरन्तन उपासनाके सम्बन्धमे जो अनेक प्रकारके विवाद चल रहे थे और संशय व्याप्त थे वे भी आपने दूर कर दिए। आपके इस अनन्त उपकारका प्रत्युपकार करने तथा उस ऋणसे उऋण होनेका सामर्थ्य मुझमें नहीं है। केवल अपने हृदयकी सात्त्विक कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये मैंने इस कनकाभिषेक-महोत्सवका आयोजन किया है। इसलिये यह मेरा विनम्र निवेदन है कि मैंने अपने तुच्छ संकल्प और साधनोंके अनुसार जो क्षुद्र भेंट प्रस्तुत की है इसे स्वीकार

करके कृपया मुझे कृत-कृत्य करें। यह कहकर वे भूमिपर दंडवत् प्रणाम करनेके लिये लेट गए।

इसके पश्चात् महा-प्रभुका संकेत पाकर उनका प्रगल्भ पट्ट-शिष्य दामोदर उठकर राजाको सम्बोधन करके बोला—'हे राजन्! आप-जैसे इस पृथ्वीके इन्द्र, कुलीन और विनयशील महापुरुषके लिये यही वाणी शोभा देती है। तुच्छ मनुष्य ही ऐश्वर्य प्राप्त करके मदोद्धत होते हैं। कुलीन लोगोंको कभी लोभ न तो स्पर्श करता और न आकृष्ट ही करता। आपने यह सब भेंटकी वस्तुएँ प्रदान करनेका जो उपचार किया है वह तो ठीक है किन्तु इन सब वस्तुओंका ग्रहण श्रीमद् आचार्यचरणको अच्छा नहीं लगता क्योंकि स्वभाव-से ही निःस्पृह आचार्य-चरण इन वस्तुओंको लेकर क्या करेंगे। इसलिये यदि आपको स्वीकार हो तो ये सब चाँदीके पात्र और दक्षिणा रूपमें दी हुई सुवर्ण-निधि यहाँ विराजमान सम्पूर्ण विद्वत्स-माजमें वितरित कर दीजिए और यदि हो सके तो इस द्रव्यसे धर्म-शाला और तालाब भी बनवा दीजिए। उनकी यह निःस्पृहतापूर्ण भावना देखकर जितने विद्वान् वहाँ उपस्थित थे सभी धन्य-धन्य कह उठे और राजा कृष्णदेवने भी हाथ जोड़कर निवेदन किया कि आप जैसी आज्ञा दे रहे हैं वैसा ही किया जायगा।

तब विष्णुस्वामी सम्प्रदायके अनुयायी व्यासतीर्थप्रमुख श्रीहरि-स्वामी और श्रीशेषस्वामीके हाथसे महाप्रभुको तिलक कराकर राजा कृष्णदेवने स्वयं उन्हें तिलक लगाया और उसी समय स्वर्णका दंड धारण किए हुए एक व्यक्तिने अत्यन्त उच्च स्वरसे इस विरुदावलीका पाठ किया—'श्रीवेदव्यास और विष्णु सम्प्रदायका उद्धार करनेवाले, श्रीपुरुषोत्तम श्रीभगवान् विष्णुके मुख-कमलसे अवतार धारण करने-

वाले, सब शास्त्रोंमें अबाध गतिवाले, वैष्णव आम्नायके एकमात्र आचार्य श्रीबिल्वमंगलाचार्यके सम्प्रदायवालोंके द्वारा अर्पित साम्राज्यासनपर सुशोभित अखंड भूमंडलके आचार्यवर्य जगद्गुरु महाप्रभुकी जय हो !

यह विरुदावली सुनकर वहाँ उपस्थित समस्त वैष्णव-समाज परम हर्ष-गद्गद हो उठा। चारों ओरसे पुष्पवृष्टि होने लगी। सब लोग एक स्वरसे धन्य-धन्य कहकर अपना हर्ष प्रकट करने लगे।

यह विरुदावली और सर्वमान्य पदवी प्राप्त करके आचार्यपाद महा-प्रभु वहाँ उपस्थित सब सदस्यों और पंडितोंको दक्षिणा देकर राजाकृष्णदेवको शरणाष्टाक्षर मन्त्र 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का उपदेश और तुलसी-माला देकर उनको तृप्त करके अत्यन्त आह्लादित हुए। उस समय उस सभामें उपस्थित और भी अनेक सज्जन नागरिक आचार्य-चरणसे शिष्यत्व प्राप्त करके अपना जन्म सफल समझने लगे।

राजा कृष्णदेवका वह कनकाभिषेक स्वीकार करके श्रीमद् आचार्यचरण अपने स्थानपर जानेके लिये वहाँसे चल दिए। स्वयं राजाकृष्णदेव भी पीछे चलकर उन्हें घर-तक पहुँचाकर आए। वहाँ पहुँचकर श्रीमद् आचार्यचरणने सर्वप्रथम गोपालनन्दनके चरणाविन्दको प्रणाम किया और उसके पश्चात् अपती माताजीकी वन्दना की। माता श्रीइल्लमा देवी अपने इस दिव्य पुत्रके अलौकिक उत्कर्षको देखकर आनन्दसागरमें मग्न हो गईं।' इसके पश्चात् अपने घरके सब वृद्ध जनोंको प्रणाम करके जब श्रीमद् आचार्यचरण बैठ गए तब राजा कृष्णदेव भी उनकी आज्ञा लेकर उनकी दी

हुई माला अपने गलेमें धारण करके अपने भवनको लौट गए और अन्य जो लोग भी वहाँ आए थे वे भी भगवान् आचार्यचरणके गुण-गणका कीर्तन करते हुए अपने-अपने स्थानको चले गए।

उसी दिन सायंकाल माध्व-मस्करी व्यासतीर्थने आचार्यचरणके पास आकर निवेदन किया कि यद्यपि आज आपने राजसभामें कनकाभिषेकके समय श्रीविष्णुस्वामीके प्रसिद्ध पीठ का आचार्यत्व स्वीकार कर लिया है तथापि आप कृपया मेरे आचार्य-पीठपर भी अभिषिक्त होकर यदि मुझपर अनुग्रह करें तो बड़ा सुमंगल हो। उनका यह वचन सुनकर श्रीमद् आचार्यचरणने मन्द मुसकानके साथ उत्तर दिया—हे विद्वद्वर्य व्यासतीर्थजी ! मैं तो सदा भगवान्की आज्ञा और प्रेरणासे ही इस पृथ्वीतलपर जीवन वहन कर रहा हूँ। अभी पिछली रात्रिको जब मैं इस विचारमें मग्न था कि मैं किस पीठका आचार्यत्व अंगीकार करूँ उस समय प्रार्थना करनेपर भगवान् द्वारकाधीशने स्वयं प्रकट होकर कहा था—'वत्स श्रीवल्लभ ! तुम भक्तिमार्गके सर्वस्व पुष्टि-मार्गका संसारमें प्रसार करनेके लिये इस मर्त्यलोकमें उत्पन्न हुए हो। यद्यपि श्रीरामानुजाचार्य आदि वैष्णव मेरे भक्त ही हैं और उन्होंने जिन मार्गोंका प्रवचन किया है उन्हें भी मैं भक्ति-मार्ग ही मानता हूँ तथापि पुष्टि-मार्गमें मेरी जैसी निष्ठा है वैसी और किसीमें नहीं है। इसलिये तुम विष्णु स्वामीके मतका आचार्यत्व स्वीकार करके इस संसारमें पुष्टि-मार्गका प्रसार और प्रचार करो। इसीलिये भगवान्की आज्ञासे ही आज प्रातः-काल मैंने विष्णुस्वामीके मतका आचार्यत्व स्वीकार किया है। इसलिये आप आग्रह न कीजिए। आप स्वयं यथाशक्ति भक्ति-मार्गके प्रसारके लिये जो भी कुछ उचित हो करते रहिए।' यह

सुनकर श्रीव्यासतीर्थजी मौन हो गए और उन्होंने आचार्य-चरणकी बात मान ली।

इस प्रकार आचार्य-पद प्राप्त करके श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने अपने सम्प्रदायमें प्रवृत्त होनेके लिये और नियमपूर्वक महामन्त्रका उपदेश ग्रहण करनेके लिये ब्राह्म-वेलामें स्नान करके सम्पूर्ण आह्निक कृत्य सम्पादित करके ध्यान लगाकर वृन्दावनमें स्थित बिल्वमंगलाचार्य-जीका स्मरण किया जो इसी कार्यके लिये शरीर धारण किए हुए थे। वे उसी समय वहाँ प्रकट हो गए। जब आचार्य-चरणने श्रीबिल्व-मंगलाचार्यजीको प्रणाम करके, उनका सत्कार करके उन्हें सुन्दर आसनपर बैठा दिया उस समय श्रीबिल्वमंगलाचार्यजी बोले—'वत्स वल्लभाचार्य ! मुझे पहले ही देवकीनन्दनने यह उपदेश दे दिया था इसलिये मैं कबसे समयकी प्रतीक्षा कर रहा था। आज तुमने ध्यान किया इसलिये मैं तत्काल चला आया हूँ। मैं भली-भाँति जानता हूँ कि तुमने इस सम्प्रदायकी रक्षाके लिये अवतार लिया है। इसलिये तुम इस सम्प्रदायका पूर्व इतिहास भली-भाँति सुन लो जिससे तुम्हारे हृदयमें इस सम्प्रदायका उद्धार करनेका उत्साह बढ़े।

इस सम्प्रदायका इतिहास यह है कि प्राचीन कालमें द्रविड देशमें विजय नामका पांड्य-देशवासी एक परम धार्मिक राजा हो गया है जिसके पुरोहित देवस्वामी सकल-शास्त्र-सम्पन्न, धर्म-निष्ठ तथा विष्णुभक्त थे। उन्हींके पुत्र साक्षात् विष्णुके अवतार विष्णुस्वामी

नामसे अवतरित हुए। अपने पितासे सब संस्कार कराकर सब शास्त्रोंमें पारंगत होते हुए भी वे सर्वेश भक्त-कल्पद्रुम बाल-गोपालकी बालक रूपमें सेवा करते थे। जब एक वर्ष निरन्तर सेवा करनेपर भी भगवान्‌ने दर्शन नहीं दिया तब अत्यन्त दुःखमग्न होकर उन्होंने निश्चय किया कि जबतक भगवान् मुझे दर्शन नहीं देंगे तबतक मैं भोजन नहीं करूँगा। तब सातवें दिन उनका यह दृढ निश्चय देखकर और सन्तुष्ट होकर उनके सामने साक्षात् भगवान् प्रकट होकर बोले—'वत्स विष्णु स्वामी! क्यों इस प्रकार दुखी होते हो। तुमने जो कुछ मेंरी सेवा की है वह तो मैंने सभी स्वीकार कर ली है। अब तुम संसारमें भक्ति-मार्गका प्रसार करो। आजकल चारों ओर वैदिक धर्मका बड़ा निरादर हो रहा है। बौद्धोंने वैदिक कर्मकाण्डका विरोध करके और उसपर हिंसाका दोष लगाकर उसे इतना दुर्नाम कर दिया है कि उन्हें कोई उचित मार्गका प्रदर्शन नहीं कर रहा है। इसलिये तुम सात्विक भक्तिसे युक्त धर्मका प्रकाश देकर उनको सन्मार्गपर चलाओ, भगवान् शुक-द्वारा वर्णन किए हुए श्रीमद्भागवतका आधार लेकर उसीके अध्ययन और पाठकी परिपाटीका प्रचार करो और व्यासजीके ब्रह्म-सूत्रका अर्थ निश्चय करनेके लिये साक्षात् व्यासजीका आवाहन करो। वे जैसा उपदेश दें और कहें वैसा ही करो। यह कहकर अपनी मूर्ति और रहस्य-मन्त्र देकर वे वहीं अन्तर्धान हो गए। विष्णुस्वामी भी साक्षात् गोपालनन्दनका दर्शन करके अत्यन्त कृतकृत्य होकर अपने घरमें उनकी मूर्ति प्रतिष्ठित

करके भगवान् कृष्ण-द्वैपायनका साक्षात् दर्शन करनेके लिये गन्धमादन पर्वतपर जा पहुँचे। वहाँ भगवान् बादरायण वेदव्यासजीका साक्षात् दर्शन करके और उनसे कृष्ण-शरणाष्टाक्षर मन्त्र तथा तुलसी-माला ग्रहण करके वे फिर भगवान् शुक्राचार्यसे मिलकर धर्मप्रसारके लिये निकल पड़े। इस प्रकार चारों ओर दिग्विजय करके महात्मा विष्णुस्वामीने सर्वत्र भागवत धर्मका प्रचार किया।

श्रीविष्णुस्वामीके वैकुण्ठवास होनेपर क्रमसे उनकी शिष्य-परम्परामें सात सौ आचार्य हुए जिनमेंसे अंतिम मेरे गुरु श्रीराजविष्णु स्वामी थे जिन्होंने द्वारकामें जाकर द्वारकेश्वरकी स्थापना की और वहाँसे सब बौद्धोंको पराजित करके भगा दिया। वे सब बौद्ध इतने कपटशील थे कि उन्होंने पुष्पपुर (पेशावर) के राजाकी सहायता प्राप्त करके मदान्ध होकर श्रीविष्णुस्वामीका शिविर लूट लिया और उनके सब ग्रन्थ जला डाले। इस विनाशसे वे महात्मा इतने दुखी हुए कि मुझे सहसा आचार्यपदपर अभिषिक्त करके वैकुण्ठवासी हो गए। तबसे मैं भी उन दुष्टोंका और अपने देशके सभी अन्य सम्प्रदायवादियोंका उपद्रव देखकर अपने स्थानमें देवमंगलकी स्थापना करके सदा साक्षात् भगवान्की लीलाके दर्शनकी लालसासे वृन्दावनमें रहता हूँ। एक बार मैंने भी ऐसा विपरीत समय देखकर अत्यन्त दुःखपूर्वक भगवान् कृष्णसे प्रार्थना की थी—हे भगवान्! इस घोर कलिकालमें मैं रहना नहीं चाहता इसलिये अपने लीलाधमा-

में मुझे भी बुला लीजिए। मेरी बात सुनककर भगवान् राधारमण मुसकराकर बोले—'वत्स विल्व-मंगल ! मैं तुम्हारे मन की बात जानता हूँ तथापि थोड़े दिनों पश्चात् मेरे भक्तोंका उद्धार करनेके लिये मेरे मुखसे उत्पन्न वैश्वानर-स्वरूप श्रीवल्लभका अवतार होगा। उन्हें उपदेश देकर और अपने इस सम्प्रदायका पूरा वृत्त बताकर तुम वैकुण्ठ चले आना। मैं उनकी इसी आज्ञाको शिरोधार्य करके समयकी प्रतीक्षा करता हुआ ब्रह्मसर-पर महावृक्षके नीचे योगबलसे सात सौ वर्षोंसे तपस्या कर रहा हूँ। अब भगवान् विष्णुकी आज्ञासे मुझसे सम्प्रदायकी दीक्षा लेकर तुम धर्मका प्रचार करो और मेरी इस चिर अभिलाषाको सफल करो।'

यह सुनकर भागवत सम्प्रदायका यह अत्यन्त प्रिय विस्मयजनक परिचय प्राप्त करके महाप्रभु अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और फिर अट्ठारह अक्षरवाला सम्प्रदायका रहस्य ग्रहण करके श्रीविल्वमंगलाचार्यजीको प्रणाम करके प्रार्थना की कि आप इसी प्रकार समय-समयपर मुझे दर्शन देते रहनेकी कृपा कीजिएगा। बिल्वमंगलाचार्यजीने भी अपने सम्प्रदायके रक्षक और भगवात्के अवतार श्रीवल्लभजीको देखकर अत्यन्त आनन्द-मग्न होकर कहा—'वत्स श्रीवल्लभ ! इस कलिकालमें वैदिक कर्मकांडमें मन्द-बुद्धि लोगोंकी श्रद्धा नहीं होगी। अत्यन्त दुष्कर योग-मार्ग में जिस प्रकारके ब्रह्मचर्य-पालनकी आवश्यकता है उसकी प्रवृत्ति ही नहीं रहेगी। इस प्रकार चारों ओरसे धर्मके प्राचीन

मार्ग इतने प्रतिबद्ध हो गए हैं कि लोग स्वच्छन्द और धर्म-हीन होकर जो मनमें आता वही करते हैं। इसलिए यदि तुम आलस्य छोड़कर सर्वसुलभ प्रेममय भक्ति-मार्गका प्रचार करोगे तभी धर्मका उद्धार होगा अन्यथा सनातनधर्म तो रसातलमें गया हुआ समझो।' यह सुनकर श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने उनका आदेश अंगीकार किया और प्रयाग जानेके लिए प्रस्तुत श्रीबिल्वमंगलाचार्यजीको अत्यन्त श्रद्धाके साथ विदा किया।

—:o:—

५

पंचम अध्याय

पृथ्वी-प्रदक्षिणा और गृहस्थाश्रममें प्रवेश

श्रीबिल्वमंगलाचार्यसे मन्त्र तथा रहस्य प्राप्त करके श्रीमद् वल्लभाचार्यजीने निश्चय किया कि अब मुझे चारों ओर घूम-घूमकर भक्तिमार्गका प्रचार करना चाहिए क्योंकि धर्मके सम्बन्धमें सर्वत्र भयंकर अराजकता विद्यमान है। कोई ऐसा आचार्य नहीं है जो सबको उचित मार्ग का दर्शन करा सके, कोई ऐसा उपदेशक नहीं है जो सद्धर्मका उपदेश दे सके। जितने भी धर्म या सम्प्रदाय प्रचलित हैं वे सभी एक दूसरेको बुरा-भला कहने और एक दूसरेमें दोष निकालनेकी प्रवृत्ति में लगे हुए हैं। वर्णाश्रम धर्म भी केवल नाम-मात्र-को रह गया है क्योंकि आश्रम-परम्परा पूर्णतः लुप्त हो चुकी है। केवल वर्ण-परम्पराका कृत्रिम दिखावटी स्वरूप समाजको गलित करता चला जा रहा है। यहाँके यवन शासक अपने धर्मका प्रचार करने के लिये सब प्रकारके वैधावैध उपायोंका अवलम्बन करके वैदिक सनातनधर्मपर निरन्तर कुठाराघात कर रहे हैं और वह भी तर्क, या युक्तिके आधारपर नहीं वरन् खड्ग-बलपर। अन्य आचार्योंने भी यद्यपि भक्ति-मार्गके प्रसार और प्रचारके लिये समय-समयपर बहुत प्रयत्न किया तथापि जिस वेग, व्यापकता और निष्ठाके साथ

भक्तिका प्रचार होना चाहिए था वैसा अभीतक नहीं हो पाया। इसलिये अब मुझे ही पृथ्वी-पर्यटन करके यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करना चाहिए। यों भी हमारे शास्त्रोंमें तीर्थ-यात्राका बड़ा माहात्म्य लिखा है और उसका कारण भी यही है कि सब प्रकारके स्थावर तीर्थों पर जंगम तीर्थों (महात्माओं और तपस्वियों) से अनायास भेंट होती है, विचार-विमर्श होता है और विचार-विमर्शसे तत्त्वज्ञान सिद्ध होता है—'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः।' निरन्तर विचार करनेसे ज्ञान परिपक्व होता है। इसलिये सब तीर्थोंमें घूमकर ज्ञान प्राप्त करना और इस विस्तीर्ण भूखंडमें व्याप्त सांस्कृतिक स्रोतोंका परिचय ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह निश्चय करके उन्होंने पहले दक्षिणापथके तीर्थोंमें ही भ्रमण करनेका संकल्प किया। उन दिनों विभिन्न प्रकारकी उपासनाओं, पूजा-पद्धतियों, सम्प्रदायों तथा दार्शनिक मतोंका गढ़ दक्षिणापथ ही था क्योंकि आर्यावर्तको तो यवनोंने इतना अक्रान्त कर दिया था कि किसी प्रकारके धार्मिक कर्मकांड या। सम्प्रदायके विकासके लिये कोई क्षेत्र ही नहीं बचा रह गया था। इस संकल्पके अनुसार सर्वप्रथम उन्होंने विजयनगरके राजा कृष्णदेवको अपना शिष्य भेजकर सूचना दी कि अब मैं विभिन्न तीर्थोंमें घूम-घूमकर भक्ति-मार्गका प्रवर्तन करना चाहता हूँ। राजा कृष्णदेवने यह समाचार सुना तो हतप्रभ होकर रह गए। वे तत्काल आचार्य-चरणके पास पहुँचे और निवेदन किया कि हम लोगोंसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया कि आप हमें छोड़कर चले जा रहे हैं। आचार्य-चरणने उनकी यह सात्त्विक निष्ठा देखकर उन्हें अनेक प्रकारसे प्रजा-पालनका आदेश देकर सान्त्वना दी और श्रीगोपालनन्दनकी भक्ति और उपासनाकी विधि भली प्रकार समझाकर उन्हें सन्तुष्ट किया।

यह सब कर चुकनेपर शुभ मुहूर्त देखकर वे अपने सब शिष्योंके साथ दक्षिण दिशाकी ओर चल दिए। राजा कृष्णदेव भी कुछ दूर-तक स्वयं आचार्य-चरणको पहुँचाकर और उनकी रक्षाके लिये अपने सेवक नियुक्त करके लौट आए।

विजयनगरसे चलकर सर्वप्रथम श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने भगवान् रामचन्द्रके चरणोंसे पवित्र पंपासरमें आकर कुछ दिन विश्राम किया और वहीं उन्होंने श्रीमद्भागवतका पारायण किया। जब आस-पासके लोगोंने सुना कि श्रीमद्वल्लभाचार्यजी महाराजका यहाँ मंगल पदार्पण हुआ है तो वहाँ मेला जुट गया। दूर-दूरसे लोग आकर एकत्र हो गए और सबने अत्यन्त भक्ति-पूर्वक श्रीमद्भागवतकी कथा सुनकर अपने हृदय, मन और बुद्धिको पवित्र किया। उसी समय वहाँपर कृष्णदास नामक परम भागवत क्षत्रिय भी श्रीमद्-आचार्यचरणकी सेवामें आ पहुँचा जिसे साक्षात् भगवान्ने यह आदेश दिया था कि श्रीवल्लभाचार्य नामके प्रसिद्ध सन्त यहाँ आवेंगे, तुम उनकी शरण ग्रहण करना। उसपर निःसीम कृपा करके श्रीमद्-आचार्यचरणने उसे भगवान्की सेवामें चौकीदारीका काम सौंप दिया। वहाँ पञ्चाप्सर तीर्थ (पंपासर) में श्रीमद्भागवतका पारायण अभी चल ही रहा था कि कहींसे उड़ता हुआ एक सुन्दर हंस प्यासके मारे आचार्य-चरणके पास पहुँचा और उनका चरणोदक पीनेका प्रयत्न करने लगा, किन्तु वहाँ इतनी भीड़ थी कि उसकी इच्छा सफल नहीं हो पा रही थी। यह देखकर सेवक कृष्णदासने एक पात्रमें श्रीवल्लभाचार्यजीका चरणोदक लेकर उसके ऊपर छिड़क दिया। जलका छिड़कना था कि वह हंस तत्काल परम तृप्त होकर सबके देखते-देखते आकाशमें उड़कर विलीन हो गया।

वहाँसे चलकर वे ऋष्यमूक आदि तीर्थोंका दर्शन करते हुए बेंकटाचल पहुँचे और वहाँ भी उन्होंने श्रीमद्भागवतका पारायण किया। वहाँसे चलकर वे कांची और चिदंबरम् आदि महत्त्वपूर्ण तीर्थोंमें घूमते और देव-दर्शन करते हुए दक्षिण-द्वारका पहुँचे और वहाँ एक पवित्र स्थलीपर डेरा डालकर उन्होंने श्रीमद्भागवतका पारायण आरम्भ कर दिया। जिस समय भागवतका पारायण पूर्ण हो रहा था उसी समय वहाँके प्रसिद्ध विद्वान् राघवाचार्यजीने आकर उनसे शांकर वेदान्त या मायावादकी चर्चा छेड़ दी। फिर क्या था। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया किन्तु उनके कोई भी तर्क श्रीवल्लभाचार्य-जीके युक्तिपूर्ण और अकाट्य तर्कोंके सम्मुख न टिक सके। परिणाम यह हुआ कि श्रीराघवाचार्यजी भी उनके पांडित्य और तेजसे प्रभावित होकर उनके अनुयायी हो गये।

वहाँसे रामेश्वरम्की ओर चलते समय जब वे सुब्रह्मण्यम् क्षेत्रमें पहुँचे तो कुछ अहम्मन्य व्यक्तियोंने उनके वेशकी कटु आलोचना की किन्तु जब महाप्रभुने अपनी अगाध विद्वत्ताके साथ उनके तर्कोंका सटीक उत्तर देना प्रारम्भ किया तो वे निरुत्तर होकर चले गए।

आचार्य-चरण वहाँसे चलकर अनेक तीर्थ-स्थानों, नगरों, ग्रामों और उपवनोंको पवित्र करते हुए रामेश्वर तीर्थमें जा पहुँचे जहाँ लंकाके लिये प्रस्थान करते समय भगवान् रामचन्द्रजीने शिवजीकी पार्थिव प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। वहाँ भी श्रीमद्भागवतका पारायण करते और सब भक्तोंको सन्तुष्ट करते हुए वे तोताद्रि पहुँचे। वहाँ भक्तोंकी अपार भीड़ पहलेसे ही जुट गई थी और सब यही आग्रह करते जा रहे थे कि राजा कृष्णदेवकी सभामें श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने प्रतिस्पर्धियोंको जिस प्रकार निरुत्तर किया उसका विस्तृत विवरण

सुनाया जाय। पहले तो श्रीवल्लभाचार्यजी बहुत टाल-टूल करते रहे किन्तु जब लोगोंने बहुत अधिक आग्रह किया तब उन्होंने अपने शिष्य दामोदरको संकेत किया और उसने विस्तारके साथ अथसे इति तक सारी कथा कह सुनाई। इतना सुन चुकनेपर भी बहुतसे शंकित-हृदय और कुतूहल-प्रेमी लोग कोई चमत्कार देखना चाहते थे। इसलिये सबके देखते-देखते श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके तेजसे तत्काल लोकहितके लिये उस निर्जल स्थलमें बहुत बड़ा निर्झर उत्पन्न हो गया। धन्य-धन्यसे दिङ्मंडल गूँज उठा, जय-जयकारसे सारी वनस्थली मुखरित हो उठी। सबको विश्वास हो गया कि श्रीमद्वल्लभाचार्यजी अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न महापुरुष हैं, अब निश्चय ही धर्मका उद्धार होगा और संसारका कल्याण होगा। वहींपर एक और विचित्र घटना हो गई। महाप्रभुके कुछ शिष्योंने वहाँ लक्ष्मण तीर्थपर श्राद्ध करना आरम्भ कर दिया। यह देखकर, वीर शैवोंको बड़ा कुतूहल हुआ और वे इनकी हँसी उड़ाने लगे। कुछ देर-तक तो महाप्रभु उनकी व्यंग्योक्तियाँ सुनते रहे किन्तु फिर महाप्रभुके शिष्य शंभुसे न रहा गया। उसने शास्त्रार्थके लिये उन्हें ललकार दिया और उन्हें परास्त कर डाला।

इस प्रकार क्रमशः पर्यटन करते हुए वे पद्मनाभ क्षेत्रमें जा पधारे। वहाँ वे भागवतका पारायण प्रारम्भ करने ही वाले थे कि उनकी कीर्ति सुनकर उस देशके राजा स्वयं वहाँ आ पहुँचे और उनके सम्मुख दंडवत् प्रणाम करके उनकी आज्ञासे बैठ गए। उनके मुरझाए हुए दीन मुख-मण्डलको देखकर जब आचार्यने कारण पूछा तब उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'हे सकलजगदुद्धारक आचार्य चरण! मुझे सभी लौकिक सुख प्राप्त हो चुके हैं। बालकपनमें मेरे पूज्य पितृ-चरणने मुझे बड़ी अच्छी शिक्षा दी। यौवन प्राप्त होनेपर मुझे

ईश्वरकी अनुकम्पासे सभी श्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त अत्यन्त साध्वी सह-धर्मिणी प्राप्त हुई। मेरे सभी सचिव अत्यन्त स्वामि-भक्त, निष्ठावान् धर्मपरायण मिले। मेरी प्रजा भी सदा शान्तिके साथ धर्म-मार्गपर चलती हुई मुझे सुख देनेका प्रयत्न करती रही किन्तु मेरा कुछ ऐसा पूर्व जन्मका पाप उदित हुआ कि किसी बलवान् ब्रह्म-राक्षसने मेरी सहधर्मचारिणीपर दुष्प्रभाव डालकर उसे इतना कष्ट दे रक्खा है कि यदि कोई उसका क्लेश दूर करनेके बदले मुझसे राज्य या प्राण भी माँगे तो मैं सहर्ष देनेको प्रस्तुत हूँ। यहाँ के और बाहरके बहुतसे ओझा, मांत्रिक, तांत्रिक और वैद्य लोग सब प्रयत्न और उपचार करके हार गए किन्तु कोई भी उस ब्रह्म-राक्षसको निरस्त नहीं कर सका। मैं तो इस विफलताके कारण निराश हो चला था किन्तु इसी बीच मैंने अपने मंत्रियोंसे यह संजीवन समाचार सुना कि आचार्य-चरणके मंगलमय शुभागमनसे यह प्रदेश पावन हो रहा है इसलिये मेरे अवसन्न हृदयको बड़ा आश्वासन और बल मिला। यदि आचार्य-चरणकी तनिक-सी कृपा-दृष्टि हो जाय तो मेरा कल्याण हो जाय।' इतना कहते-कहते उनका गला भर आया और उनके नेत्रोंसे आँसू छल-छला उठे।

कृपासिंधु श्रीआचार्य-चरणने यह सब बातें सुनकर अत्यन्त करुणाके साथ अपने शिष्य दामोदरकी ओर दृष्टिपात किया। वह उस संकेतका अभिप्राय ताड़ गया और झट महाप्रभुका चरणोदक लेकर राजाके साथ-साथ उनके रनिवास-तक जा पहुँचा। ज्यों ही रानीके प्रेताभिभूत शरीरपर उस चरणोदकके छींटे पड़े त्यों ही रानी एक बार उच्च स्वरसे चिल्लाई और फिर तत्काल इस प्रकार स्वस्थ होकर उठ बैठी मानो कुछ हुआ ही न हो। उनकी प्रेत-बाधा पूर्णतः समाप्त हो गई। यह चमत्कार देखकर तो सब चकित रह गए

और राजाने तत्काल आचार्य-चरणके पास जाकर अत्यन्त कृतज्ञताके साथ उनके अनुग्रहके प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करके उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त किया।

वहाँ कुछ दिन निवास करके पुनः आचार्य-चरण भू-भ्रमणके लिये निकल पड़े और अनेक स्थानोंमें घूमते-घामते गुजरातमें नर्मदा नदीके पुनीत तीरपर जा पधारे और वहाँ भागवतका पारायण करते हुए गुर्जर प्रदेशके श्रोताओंको भगवानकी लीला सुनाने लगे। इसी यात्रामें जब वे सिद्धपुर होते हुए बटेश्वर पधारे तो अनेक जैन पंडितों-ने उन्हें शास्त्रार्थके लिये चुनौती दी। महाप्रभुने समाह्वान स्वीकार कर लिया और शास्त्रार्थमें उन्हें परास्त करते हुए भक्तिका तत्त्व समझाते हुए बताया कि हमारे सिद्धान्तके अनुसार सारा संसार ही भगवान-मय है इसलिये हमारे यहाँ हिंसाकारिणी भावनाका अस्तित्व ही नहीं है। इसी प्रवासमें एक दिन प्रातःकाल एक मृगका छौना अत्यन्त भय संत्रस्त होकर दौड़ा हुआ सहसा श्रीमदआचार्य-चरणके पास आकर बैठ गया। आचार्य-चरणने उसकी पीठपर हाथ फेरकर उसे स्वस्थ ही किया था कि उसी समय उसके पीछे-पीछे दौड़ता हुआ एक व्याध हाथमें धनुष-बाण लिए आ पहुँचा। उसे देखते ही वह मृग-छौना आचार्य-चरणके कपड़ोंमें प्रविष्ट होकर दुबक गया। वह व्याध भी भगवान श्रीमद्वल्लभाचार्यको देखते ही अपने अस्त्र-शस्त्र फेंककर विनयावनत होकर भक्ति-पूर्वक प्रणाम करके बोला—'भगवन्! मैं विशाल राज्यका क्षत्रिय-पुत्र हूँ। बालकपनमें कुसंगवश अनेक दुर्व्यसनोंमें पड़कर मैं वेश्यागामी हो गया। उसी क्रममें बढ़ते-बढ़ते एक दिन मैंने एक तपस्वी ब्राह्मणकी कन्यासे छेड़-छाड़ करनेकी धृष्टता की जिससे कुपित होकर उस ब्राह्मणने मुझे शाप दिया कि तू इसी प्रकार व्याध होकर तब-तक घूमता रहेगा जबतक किसी महा-

पुरुषके दर्शनसे तेरे हृदयका कल्मष नहीं धुल जाता। तबसे मैं अत्यन्त दुखी होकर निष्करुण व्याध बना घूम रहा हूँ। मेरा राज्य-पाट भी शत्रुओंने हर लिया। आज आपका दिव्य दर्शन पाकर मुझे स्वयं ऐसा अनुभव हो रहा है कि मेरे हृदयका भार हलका हो गया है, मेरी बुद्धि निर्मल हो गई है, मेरा आत्मा प्रसन्न हो गया है। कृपया मुझे अपनी शरणमें ले लीजिए। यह कहकर वह 'पाहि माम्! पाहि माम्!' कहता हुआ महाप्रभुके चरणोंमें लेट गया। महाप्रभुने उसे सान्त्वना दी और उनका आशीर्वाद पाकर वह लौट गया।

इस प्रकार अपनी दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके वे पुष्कर आदि तीर्थोंसे सुशोभित राजस्थान और मध्यप्रदेश की ओर घूम गए। वहाँसे पश्चिम प्रदेशमें द्वारका आदि क्षेत्रोंमें भक्तिधर्मका प्रचार करते हुए उत्तराखंडमें गंगोत्री, बदरीनाथ, केदारनाथ आदि तीर्थोंका दर्शन करते हुए वे काशी लौट आए और फिर अपने अगणित शिष्योंके साथ पूर्वकी यात्रा करनेको कृत-संकल्प हुए।

जब काशी-यात्राके प्रसंगमें आचार्य-चरण मणिकर्णिका घाटपर बैठे थे तब सेठ कृष्णदासके पुत्र पुरुषोत्तमदासने आकर निवेदन किया कि मेरे पिता आपके दर्शनकी आकांक्षा लेकर बहुत दिन-तक पड़े रहे और फिर विष्णु-लोक चले गए। मैं भी उन्हींके समान आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। इसलिये आप कृपया अपनी चरण-धूलिसे मेरा घर पवित्र करनेका कष्ट करें। श्रीमद् आचार्य भी सेठ कृष्णदासके स्नेहको स्मरण करके पुरुषोत्तमदासको मदनमोहनजीकी मूर्ति देकर स्वयं तीर्थ-यात्राके लिये चल दिए।

पूर्वकी यात्रा उन्होंने काशीसे ही प्रारम्भ की। काशीसे चलकर वे शिव-गयामें आकर रुक गए। उसी समय वहाँका कोई राजा आचार्य-चरणके पास आकर प्रणाम करके बोला—'भगवन्! किसी कारणसे मेरा प्रेत भाई मेरी पत्नीको नहीं छोड़ता। अनेक मांत्रिक और तांत्रिक सब उपाय करके हार गए किन्तु किसीका कोई उपाय नहीं लग रहा है, यहाँ तक कि मैंने शिव-गयाकी यात्रा भी की फिर भी कोई लाभ नहीं हुआ। उसी समय भगवानके सेवक कृष्णदासने पूछा कि वह प्रेत कब आता है। जब आवे, तो बताइएगा। राजाने बताया कि बस थोड़ी देरमें तो वह प्रेत आने ही वाला है। यह सुनते ही कृष्णदासने उनसे कहा कि आप चलिए, मैं आता हूँ। राजाके पीछे-पीछे वे अपने गुरुजीका चरणोदक लेकर वहाँ पहुँच गए। इनका पहुँचना था कि उधर वह अशरीरी प्रेत भी अलक्ष्य होकर आ धमका। वह बेचारी रानी उस क्रूर प्रेतको देखते ही 'रक्षा करो, रक्षा करो' कह-कहकर चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगी। कृष्णदासने तत्काल उस प्रेतको सम्बोधन करके कहा—तुम इस अबलाको क्यों कष्ट देते हो! तुम्हारे मनमें क्या इच्छा है? यदि अपने बलके उन्मादमें तुम इसको व्यर्थ कष्ट देना चाहते हो तो यह सम्पूर्ण तापोंको नाश करनेवाला चरणोदक देखो। चरणोदक देखना था कि वह प्रेत उस प्रेताविष्ट रोगिणीके मुखसे अत्यन्त दैन्य भावसे बोला—'मैं इसका प्रभाव जानता हूँ। मैं इसे व्यर्थ कष्ट नहीं दे रहा हूँ। इसका पति मेरा छोटा भाई है जिसने मेरे पुत्रको मारकर मेरे राज्यपर अधिकार कर लिया है। इसलिये मैं क्रुद्ध होकर इसके पुत्रोंका नाश करके इसकी भार्याको भी समाप्त कर देना चाहता हूँ।' तब कृष्णदासने उसे समझाया कि इस क्षण-भंगुर राज्यके लिये तुम इतना पाप क्यों संग्रह कर रहे हो। लो, मैं इस चरणोदकके प्रभावसे तुम्हें वैकुण्ठ भेजे दे रहा हूँ। यह कहकर कृष्णदासने रानीके मुँहमें चरणोदक डाल दिया

और रानी भली-चंगी होकर उठ बैठी। राजाके हर्षका पार नहीं रहा। उसने महाप्रभुके पास आकर अपना दोष स्वीकार कर लिया और वह अपनी स्वस्थ भार्याके साथ आचार्य-चरणका परम सेवक बन गया।

इस प्रकार पूर्वकी यात्रा सम्पन्न करके सारे भारतकी प्रदक्षिणा उन्होंने पूरी कर ली और सर्वत्र सुपात्रोंको 'कृष्णाष्टाक्षर मन्त्र' देते और भक्तिका प्रचार करते हुए वे नौ वर्षोंमें अपने घर लौट आए। उनके लौटनेपर उनके सम्बन्धी और ग्राम-वासी बड़े प्रसन्न हुए और उनकी माता इल्लमादेवी हर्षसे फूली नहीं समाई।

यह प्रथम पृथ्वी-प्रदक्षिणा कर चुकनेके पश्चात् उन्होंने विचार किया कि मैंने इस प्रथम प्रदक्षिणामें अनेक स्थान देखे, मन्त्रका उपदेश भी किया, अनेक व्यक्तियोंको धर्माचरणकी ओर प्रवृत्त भी किया किन्तु भक्तिमार्गके प्रचारको सुदृढ़ करनेके लिये कोई विशेष विधान नहीं किया। इसलिये पहली प्रदक्षिणामें मैंने जो लोक-विश्वास प्राप्त किया है उसके आधारपर स्थान-स्थानपर शिष्योंके संघ स्थापित कर देने चाहिएँ और जहाँ-तहाँ गोपालनन्दनकी प्रतिष्ठा करके देवालयोंका निर्माण करा देना चाहिए। तभी यह भक्ति-मार्ग सुप्रतिष्ठित और बलशाली होगा।

यह विचारकर शुभ मुहूर्तमें उन्होंने पुनः दक्षिणापथकी यात्राका निश्चय किया और मंगल मुहूर्तमें प्रस्थान करके पहले मंगलप्रस्थ पहुँचकर वहाँ भक्तितत्त्वका उपदेश किया। वहाँसे श्रीवेंकटनाथका दर्शन करनेके लिये वे वेंकटाचलकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर

उन्होंने श्रीवेंकटनाथके दर्शन किए और वहाँ अनेक शिष्य बनाए। वहाँसे चलकर अनेक तीर्थ-क्षेत्र देखते हुए श्रीरामेश्वरको प्रणाम करके लौटते हुए वे विजयनगर आ पहुँचे।

विजयनगरमें निवास करते समय कायस्थ-कुलके परम भक्त श्रीनारायणदासने आकर श्रीवल्लभाचार्यजीकी शरणमें अपनेको समर्पित कर दिया। आचार्यचरणने कृपा करके उसे शिष्य स्वीकार कर लिया और वह भी अपनी गृहस्थीकी सारी झंझट छोड़-छाड़कर उन्हींके साथ हो लिया। अन्य शिष्योंके साथ उस भक्तको साथ लेकर वे भीमा नदीके तीरपर जा पहुँचे। वहाँ ज्योंही वे श्रीविट्ठलेशजीको प्रणाम करने के लिये झुके त्योंही श्रीविट्ठलनाथजीने स्वयं प्रकट होकर उन्हें आज्ञा दी कि यह दूसरी पृथ्वी-प्रदक्षिणा करने का विचार छोड़कर आप गृहस्थ आश्रम स्वीकार कर लीजिए क्योंकि मैं भक्ति-मार्गके अधिक प्रचारके लिये आपके यहाँ अवतार लेना चाहता हूँ। आपके लिये काशीमें ही योग्य कन्या विद्यमान है। अतः, आप तत्काल उस सुलक्षणा कन्यासे पाणि-ग्रहण करके भगवान्-के अवतारका मार्ग प्रशस्त कीजिए। भगवान्की यह अन्तःकरण-भावित आज्ञा सुनकर आचार्य-चरणको खेद तो हुआ किन्तु भगवान्की आज्ञाकी अवज्ञा कैसे हो। अतः, उन्होंने विट्ठलेशकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली। वहाँसे वे नर्मदा तीरके तीर्थोंको प्रणाम करते हुए गुर्जर देशमें जा पहुँचे जहाँ जैन धर्मका बड़ा प्राबल्य था और सनातनधर्मके सम्बन्धमें कोई कुछ जानता ही नहीं था। इसलिये आचार्य-चरणने कुछ दिन वहाँ रहकर गुजरातवालोंको भगवान् देवकीनन्दनकी भक्तिका दिव्य उपदेश दिया और तुलसी-माला, कंठी तथा मन्त्र देकर उन्हें श्रीमद्भागवतके पाठमें प्रवृत्त कर दिया। इसका प्रभाव

यह हुआ कि जहाँ चारों ओर केवल जैनियोंके ही मन्दिर विराजमान थे वहाँ भगवान्‌के गीतों और स्तोत्रोंसे मुखर स्वर्ण-शिखरवाले अनेक श्रीकृष्णदेवालय भी खड़े होने लगे।

गुजरातमें अनेक सद्-गृहस्थोंको सनातन-धर्मानुयायी बनाकर सुदामापुरमें कपूर सुदामा बाल नामक व्यक्तिको शिष्य बनाकर तथा स्थान-स्थानपर सहस्रों शिष्य बनाते हुए हिमालयमें श्रीबदरी-नारायणके दर्शन करके व्यासजीके उस बदरिकाश्रममें जा पहुँचे जहाँ उन्होंने तपस्यानिरत श्रीबिल्वमंगलाचार्यको प्रणाम करके और उनकी आज्ञासे भगवान् बादरायण व्याससे अनेक संशयोंका समाधान करके उनसे भी ग्रन्थ रचने और गार्हस्थ धर्ममें प्रवेश करने की आज्ञा प्राप्त की। इस प्रकार वहाँसे चलकर प्रयाग आदि क्षेत्रोंमें घूमते हुए वे पुनः काशी आ पहुँचे।

जिस प्रकार भगवान् चक्रधर विट्ठलेशने आचार्य-चरणको भीमा-नदी के तीरपर प्रेरित किया था उसी प्रकार उन्होंने काशी-निवासी परम धार्मिक और विद्वान् श्रीदेवभट्टको भी यह प्रेरणा दी कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीको तुम अत्यन्त श्रद्धा-भावसे अपनी कन्या समर्पित कर दो। इसलिये ज्योंही श्रीदेवभट्टने सुना कि आचार्य-चरण काशी पुरीमें पधारे हैं तो वे भी श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका दर्शन करनेके लिये उनके स्थानपर आ पहुँचे और अपना उद्देश्य तथा भगवान्‌का आदेश उन्हें कह सुनाया। श्रीमद् आचार्यचरणने श्रीदेवभट्टकी

भावनाका अभिनन्दन करके अत्यन्त सरल भावसे कहा—मेरी पूज्या माताजी अभी विद्यमान हैं। इसलिए मंगलोद्वाहके संबन्धमें वे ही निश्चय कर सकेंगी। और तत्काल उन्होंने अपनी माता तथा अन्य संबन्धीजनोंको बुलानेके लिए अपने शिष्योंको भेज दिया। उन सबके आ पहुँचने पर शुभ मुहूर्त्तमें पहले तो महाप्रभुने प्राचीन गुरुकुलकी मर्यादाके अनुसार समावर्त्तन संस्कार किया और तत्पश्चात् उन्होंने अपने बड़ोंसे आज्ञा लेकर गृहस्थ आश्रममें प्रवेश किया। यद्यपि उन्होंने गृहस्थ आश्रममें प्रविष्ट होना तो स्वीकार कर किया तथापि भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलमें जो उनकी अनन्य निष्ठा थी उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आई।

महाप्रभुके मांगलिक विवाहका समाचार सुनते ही भारतवर्षके कोने-कोनेसे उनके अगणित शिष्य असंख्य उपायन लेकर उस लोकोत्तर वैवाहिक समारम्भमें आ पहुँचे। अनेक विद्वान्, पण्डित, तपस्वी, महात्मा, गृहस्थ, धनी और राजे-महाराजे उनके विवाहमें सम्मिलित होनेके लिये दौड़ पड़े। बड़ी धूम-धामसे काशीके प्रसिद्ध कर्मकाण्डियोंने शास्त्रीय विधिपूर्वक उनका विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया।

विवाह हो चुकनेके अनन्तर वे कुछ दिन काशीमें ही रहे और वहाँ आए हुए अपने असंख्य सेवकों, शिष्यों और भक्तोंको भक्ति-मार्गका उपदेश देते रहे।

अपने लोकवंद्य तथा सुयोग्य पुत्रके विवाहोत्सवसे उनकी माता अत्यन्त प्रसन्न हुईं क्योंकि उन्हें परम लक्ष्मी-स्वरूपा गृह-लक्ष्मीके रूपमें परम सुशीला पुत्रवधू प्राप्त हो गई थी। विवाहके अनन्तर छह मास काशीमें निवास कर चुकने पर उन्होंने पुनः तृतीय पृथ्वी-प्रदक्षिणा करनेका संकल्प किया। उन्होंने मनमें विचार किया कि पहली बार तो मैंने समूचे देशकी लोक-स्थितिका निरीक्षण किया था और दूसरी प्रदक्षिणामें मैंने स्थान-स्थानपर अपने शिष्योंके संघ स्थापित किए थे किन्तु अपने उन शिष्योंके और वहाँकी भावी पीढ़ियोंके हृदयमें भक्तिका अंकुर दृढ़ करनेके लिये स्थान-स्थानपर श्रीगोपाल-नन्दनका विग्रह स्थापित करके देवालय बनवा देने चाहिएँ क्योंकि बिना किसी दृढ आधारके भक्तिलता भली-भाँति पल्लवित और पुष्पित नहीं होती।

अतः, मंगल मुहूर्तमें काशीसे प्रस्थान करके महाप्रभु श्रीमद्-वल्लभाचार्यजी सर्वप्रथम वैद्यनाथके तरुखंडमें जा पहुँचे। वहींपर एक दिन रात्रिको भगवान् गोवर्धननाथने स्वयं प्रकट होकर कहा कि आप ब्रजमें जाकर मेरी सेवाका प्रकार निश्चित कीजिए। भगवान्की यह आज्ञा सुन और शिरोधार्य करके अपने सब शिष्योंके साथ वे ब्रजमें जा पहुँचे और वहाँ शास्त्रके अनुसार भगवान् गोवर्धननाथकी सेवाकी विधि अपने शिष्योंको बताकर वहाँ से पुनः लौटकर मिथिला, अयोध्या आदि होते हुए गुजरात जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने शिष्यवृन्दको प्रेरित करके स्थान-स्थानपर विशाल और भव्य

श्रीकृष्ण-देवालय स्थापित कराए और अनेक प्रदेशोंमें घूमते हुए बदरिकाश्रम जा पहुँचे। इसी समय सनातनधर्मके वैरी यवनोंने अनेक मन्दिरोंको ध्वंस करके जो मूर्तियाँ पृथ्वीमें फेंक दी थीं उन सबका संचयन करके उन्होंने उनकी प्रतिष्ठा कराई। यद्यपि तत्कालीन यवन-समाज उनके इस बढ़ते हुए प्रताप, तेज तथा धर्म-प्रचारसे बहुत रुष्ट तथा क्षुब्ध था किन्तु आचार्यचरणके तेजके सम्मुख उनकी एक न चली और जिस वेगसे उन्होंने धर्म-प्रचार प्रारम्भ किया था वह और भी अधिक गतिशील होकर नित्य नई शक्तिके साथ संवर्धित होने लगा।

६

षष्ठ अध्याय

श्रीनाथजीका आविर्भाव

श्रीमद्भागवतकी वह कथा तो लोक-विदित ही है कि जिस समय इन्द्रने व्रजमण्डल पर कोप करके धुआँधार जल बरसाना आरम्भ किया था उस समय भगवान् श्रीकृष्णने अपनी कनिष्ठिका उँगलीपर गोवर्धन पर्वत धारण करके उसकी छायामें गोप और गोपियों को प्रतिष्ठित करके इन्द्रके कोपसे उनकी रक्षा की थी। भक्तोंका विश्वास है कि भगवान्‌ने जो श्रीनाथका रूप धारण करके गोवर्धन धारण किया था वही भगवान्‌का स्वरूप आज श्रीनाथद्वारामें विद्यमान है। फलतः आचार्य-चरणने भी जिस रूपमें भगवान्‌की स्थापना की है वह भी यही है।

इस मूर्तिकी कथा बड़ी विचित्र है। एक बार सौभाग्यशाली व्रजवासी सद्दू पांडेकी गौ इधर-उधर गोवर्धन पर्वतपर चरती हुई सायंकाल तक बहुत देरसे घर लौटी। धीरे-धीरे उस गौका यही निश्चित क्रम हो गया। यद्यपि वह गौ बहुत दुधार थी और उसे कोई रोग भी नहीं था फिर भी कुछ विचित्र बात यह हो गई कि वह एक बूँद दूध नहीं उतारती थी। यह देखकर सद्दू पांडेको बड़ी चिन्ता

हुई और उसने बहुत झाड़-फूंक, टोना-टोटका, औषध-जड़ी आदि उपाय भी किए पर कोई प्रयत्न सफल नहीं हो पाया। तब सदू पांडेने मनमें सोचा कि हो न हो निश्चय ही कोई चोर नित्यप्रति मेरी सीधी गौको दुह लेता है। फिर क्या था, चोरको रँगे हाथ पकड़नेके लिये चोरी-चोरी सबकी आँख बचाता हुआ वह अगले दिन गायके पीछे-पीछे हो लिया। दिन ढलने लगा किन्तु चोरका कोई चिह्न नहीं। पर साँझ होते-होते वह देखता क्या है कि वह गोवर्धन पर्वत पर चरती-चरती घर लौटते समय एक स्थान पर खड़ी हो गई है और उसके थनोंसे उसका दूध नीचे झरझर-झरझर गिर रहा है। यह सब देखकर सदू पांडेके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। आगे बढ़कर जब वह उस स्थलपर पहुँचता है तो देखता क्या है कि शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि लक्षणोंसे पूर्ण भगवान्‌की एक दिव्य भुजा ऊपर उठी हुई है। ताबड़-तोड़ वहाँसे अपने गाँव आकर उसने अपने पास-पड़ोस और इष्ट मित्रोंको यह अलौकिक चमत्कारकी कथा कह सुनाई। जिसने सुना वही यह अलौकिक दृश्य देखनेको उत्कंठित हो उठा। जिसे देखो वही गोवर्धन पर्वतपर यह चमत्कार देखने चला आ रहा है। वहाँ आकर उस निकली हुई भुजाको देखकर सबने विचार किया कि यह मूर्ति निकाल लेनी चाहिए। वे लोग विचार कर ही रहे थे कि उसी समय वहाँ तपस्या करनेवाले एक बूढ़े तपस्वीने उन लोगोंको रोकते हुए कहा—'भाइयो! संसारमें जो कुछ होता है सब भगवान्‌की इच्छासे होता है, उनकी इच्छाके बिना पत्तातक नहीं हिलता। इसलिये जब समय आवेगा तब भगवान् स्वयं प्रकट हो जायँगे। इन्हें अभी ज्योंका त्यों रहने दो।' उनकी बात सुनकर सब ब्रजवासी शान्त हो गए और उस दिनसे उन्होंने उसी भुजाकी पूजा प्रारम्भ कर दी। दैव-संयोगकी बात यह हुई कि जिस दिन चम्पारण्यमें श्रीमद्आचार्य-चरणका प्रादुर्भाव हुआ उसी

श्रीमदआचार्य-चरण का प्रादुर्भाव हुआ उसी दिन गोवर्धन पर्वतपर उस मूर्तिका मुख भी प्रकट हो गया। मुख प्रकट होनेकी आश्चर्यजनक लीला देखकर ब्रजवासी बड़े प्रसन्न हुए और सोचने लगे कि बस मूर्तिके प्रकट होनेका अवसर भी आ पहुँचा है। भगवान्‌की इच्छाके अनुसार जब श्रीमद् आचार्यचरण तीसरी पृथ्वी-प्रदक्षिणाके प्रसंगमें वैद्यनाथ धाम पहुँचे उसी समय भगवान् देवकीनन्दनने स्वयं प्रकट होकर उनसे कहा कि मैं गोवर्धन पर्वतपर अभी अलक्ष्य विराजमान हूँ। मुझे प्रकट करके मेरी पूजाकी विधि व्यवस्थित कर दो। श्रीमद् आचार्य-चरणने तत्काल भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य की और वहाँसे मथुरा जा पहुँचे। उन दिनों मथुरा प्रदेशकी दशा बड़ी दयनीय थी। यवनोंके अत्याचारसे सब लोग बड़े त्रस्त और भयभीत थे। महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्यजीके आनेपर वहाँ के प्रसिद्ध नागरिक उनकी शरणमें पहुँचे और उनकी अपनी व्यथा सुनाने लगे। महाप्रभुने अत्यन्त शान्ति और करुणाके साथ उनकी उत्पीडन-कथा सुनकर उन सबको बहुत सान्त्वना दी और आश्वासन दिया कि डरनेकी कोई बात नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं प्रतिज्ञा की है —

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

[जब-जब धर्मकी हानि होगी और अधर्मकी वृद्धि होगी तब-तब मैं अवतार धारण करूँगा और साधुओंकी रक्षा, पापियोंके विनाश तथा धर्मकी संस्थापनाके लिये युग-युग मे प्रकट हूँगा।] इसलिये आप लोगों को चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

वहीं मथुरामें ही उन्होंने गोवर्धन पर्वतपर भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके आविर्भावका यह विवरण भी सुना—"कहा जाता है कि श्रावण कृष्णा तृतीया, रविवार संवत् १४६६विक्रमी सूर्योदयके समय श्रवण नक्षत्रमें गोवर्धन पर्वतपर श्रीगोवर्धननाथजीकी ऊर्ध्व भुजा प्रकट हुई किन्तु उसका दर्शन विचित्र संयोगसे हुआ। गोवर्धन पर्वतसे पूर्वकी ओर लगे हुए आन्योर नामक ग्रामका एक ब्रजवासी अपनी गऊ खोजता हुआ जब गोवर्धन पर्वतपर पहुँचा तब उसने श्रावण शुक्ला पंचमी (नाग पंचमी) संवत् १४६६ के दिन श्रीगोवर्धननाथजीकी ऊर्ध्व भुजाका दर्शन किया। सोलह दिनोंतक जब यह बात किसीको नहीं ज्ञात हो पाई तब उसने विचार किया कि सोलह दिन तक किसीने भी इस भुजाके दर्शन नहीं किए इसका तात्पर्य यह है कि यह कौतुक अबतक गिरिराजमें किसीने देखा नहीं। यह सोचकर वह और भी अपने साथी ब्रजवासियोंको बुला लाया। उन सबको भी उस उठी हुई भुजाका दर्शन करके बड़ा आश्चर्य हुआ। सबने मिलकर यह अनुमान किया कि हो न हो कोई देवता गिरिराजपर प्रकट हुए हैं। उसी समय वहाँके एक वृद्ध ब्रजवासीने उन लोगोंसे कहा कि 'यह ऊर्ध्व भुजा साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णजीकी है। जब सात दिन तक भगवान् श्रीकृष्णने अपनी कनिष्ठिका उँगलीपर गिरिराजको उठाए रक्खा और भयंकर मेघ-वृष्टि समाप्त हो चुकी तब उन्होंने अपनी भुजा भूमिपर टेक दी और सभी ब्रजवासियोंने मिलकर उस भुजा का पूजन किया। वही यह भुजा है। वे स्वयं इस गोवर्धन पर्वत की कन्दराओं में विराजमन हैं। उन्होंने बड़ी कृपा करके आप लोगोंको इस ऊर्ध्व भुजाका दर्शन दिया है। इसलिये आप लोग उसे निकालनेका विचार मत कीजिए। समय पाकर वे स्वयं प्रकट हो जायँगे। तबतक आप लोग इस भुजाका ही दर्शन और अर्चन करते रहिए।'

यह सुनकर उन ब्रजवासियोंने दूध मँगवाकर उस ऊर्ध्व भुजाको स्नान कराया, अक्षत, पुष्प, चन्दन और तुलसीसे भुजाका पूजन किया तथा दधि और फल मँगाकर उस भुजाके आगे भोग स्थापित किया। इस भुजाका दर्शन नाग-पंचमीके दिन हुआ था इसलिये नाग-पंचमीके दिन यहाँ प्रति वर्ष दस-बीस सहस्र ब्रजवासियोंका विशाल मेला लगता है। इस भुजाके प्रति ब्रजवासियोंकी इतनी गम्भीर और सात्त्विक निष्ठा तथा इतना अधिक विश्वास है कि ब्रजमें जब किसी भी व्यक्तिको किसी प्रकारकी कामना होती है तो वह इस भुजाको पयःस्नान कराकर जो मान्यता मानता और कामना करता है वह सिद्ध हो जाती है। किसीकी गाय खो जाय, पुत्र न हो, शारीरिक व्याधि हो, दूध-दहीका कष्ट हो तो वह जाकर भुजाकी मानता मानता है और उसके सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। यह भुजाकी पूजा संवत् १५३५ तक चलती रही।

"संवत् १५३५ विक्रमीकी वैशाख कृष्णा एकादशी, गुरुवारके दिन जब चम्पारण्यमें श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका अवतार हुआ उसी दिन मध्याह्न कालमें शतभिष नक्षत्रके अभिजित् योगमें गोवर्धन पर्वतपर श्रीगोवर्धननाथजीका मुखारविन्द प्रकट हुआ। हमारे यहाँ आन्योर गाँवमें माणिकचन्द और सदू पांडे नामके दो ब्रजवासी इतने धनाढ्य हैं कि उनके यहाँ सहस्रों गौओंके झुंड हैं। उनमें एक धूमर नामकी गाय श्रीनन्दरायजीकी गौओंके कुलकी थी। उसकी कुछ ऐसी विलक्षण प्रवृत्ति थी कि वह दिन भर तो अन्य गायोंके साथ चरती किन्तु जब चार घड़ी दिन शेष रह जाता तो गौओंके समूहसे हटकर गिरिराज गोवर्धनपर चढ़कर श्रीनाथके मुखारविन्दपर अपना थन करके दूध छोड़ने लगती थी। इसी प्रकार प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें भी वह यही किया करती थी। जब सदू पांडेने देखा कि

गायका दूध कम हो गया है और उतर नहीं रहा है तो वे गायके पीछे-पीछे हो लिए और वहाँ जाकर उस गौका यह अलौकिक आचरण देखकर अत्यन्त श्रद्धा-विह्वल होकर आश्चर्य-मग्न हो गए और अपना भाग्य सराहने लगे।

"सदू पांडेयको साक्षात् श्रीनाथजीने दर्शन देकर उपदेश दिया कि मैं श्रीगोवर्धन पर्वतपर रहता हूँ। मेरा नाम देव-दमन, इन्द्र-दमन और नाग-दमन है। इन्द्रके गर्वका शमन करनेके कारण इन्द्र-दमन, कालिय नाग, कुवलयापीड नाग (हाथी) तथा भक्तोंके मन-मतंगका दमन करनेके कारण नाग-दमन और सब देवोंका दमन करनेके कारण देव-दमन है। आजतक तो तेरी गाय ही मुझे दूध पिला जाती थी पर आजसे इसी गायका दूध पिलवानेकी तुम व्यवस्था करो। सदू पांडेने साष्टांग दंडवत् करके यह आज्ञा शिरोधार्य की और नीचे आन्योरमें आकर अपनी पत्नी भवानी और पुत्री नरोको सविस्तर यह वृत्तान्त सुनाकर उन्हें यह आदेश दिया कि तुम लोग दोनों समय जाकर श्रीनाथजीको दूध पिला आया करो। उस दिनसे नित्य नरो और भवानी दूध लेकर श्रीगिरिराजके ऊपर जाकर श्रीनाथजीको पिला आती थीं।

"ऐसा करते-करते कुछ दिनोंमें जब वह गाय सूख गई तब अन्य गायका दूध लेकर सदू पांडे दूध पिलाने आए किन्तु श्रीनाथजीने आज्ञा दी कि मैं तो उसी गायका दूध पीता हूँ जो श्रीनन्दरायजीकी गौओंके कुलकी हो। व्रजमें उस कुलकी एक दूसरी गाय है जो कल तुम्हारे खिरिक (गो-समूह) में आवेगी। इसलिये जबतक तुम्हारी पहली गाय ब्यावे तबतक तुम उसी गायका दूध नित्य-प्रति पिला जाया करो।

"ब्रजमें ही जमुनावती गाँवमें कुम्भनदासके काका और चतुरा नागाके शिष्य अत्यन्त भगवद्भक्त धर्मदास नामक ब्रजवासीकी दो-चार सौ गौओंमें एक गाय श्रीनन्दरायजीके कुलकी थी जो गौओंके झुण्डमें से अलग होकर श्रीनाथजीके मुखारविन्दमें दूध छोड़कर वहाँ बैठी रह गई, घर नहीं लौटी। तब धर्मदासको बड़ी चिंता हुई और वे दस वर्षके बालक कुम्भनदासको साथ लेकर उस गौको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गोवर्धन पर्वतपर जा पहुँचे। वहाँ जाकर देखते क्या हैं कि वह गौ श्रीनाथजीके पास बैठी है और अनेक उपाय करनेपर भी वहाँसे चलनेको प्रस्तुत नहीं है। तब भगवान् श्रीनाथजीने धर्मदासके मनमें यह प्रेरणा की कि यह गौ तुम सदू पांडेके झुण्डमें भेज दो, इसका दूध मैं ग्रहण करूँगा। उन्होंने कुम्भनदासको भी आज्ञा की कि तुम नित्य मेरे पास खेलने आया करो। धर्मदासने परिक्रमा करके और साष्टांग दंडवत् करके वह गौ सदू पांडेके झुण्डमें भेज दी और घर लौट गए।"

यह कथा सुनकर श्रीमद्वल्लभाचार्यजीको बड़ा कुतूहल हुआ और वे अपने शिष्योंके साथ बड़ी धूम-धामसे गायन, वादन, नृत्य तथा कीर्त्तनकी ध्वनिके साथ गोवर्धन पर्वतकी ओर चल दिए। अपने शिष्यों और भक्तोंका यह उल्लास और उत्साह देखकर और भगवान्की इस भूमिपर उनकी सहस्रों लीलाओंका स्मरण करके महा-प्रभुके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह चले। धीरे-धीरे हिलते हुए शमीके वृक्षों और करील-की झाड़ियोंसे लहलहाते हुए, असंख्य कामधेनुओंके समान गौओंसे परिपूर्ण, निर्मल शिलाओंकी धारियोंसे लहराते हुए, हरी दूबके मखमली प्रसारसे अलंकृत, रंग-विरंगी चूनरियोंसे भूषित ग्वालिनियोंकी चहल-पहलसे मुखरित श्रीगोवर्धन पर्वतका साक्षात् दर्शन करके भगवान् वल्लभाचार्यजीने उसे प्रणाम किया

और तन्मय तथा आनन्दमग्न होकर भगवान्‌की मगल-स्तुति करने लगे। सदू पांडे नामक जिस ब्रजवासीने सर्वप्रथम भगवान्‌की भुजाका दर्शन किया था वही आगे-आगे मार्ग दिखलाता चलने लगा और उसके पीछे आचार्य-चरण, उनके सब शिष्य और अपार जन-समूह उमड़ा चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर महाप्रभुने देखा कि भगवान्‌की मूर्ति सामने पूरी प्रकट हुई विराजमान है। फिर क्या था! आचार्य-चरण उनके चरण-कमलोंमें गिर पड़े। तत्काल उन्हें भगवान्‌की दिव्य वाणी अन्तःकरणमें सुनाई पड़ी—'वत्स श्रीवल्लभ! आप इस संसारमें मेरी भक्तिका प्रचार करनेके लिये अवतीर्ण हुए हो। आजतक आपने भारतवर्षमें घूम-घूमकर सारी लोक-स्थिति भली प्रकार समझ ली है। हमारे पुष्टिमार्गमें साक्षात् हमारी सेवा ही एक मात्र विहित कार्य है। इस मार्गमें सेवाके बिना मेरी कृपा नहीं प्राप्त होती। इसलिये आप मुझे मन्दिरमें प्रतिष्ठित करके यहींसे पुष्टि-मार्गके सम्प्रदायका प्रवर्तन करें।'

यद्यपि उस समय महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीके पास इतना धन तो था नहीं कि वे तत्काल बहुत बड़ा मन्दिर बनवाकर उसमें श्रीनाथजीकी स्थापना कर देते तथापि उन्होंने तत्काल सब ब्रजवासियों-की सहायतासे एक छोटा-सा सुन्दर मन्दिर बनाकर वहाँ श्रीनाथजीको प्रतिष्ठित कर दिया और अपने सब शिष्योंको उनकी सेवाकी विधि बताकर स्वयं भगवान् श्रीनाथकी आज्ञा लेकर पृथ्वी-पर्यटनके लिये चल दिए। इस यात्रामें वे जहाँ-जहाँ भी गए वहाँ-वहाँ उन्होंने श्रीकृष्णजीकी मूर्तियाँ प्राप्त होते ही उनकी स्थापना करा दी।

किन्तु भगवान् श्रीनाथजीके लिये छोटा-सा मन्दिर बनवाकर श्रीमद्वल्लभाचार्यजीको सन्तोष नहीं हुआ। उनके मनमें यही बड़ी

ग्लानि रही कि साक्षात् जगदीश्वरके लिये मैंने ऐसा साधारणसा देवालय बनाया है जो उनकी मर्यादाके तनिक भी अनुकूल नहीं है। भगवान्‌की कुछ ऐसी इच्छा कि उसी समय भगवान् श्रीनाथजीकी प्रेरणासे अम्बालेके निवासी लाला पूरणमलने स्वयं वहाँपर विशाल मदिन्र बनवानेका संकल्प किया और मन्दिरके निमित्त बहुत-सा धन संग्रह करके महाप्रभुके लौटनेपर मन्दिर बनाना निश्चय कर लिया।

जब आचार्य-चरण तीर्थोंमें घूमते-घामते अम्बाले पहुँचे तो लाला पूरणमल भी उनके दर्शनके लिये उनकी सेवामें जा पहुँचे और उनसे निवेदन करने लगे कि 'भगवान्‌ने मुझे श्रीनाथजीका मन्दिर बनवानेकी प्रेरणा दी है।' यह सुनकर आचार्य-चरणको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने बड़े हर्षसे मन्दिर बनवानेकी आज्ञा दे दी। इसी बीच भगवान् श्रीनाथजीने आचार्य-चरणको भी प्रेरणा दी कि यद्यपि आपने अपने शिष्योंको मेरी सेवाकी विधि तो समझा दी है पर वह अभी पूर्ण रूपसे व्यवस्थित नहीं हो पाई है। इसलिये आकर मेरी सेवाकी व्यवस्था ठीक करके तब कहीं तीर्थाटन करने जायँ। यह प्रेरणा पाते ही महाप्रभु तत्काल बीचसे ही लौटकर श्री-गोवर्धन पर्वतपर चले आए और स्वयं नियम-पूर्वक सेवामें संलग्न हो गए। उसी समय परम भक्त पूरणमल भी एक लाख रुपया लेकर वहाँ मन्दिर बनानेके लिये आ पहुँचा। आचार्य-चरणकी आज्ञासे मन्दिर बनना आरम्भ हो गया। किन्तु जिस आकार-प्रकारका मंदिर बनना आरम्भ हुआ उसे देखते हुए एक लाख रुपया बहुत कम था। अतः धीरे-धीरे सब धन समाप्त हो गया और वह मन्दिर अधूरा ही रह गया। किन्तु पूरणमलने साहस नहीं खोया। वह और अधिक धन अर्जित करनेके लिये दक्षिणकी ओर चल दिया।

श्रीगोवर्धन पर्वतपर रहते हुए एक दिन महाप्रभु वल्लभाचार्य-जीके मनमें यह भगवत्प्रेरणा हुई कि भगवान्‌के भोगकी व्यवस्थाके लिये एक गौ मँगाई जाय। यह विचार मनमें आते ही उन्होंने तत्काल अपने परम भक्त सद्दू पांडेको बुलाकर और स्वर्ण-मुद्राएँ देकर कहा कि हमारे लिये एक शुभ लक्षणोंवाली गौ लाकर दो। वह बोला कि मेरे पास अनेक सुन्दर गौएँ हैं, जो आप चाहें ले लीजिए। किन्तु आचार्य-चरणने कहा कि मैं जैसी सुस्वरूपा गौ बताता हूँ वैसी ही लाकर दो। अपने गुरुकी आज्ञा मानकर सद्दू पांडे वैसे ही लक्षण-वाली गौकी खोजमें चल दिया और एक गौ मोल ले आया। उस दिनसे उसीका दूध भगवान् श्रीनाथजीको भोगमें दिया जाने लगा। फिर तो आचार्यचरणके शिष्य एक पर एक सुन्दर गौ लाकर देने लगे और वहाँ पूरा गोधन ही संगृहीत हो गया। इस प्रकार गोवर्धन पर्वतपर भगवान् श्रीनाथकी सेवा करते हुए वे बहुत दिनोंतक ठहरे रहे और फिर वहाँसे भगवान्‌की आज्ञा लेकर काशी लौट आए और वहीं रहने लगे।

काशीमें निवास करते हुए आचार्य-चरणकी पत्नी श्रीमती महा-लक्ष्मीकी कोखसे श्रीगोपीनाथ नामक पुत्रका जन्म हुआ और उसके दो वर्ष रश्चात् उन्हींकी परम पवित्र कुक्षिसे स्वयं भगवान् विट्ठलेश आविर्भूत हुए इसलिये महाप्रभुने उनका नाम श्रीविट्ठलेश ही रख दिया। अपने इन दोनों सल्लक्षण पुत्रोंको भागवत सम्प्रदायके अनुरूप सम्पूर्ण वेद-शास्त्र आदिकी शिक्षा देकर उन्होंने सर्व-विद्या पारंगत कर दिया। कुछ समय पश्चात् आचार्य-चरणने पुनः ब्रज-यात्रा करनेका विचार किया और अपने साथ अपने अनेक भक्तों और शिष्योंको लेकर पहले प्रयाग पहुँचे जहाँ उन्होंने महायज्ञ और ब्राह्मण-भोजन कराया और दूर-दूरसे आए हुए विद्वानोंको दक्षिणा

दी। फिर गोवर्धनधारी श्रीनाथजीके दर्शनकी तीव्र उत्कंठाके कारण वे शीघ्र ही ब्रजमंडलमें श्रीगोवर्धन पर्वतपर जा पहुँचे और वहाँपर पुनः यथापूर्व श्रीनाथजीकी सेवा करने लगे।

इसी बीच लाला पूरणमलने भी दक्षिणकी ओरसे अपार धनराशि अर्जित करके शीघ्र ही वह श्रीनाथजीका मन्दिर पूर्ण करा दिया जिसमें पत्थरमें बेल-बूटे खोदकर उसके ऊपर चन्दनकी लकड़ी जड़ी गई थी। मन्दिर बन चुकनेपर आचार्यचरणने उस अत्यन्त सुन्दर तथा भव्य देवालयमें भगवान् श्रीनाथजीकी प्रतिष्ठा करके उनके निर्देशके अनुसार उनकी सेवाकी सब व्यवस्था कर दी। लाला पूरणमलको भी यह प्रसन्नता हुई कि मेरे धनका उचित उपयोग हो गया क्योंकि धनकी सफलता इसी बातमें है कि वह अच्छे लोक-कल्याणकारी काममें लगे। उसकी निष्ठासे प्रसन्न होकर आचार्य-चरणने उसे आशीर्वाद भी दिया कि 'जबतक संसारमें सूर्य और चन्द्र रहेंगे तबतक तुम्हारा यश बना रहेगा। इसके अतिरिक्त यदि तुम्हारी कुछ इच्छा हो तो बताओ मैं अवश्य तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा।'

यह सुनकर भक्त पूरणमल अत्यन्त विनयके साथ हाथ जोड़कर बोला—'भगवान्! मुझे किसी सांसारिक वस्तुकी इच्छा नहीं है किन्तु मैं बड़े प्रयत्नसे बड़ी दूरसे चन्दन तथा अन्य सुगन्धित पदार्थ लाया हूँ जिन्हें मैं अपने हाथसे भगवान् श्रीनाथजीके शरीरपर लगानेकी आकांक्षा करता हूँ। यदि नियममें कोई बाधा न हो और अनुचित

न हो तो मुझे इतनी आज्ञा दी जाय ।' आचार्य-चरणने तत्काल उस भक्तकी इच्छा स्वीकार कर ली और उसे भगवान्‌की सेवा करनेका आदेश दे दिया। फिर क्या था, परम भाग्यशाली पूरणमलने अत्यन्त पवित्र भावसे स्नान करके बड़ी विधि और बड़े प्रेमसे चन्दन और गन्धसे परम पवित्र श्रीगोवर्धनधारी भगवान् श्रीनाथजीके शरीरपर अनुलेपन करके उनकी पूजा की और उनके गलेमें अत्यन्त दुर्लभ मोतियों और रत्नोंका बहुमूल्य हार पहना दिया। अगले दिन आचार्य-चरणने भगवान् श्रीनाथजीके शरीरपरसे उतारा हुआ सारा चन्दन लाला पूरणमलको दे दिया और जितने बहुमूल्य वस्त्र आदि थे वे भी उसे प्रसाद रूपमें दे दिए। वह प्रसाद ग्रहण करके लाला पूरणमल अपनेको धन्य और कृतकृत्य मानने लगे और प्रसाद लेकर अम्बाले लौट आए।

इस प्रकार गोवर्धनधारी श्रीनाथजीकी प्रतिष्ठा करके उनकी सेवाकी विधि और व्यवस्था सम्पन्न करके उन्होंने विचार किया कि भोगके लिये पाकशालामें किसी भक्तको नियुक्त करना चाहिए। इस कामके लिये जब आचार्य-चरणने सदू पांडेसे कहा तो वह बोला कि मैं तो अच्छा भोजन बनाना नहीं जानता। यहाँपर चैतन्य महाप्रभुके बंगीय ब्राह्मण शिष्य विद्यमान हैं। यदि आज्ञा हो तो उन्हें बुला लाऊँ। आचार्य-चरणकी आज्ञा पाकर वह उन ब्राह्मणोंको बुला लाया और वे भी आचार्ण-चरणकी आज्ञा सुनकर बड़े प्रसन्न और गद्‌गद हुए। उनमेंसे महाप्रभुने माधवेन्द्रपुरी नामक परम

वैष्णव भक्तको पाकशालामें नियुक्त कर दिया तथा अन्य भक्तोंमेंसे जो जिस प्रकारकी सेवाके लिये उपयुक्त था उसे उस प्रकारकी सेवामें नियुक्त करके और उन सबके योगक्षेमकी व्यवस्था करके सबके लिये भगवान श्रीनाथके प्रसादका अंश निश्चित कर दिया। इस प्रकार भगवान् श्रीनाथजीकी सेवाकी सारी व्यवस्था ठीक हो गई और और उनकी पूजा, अर्चना, भोग, आरती आदिकी विधि नियमित कर दी गई।

—:o:—

७

सप्तम अध्याय

पुष्टिमार्गका प्रचार

श्रीनाथ भगवान्‌के आविर्भाव होने तथा उनके लिये अत्यन्त दिव्य देवालय बन जानेपर सम्पूर्ण भारतमें विशेषतः उत्तरापथमें भक्तिकी अलौकिक लहर चारों ओर व्याप्त हो गई। सहस्रों, लाखों नर-नारी गिरिराज गोवर्धनपर समवस्थित भगवान् श्रीनाथजी-के दर्शनके लिये निरन्तर अगणित संख्यामें आने लगे और दर्शन पाकर अपना जन्म धन्य करने लगे। भगवान् श्रीनाथजीके सेवक पूरणमल आदि भक्तोंको भी हार्दिक सन्तोष हुआ कि उन्होंने जिस सद्‌वृत्तिसे मन्दिरका निर्माण कराया था वह भगवान्‌के अनुग्रहसे सफल हो गई।

भगवान् श्रीमद्‌वल्लभाचार्यजीने भी भारतीय जनताके हृदयमें भक्तिका यह संचार देखकर हृष्ट मनसे यह सन्तोष प्राप्त किया कि अब हमारे अवतारका आधा कार्य तो पूर्ण हो गया क्योंकि इस जगतीतलपर अज्ञानियोंके विशाल समुदायके उद्धारके लिये भक्ति-मार्गसे अधिक सुलभ कोई दूसरा मार्ग सम्भव नहीं है। इसलिये अब ऐसा उपाय भी करना चाहिए कि इस मार्गको निरन्तर चलते रहने देनेके लिये विद्वानोंका ऐसा समूह संवर्धित किया जाय जो श्रद्धाके

साथ इस मार्गका प्रतिपादन भी करे और समर्थन भी। भगवान् वेद-व्यासजीने जिस ब्रह्मसूत्रकी रचना की है उसपर अनेक भाष्य-ग्रन्थ निर्मित हो चुके हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने श्रीमद्भागवतकी रचना करके जन-साधारणका बड़ा उपकार किया है। ऐसी स्थितिमें यह अत्यन्त आवश्यक है कि विद्वानों और पण्डितोंको सन्तुष्ट करनेके लिये शास्त्रानुमोदित पांडित्यपूर्ण ग्रन्थोंका और साधारण जनताके ज्ञानवर्धनके लिये तथा भक्ति-मार्गका स्वरूप भली भाँति लोगोंको समझानेके लिये ऐसे ग्रन्थोंकी रचना की जाय जो अत्यन्त सरल और सुबोध हों। यह विचारकर आचार्य-चरणने सर्वप्रथम कर्मकाण्डवादी पूर्वमीमांसकोंका खंडन करनेके लिये जैमिनीय सूत्रोंपर भाष्य लिखा जिसमें यह प्रतिपादित किया कि सम्पूर्ण वेदका संदेश है एक मात्र परमात्माकी सब प्रकार सेवा करना।

इसके पश्चात् उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है श्री वेद-व्यासजी-द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रपर अणु-भाष्य नामक प्रसिद्ध भाष्य। यद्यपि ब्रह्मसूत्रपर लिखे हुए बारह भाष्य अभीतक प्राप्त हैं किन्तु अत्यन्त भक्तिरस-पोषक भाष्य अणुभाष्यके अतिरिक्त दूसरा नहीं है। जहाँ इसमें एक ओर उन्होंने भक्ति-मार्गका पोषण किया है वहीं उन्होंने अन्य भाष्यकारों-द्वारा प्रस्तुत किए हुए दोषोंका निराकरण भी किया है और अन्ततः यह प्रमाणित किया है कि सब प्राणियोंको अपने कल्याणके लिये भगवान् श्रीनाथजीका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए, वे ही मुक्ति दिला सकेंगे, दूसरा कोई नहीं।

अणुभाष्यके अतिरिक्त उन्होंने श्रीमद्भागवतकी 'सुबोधिनी' नामकी टीका भी लिखी है जो यद्यपि पूर्ण भागवतपर प्राप्त नहीं

है तथापि प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा दशम स्कन्धपर और एकादश स्कन्धके कुछ अध्यायोंपर अवश्य प्राप्त है। यह टीका इतने विद्वत्ता-पूर्ण ढंगसे लिखी गई है कि उसके पश्चात् भागवतपर कोई भी महत्त्वपूर्ण दूसरी टीका लिखी नहीं गई।

बहुतसे विद्वानोंने श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके ग्रन्थ-रत्नोंको दो विभागोंमें विभाजित किया है—एकमें उनके स्वतन्त्र प्रणीत ग्रन्थ हैं और दूसरेमें प्राचीन ग्रन्थोंपर किए हुए भाष्य अथवा विवरणात्मक ग्रन्थ। स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें उनके षोडश ग्रन्थ, निबन्ध और पत्रावलम्बन प्रधान हैं।

जिन दिनों श्रीमद्वल्लभाचार्यजी अड़ैल (प्रयाग) में रहते थे, उन दिनों ब्रह्मवादी या मायावादी वेदान्तियों तथा मीमांसकोंका बड़ा प्राधान्य था और वे निरन्तर आ-आकर उनसे शास्त्रार्थ भी करते थे। इस नित्यके शास्त्रार्थ-प्रकरणसे महाप्रभुकी भगवत्-सेवामें बड़ा व्याघात होने लगा। परिणाम यह हुआ कि आपने पत्रावलम्बन अर्थात् ब्रह्मवादका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ ले जाकर काशीमें भगवान् विश्वनाथजीके मन्दिरके द्वारपर चिपका दिया और तबसे नित्य-प्रति होनेवाले शास्त्रार्थका झमेला सदाके लिये समाप्त हो गया।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका दूसरा ग्रन्थ तत्त्वार्थ-दीप निबन्ध है जो कारिका और सूत्रके रूपमें संगृहीत है। उसकी रचना इसलिये की गई थी कि शिष्यगण पुष्टिमार्गके सब सिद्धान्तोंको सूत्र रूपमें कंठाग्र कर लें जिससे शास्त्रार्थ करनेमें सुविधा हो। इन कारिकाओंमें कुछ तो स्वयं आचार्य-चरणकी ही रची हुई हैं और कुछ नारद-पंचरात्र, श्रीमद्भागवत महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थोंसे उद्धत की गई हैं जिनमें

भक्ति-मार्गकी दृष्टिसे ब्रह्मवादका निरूपण और प्रतिपादन किया गया है। यह तीन भागोंमें विभक्त कर दिया गया है—शास्त्रार्थ, सर्व-निर्णय और भागवतार्थ। इनमेंसे शास्त्रार्थ भागमें गीता-शास्त्रका सम्पूर्ण तत्त्व निचोड़कर रख दिया गया है। दूसरे सर्व-निर्णय विभाग-में सभी दार्शनिक तत्त्वोंका विस्तृत और सूक्ष्म निर्णयात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है और तीसरे भागवतार्थ भागमें श्रीमद्भागवतके चार अर्थों—शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ और अध्यायार्थ—का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह भागवतार्थ-प्रकरण आचार्यश्रीने श्रीमद्भागवतकी सम्पूर्ण टीका लिख चुकनेके अनन्तर ग्रन्थ-बद्ध किया जिससे कि श्रीमद्भागवतका ठीक अर्थ समझनेमें बाधा न हो और उसपर की हुई सम्पूर्ण शंकाओंका निवारण भी किया जा सके।

आचार्यश्रीका तीसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ छोटे-छोटे सोलह ग्रन्थोंका समुच्चय है जिसे षोडश ग्रन्थ कहते हैं। इसमें १ श्री यमुनाष्टक, २ बालबोध, ३ सिद्धान्त-मुक्तावली, ४ पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद, ५ सिद्धान्त-रहस्य, ६ नवरत्न, ७ अन्तःकरण-प्रबोध, ८ विवेक-धैर्याश्रय, ९ पञ्च-पद्य, १० संन्यास-निर्णय, ११ कृष्णाश्रय, १२ चतुः-श्लोकी, १३ भक्तिवर्द्धिनी, १४ जल-भेद, १५ सेवाफल और १६ निरोध-लक्षण नामक सोलह ग्रन्थोंका समावेश है जिनमें अत्यन्त कुशलताके साथ श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने अपने सभी सिद्धान्तोंका सन्निवेश कर दिया है।

इस षोडश-ग्रन्थके अन्तर्गत जिन सोलह छोटी-छोटी रचनाओंका

समावेश किया गया है उनका परिचय प्राप्त कर लेनेसे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है—

१. यमुनाष्टकमें पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायमें परम पूजनीय श्रीयमुनाजीके स्वरूप और माहात्म्यका वर्णन किया गया है। श्रीयमुनाजी व्रजवासियोंके चतुर्थ यूथकी स्वामिनी हैं। उनका स्वरूप और उनके गुण वे ही हैं जो भगवान् यदुनन्दन कृष्णचन्द्रमें हैं। इतना ही नहीं श्रीयमुनाजी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी परम प्रेयसी प्रिया भी हैं। अतः, इस यमुनाष्टकका निरन्तर पाठ करनेसे देहकी शुद्धि होती है, भगवान्‌की सेवाका अधिकार प्राप्त होता है, निरन्तर पाठ करनेसे नवीन दिव्य देह प्राप्त होती है और भगवान् कृष्णमें स्नेह-बुद्धि उत्पन्न होती है।

२. बाल-बोधमें श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थोंका वर्णन करके काम और मोक्षको ही चारों पुरुषार्थोंमें मुख्य माना है और बताया है कि प्राकृतिक सुखका नाम ही काम और दुःखके अभावको ही मोक्ष कहते हैं। सुखका साधन अलौकिक कर्म ही धर्म है और इस धर्मका साधन अर्थ है। इसलिये धर्म और अर्थ भी पुरुषार्थ हैं। इस संसारमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही फल देनेवाले देवता माने गए हैं। इनमेंसे ब्रह्मा तो सृष्टि-कार्यमें लगे रहते हैं इसलिये केवल विष्णु और महेश ही पुरुषार्थ देनेवाले ईश्वर हैं। इनमेंसे विष्णु मोक्ष देते हैं और महेश भोग और ऐश्वर्य अर्थात् काम-पुरुषार्थका दान करते हैं। मोक्ष-शास्त्र भी चार प्रकारके माने गए हैं। इनमेंसे सांख्य और योग नामक दो शास्त्र

तो अपने किए हुए साधनोंसे ही मोक्ष दे सकते हैं किन्तु वैष्णव और शैव नामक दो शास्त्र एक दूसरेका आश्रय ग्रहण करनेसे ही पुरुषार्थ प्रदान करते हैं। इतना सब होनेपर भी भगवदीय वैष्णवोंके लिये तो परब्रह्म श्रीकृष्ण ही वास्तवमें सेव्य और आश्रय लेने योग्य हैं।

३. सिद्धान्त-मुक्तावलीमें बताया गया है कि प्रत्येक जीवको नवधा भक्ति करनी चाहिए—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

[भगवान् विष्णुके गुणों और उनकी लीलाओंका श्रवण, कीर्तन, नामका स्मरण, चरण-सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, उनसे सखा-भाव और उनके सम्मुख आत्मनिवेदन कर देना ही नौ प्रकारकी भक्ति है।] यह नवधा भक्ति पुष्टिमार्गीय तनुजा शरीरसे की जानेवाली भक्तिके अन्तर्गत आती है। यह तनुजा सेवा सदा वित्तजा (धनसे की जानेवाली) सेवाके सहित करनी चाहिए। अपनी शक्तिके अनुसार भगवान्‌की सेवामें द्रव्य लगाना ही वित्तजा सेवा कहलाती है और अपने शरीरसे प्रातःकाल भगवान्‌के मन्दिरमें झाड़ू देनेसे लेकर रातको सोनेतक भगवान्‌की सेवा करना ही तनुजा सेवा कहलाती है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक सब पदार्थोंमें प्रभु तथा प्रभुके सम्बन्धकी भावना करके नित्य नियमपूर्वक तनुजा और वित्तजा सेवा किया करता है उसके हृदयमें भगवान्‌के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और उसका चित्त भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाता है। यही सेवा सदा सौख्य और फल देनेवाली होती है। इसलिये प्रत्येक वैष्णवको यह चाहिए कि वह सम्पूर्ण जगत्‌को और अपने आत्माको परम अक्षर ब्रह्ममय भगवान्‌का लीलाधाम मानता हुआ भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करनेके

लिये तनुजा और वित्तजा सेवा करता रहे। ऐसे वैष्णवके हृदयसे थोड़े ही समयमें अहंकार, ममता आदि दोषोंका नाश हो जाता है और यह ज्ञान हो जाता है कि संसारके सब पदार्थ भगवान्‌के अक्षर धाम हैं। इतना ही नहीं भक्तको भगवान्‌की सेवा करते हुए सांसारिक पदार्थोंमें मोह, माया, ममता होनेके कारण बाधाएँ भी होती हैं पर उसका कर्तव्य है कि वह सब क्लेश सहन करते हुए भगवान्‌की सेवा करता रहे और इस सेवाका फल मिलने तथा सब प्रकारकी बाधाएँ दूर होनेके लिये श्रीमद्भागवतका पाठ या श्रवण करता हुआ अत्यन्त संतोषपूर्वक भगवान्‌की सेवा करता रहे।

४. पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेद नामक ग्रन्थमें पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा नामक तीनों मार्गोंका वर्णन किया गया है। जिस मार्गसे चलनेपर भगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त हो उसे पुष्टि-मार्ग कहते हैं और इस प्रकारका अनुग्रह प्राप्त किए हुए जीवको पुष्टिमार्गीय जीव कहते हैं। वेद-शास्त्रोंकी मर्यादा मानकर चलनेवाले जीवको मर्यादा मार्गीय कहते हैं और संसारकी देखा-देखी चलनेवाले जीवको प्रवाह-मार्गीय जीव कहते हैं। ऐसे जीव इस संसारमें जन्म तो लेते हैं किन्तु नून-तेल-लकड़ीके फेरमें पड़े हुए कभी यह विचार नहीं करते कि ईश्वर क्या है, मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, संसार क्या है, आदि। ऐसे आसुर जीवोंका काम बार-बार जन्म लेते और बार-बार मरते रहना ही है। ऐसे प्रवाहमार्गीय जीवोंके लिये सृष्टि और प्रलय तथा जन्म और मरणकी शृंखला कभी नहीं टूटती। ऐसे जीवोंकी सृष्टि अर्थात् आसुरी प्रवाह-विषयिणी सृष्टि सबसे अधम मानी गई है। ऐसी प्रवाही सृष्टिके भी बहुतसे भेद हैं। मर्यादा-मार्गीय मनुष्य वेद और शास्त्रमें निर्णीत मर्यादाओंके अनुसार ही ईश्वरको प्राप्त करनेकी विधियोंका पालन करते हैं। ऐसे लोग

अत्यन्त तपस्या करके जो भगवान्‌का अनुग्रह या उनकी कृपा प्राप्त करते हैं वह वास्तवमें बहुत ही अल्प और सामान्य होती है। किन्तु पुष्टि-मार्गीय जीव तो साक्षात् भगवान्‌की कृपासे पुष्ट बना रहता है और इस प्रकार वह निरन्तर भगवान्‌का प्रिय होकर अत्यन्त-सुख पूर्वक लीला-धाममें विचरण करता है।

५. सिद्धान्त-रहस्य नामक ग्रन्थमें बताया गया है कि संसारमें पाँच प्रकारके दोष होते हैं जिनकी निवृत्ति ब्रह्म-सम्बन्धसे ही सम्भव हो सकती है। यद्यपि दोषोंकी पूर्ण निवृत्ति तो निरन्तर थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करनेसे ही हो पाती है किन्तु जिस दिनसे गुरु इन दोषोंकी निवृत्तिका उपाय प्रारम्भ कर दे, उस प्रारम्भको ही ब्रह्म-सम्बन्ध कहते हैं। ब्रह्म-सम्बन्धके मन्त्रमें समझाया गया है कि यह सपरिकर जीव वास्तवमें ब्रह्म अर्थात् श्रीकृष्णका ही है। श्रीकृष्ण ही वास्तवमें जीवके उपजीव्य, स्वामी और अंशी हैं। इसलिये जीवको एक मात्र भगवान् श्रीकृष्णकी ही सेवा करनी चाहिए। वे ही जीवके सेव्य और सर्वस्व हैं। प्रत्येक जीवको समझना चाहिए कि मैं भगवान् श्रीकृष्णका उपजीवक, दास और अंश हूँ, इसलिये मैं श्रीकृष्णका ही सेवक हूँ और श्रीकृष्णने मुझे इसलिये जन्म दिया है कि मैं निरन्तर भगवान्‌की सेवा करता रहूँ। किन्तु संसारमें आकर यह जीव भी अहंकार और ममताके कारण अपने स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे अपने सेव्य-सेवकका सम्बन्ध भूल जाता है। इसलिये ब्रह्म और जीवके इस सम्बन्धको आचार्यके द्वारा स्मरण करानेवाला मन्त्र ही ब्रह्म-सम्बन्ध मन्त्र कहलाता है। प्रत्येक वैष्णवको निरन्तर इस सम्बन्धको स्मरण करते रहना चाहिए क्योंकि इस सम्बन्धके दृढ होनेपर ही सहज, देशकालोत्थ, लोकवेद-निरूपित, संयोगज और स्पर्शज नामक पाँचों दोषोंका निवारण हो जाता है।

६. नवरत्नके नव श्लोकोंमें बताया गया है कि जीवको कभी किसी प्रकारकी चिंता नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिन्होंने ब्रह्म-सम्बन्ध ग्रहण कर लिया है, उनके स्वामी श्रीकृष्णजी सदा जीवोंपर अनुग्रह करते ही रहेंगे और कभी उनका अहित नहीं होने देंगे।

७. अन्तःकरण-प्रबोधमें बताया गया है कि यदि कभी असावधानी से कोई जीव अपने प्रभुके प्रति कोई अपराध कर भी जाय तो अत्यन्त दीनता-पूर्वक भगवान्से क्षमा-याचना कर ले।

८. विवेक-धैर्याश्रयमें समझाया गया है कि विवेक, धैर्य और आश्रय किसे कहते हैं। जब मनुष्यके हृदयमें कामना या इच्छाओंका आवेश होता है उस समय जिस बौद्धिक प्रेरणसे मनुष्यके हृदयमें दृढता उत्पन्न होती है उसे विवेक कहते हैं। दुःखके समय जो दृढता बनी रहती है उसे धैर्य कहते हैं। इन दोनों प्रकारकी दृढताओंके सिद्ध होने से ही भगवान्का आश्रय सिद्ध होता है।

९. पञ्चपद्यमें भगवत्कथाके श्रोताओंका वर्णन करते हुए बताया गया है कि प्रभुका गुण-गान करनेवाले श्रोताओंमें उत्तम श्रोता वह है जो भगवान्में अत्यन्त आसक्त रहता है और जिसे लौकिक या वैदिक फलकी आकांक्षा नहीं रहती।

१०. संन्यास-निर्णय ग्रन्थमें बताया गया है कि भली प्रकार पूर्णतः सब कुछ छोड़ देनेको संन्यास कहते हैं। किन्तु यह असम्भव होता है क्योंकि जबतक यह देह विद्यमान है जबतक किसी न किसी

प्रकारकी इच्छा या वासना बनी रहनी स्वाभाविक है। अतः, भक्ति सिद्ध करनेके लिये संन्यास लेना उचित नहीं है क्योंकि गृहका आश्रय लिए बिना नवधा भक्ति नहीं हो सकती। भक्ति-मार्गमें फलात्मक संन्यास लेनेका भी विधान है। उसके अनुसार भगवान्‌का पूर्ण स्नेह प्राप्त होना ही फल कहलाता है। यह स्नेह दो प्रकारका होता है—संयोगज और विरहज। भगवान्‌से अत्यन्त स्नेह होनेके पश्चात् उनके विरहका आनन्द अनुभव करनेके लिये यदि संन्यास लिया जाय तो वह बहुत ठीक है। इस प्रकारके संन्यास लेनेमें न तो गेरुआ रँगानेकी आवश्यकता पड़ती है, न दंड-कमंडलु ग्रहण करनेकी और न वेश-परिवर्तन करनेकी। फिर भी अपने आत्मीय लोगोंकी चित्त-वृत्ति बदलनेके लिये यदि संन्यास ले लिया जाय तो कोई हानि नहीं है।

११. कृष्णाश्रयमें यह निरूपण किया गया है कि जीवके एक मात्र रक्षक श्रीकृष्ण ही हैं इसलिये जीव-मात्रको भगवान् श्रीकृष्णजीकी ही शरणमें जाना चाहिए। लोक, देश, काल, तीर्थ, मन्त्र और सत्-पुरुष सब कलियुगके दोषसे दूषित हो गए हैं इसलिये भगवान् ही सदा रक्षक और सेव्य हैं।

१२. चतुःश्लोकी ग्रन्थमें चार श्लोकोंके द्वारा पुष्टि-मार्गीय चारों पुरुषार्थोंका वर्णन करते हुए बताया गया है कि भक्ति-मार्गमें भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करना ही धर्म है, भगवान् श्रीकृष्ण ही वैष्णवोंके लिये अर्थ हैं, उनके मुखारविन्दका दर्शन ही वैष्णवोंके लिये काम है और भगवान्‌के वास्तविक दासोंमें स्वीकार कर लिया जाना ही पुष्टि-मार्गीय मोक्ष है।

१३. भक्ति-वर्धिनीमें भगवान्‌के प्रति भक्ति बढ़ानेके उपाय बताए गए हैं।

१४. जलभेदमें विवेचन किया गया है कि जो लोग भगवान्‌का वर्णन करते और उनका गुणगान करते हैं उनके अन्तःकरणमें बहुत भेद होता है। इसलिये स्वभावतः भगवान्‌के गुणोंमें भी भेद हो जाता है और यही कारण है कि भिन्न व्यक्तियोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके फल प्राप्त होते हैं।

१५. सेवा-फल नामक ग्रन्थमें यह निरूपण किया गया है कि भगवान्‌के साथ आनन्दमय विहार और भोजन आदि करना ही सेवाका सर्वोत्तम फल है। इसके पश्चात् भगवान्‌के साथ सायुज्य (ब्रह्मके साथ एक होनेकी स्थिति) प्राप्त करना मध्यम फल और भगवान्‌की सेवाका अधिकार ही कनिष्ठ फल है। सेवाके लिये उपयोगी अक्षरात्मक देहको ही अधिकार कहते हैं। जिस प्रकार भगवान् रक्खें उसी प्रकार रहना सेवकका धर्म है।

१६. निरोध-लक्षण ग्रन्थमें बताया गया है कि संसारका विस्मरण करके भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परम एकान्त आसक्तिको ही निरोध कहते हैं। सेवा, श्रवण, कीर्तन और स्मरणका मुख्य उद्देश्य निरोध प्राप्त करना ही है अर्थात् पुष्टि-मार्गका सच्चा फल भगवान् श्रीकृष्णमें निरोध या आसक्ति होना ही है। इस निरोधकी तीन कक्षाएँ होती हैं—प्रेम, आसक्ति और व्यसन। भगवान्‌के सम्बन्धमें निरुपाधि स्नेहको प्रेम कहते हैं जो भगवान्‌का माहात्म्य जाननेसे उत्पन्न होता है। वह प्रेम ज्यों-ज्यों बढ़ता चलता है त्यों-त्यों संसारके पदार्थोंसे स्नेह हटता चलता है और भगवान्‌की ओर दृढ़ होता चलता है। यह प्रेमकी दृढ़ताकी स्थिति ही आसक्ति कहलाती है और जब पूर्ण रूपसे मन भगवान्‌में रँग जाय और उस भगवान्‌के बिना एक क्षण भी कष्टमय प्रतीत होने लगे अथवा भगवान् के बिना कुछ भी अच्छा

न लगे उसे व्यसन कहते हैं। इस दृष्टिसे पुष्टिमार्गमें निरोधका बड़ा महत्त्व है।

इन सोलह ग्रन्थोंके अतिरिक्त उन्होंने पुरुषोत्तम-सहस्रनाम भी लिखा है जिसके २५६ श्लोकोंमें पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके १००० नाम हैं और अत्यन्त संक्षेपमें श्रीमद्भागवतका तात्पर्य भी है। त्रिविध नामावली ग्रन्थके १०८ श्लोकोंमें उन्होंने भगवान्की बाल-लीला प्रौढ़-लीला और राज-लीलाओंका वर्णन किया है। मधुराष्टकके ८ श्लोकोंमें भगवान्के समस्त अंगोंको मधुर और आनन्दमय बताते हुये वर्णन किया गया है।

यह निरूपित किया जा चुका है कि श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके विवरणात्मक ग्रन्थोंमें अणुभाष्य बहुत महत्त्वपूर्ण है जो भगवान् व्यासके ब्रह्म-सूत्रोंपर अत्यन्त प्रामाणिक और पांडित्यपूर्ण भाष्य है। यह ग्रन्थ वे स्वयं तो पूर्ण नहीं कर सके किन्तु उनके सुपुत्र श्रीविट्ठल-नाथजीने उसे पूर्ण कर दिया। महाप्रभुकी दूसरी महत्वपूर्ण रचना है श्रीमद्भागवतपर सुबोधिनी टीका जिसके केवल प्रथम, द्वितीय, तृतीय और दशमका पूर्ण तथा एकादश स्कन्धके कुछ अध्यायों-तकका भाष्य मिलता है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने श्रीमद्भागवतकी सूक्ष्म टीकामें श्रीमद्भागवतका अर्थ समझाया है। इनके अतिरिक्त उनके निम्नांकित ग्रन्थ भी प्राप्त हैं—

गायत्री-भाष्य, स्फुट ग्रन्थ, परिवृढाष्टक, दशमस्कन्धानुक्रमणिका,

शिक्षाश्लोक, कृष्णप्रेमामृत, नन्दकुमाराष्टक, श्रीगिरिराजधार्यष्टक, श्रीगोपीजीवनवल्लभाष्टक, पंचश्लोकी, न्यासादेश, गायत्री-व्याख्या, त्रिविधलीलानामावली, श्रुतिगीता, पूर्वमीमांसा-कारिका और श्रीभगवत्पीठिका।

इन अनेक पांडित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना करके महाप्रभुने पुष्टि-मार्गके समस्त सिद्धान्तोंका विस्तृत तथा लोकबोध निरूपण करनेके साथ भगवत्प्रेमका रसामृत बरसाकर और संशयोंका निवारण करके पुष्टिमार्गीय भक्तिका मार्ग प्रशस्त कर दिया।

——०——

अष्टम अध्याय

लीला-प्रवेश

पुष्टिमार्गके भक्तों और आचार्योंका विश्वास है कि जिस दिन श्रीगिरिराज गोवर्धनपर श्रीनाथजी प्रकट हुए उसी दिन उनकी रक्षाके लिये संकर्षण कुण्डमेंसे श्रीसंकर्षणदेव, गोविन्द-कुण्डमेंसे श्रीगोविन्ददेव (वासुदेव), दानघाटीपर श्रीदानीराय (प्रद्युम्न) और श्रीकुण्डमेंसे श्रीहरिदेव (अनिरुद्ध) रूपमें चारों व्यूह भी प्रकट हुए।

जब झारखण्डमें फाल्गुन शुक्ला ११ सं० १५४९ वि० को श्रीमद्वल्लभाचार्यजीको भगवान्ने आदेश किया था कि हम श्रीगोवर्धनधारीके रूपमें गोवर्धनकी कन्दरामें विराजमान हैं और व्रजवासियोंने हमारे दर्शन भी किए हैं इसलिये तुम शीघ्र मेरी सेवाके लिये आओ तब आचार्य-चरणने मथुरामें आकर उजागर चौबेके यहाँ विश्राम किया। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि विश्रान्त घाटपर दिल्लीके बादशाह सिकन्दर लोदीके कामदार रुस्तमअलीने ऐसा यन्त्र लाकर टाँग दिया है कि जो हिन्दू वहाँ स्नान करने जाता है उसकी शिखा कटकर दाढ़ी बन जाती है। तात्पर्य यही था कि वहाँ

जानेवालोंको बल-पूर्वक मुसलमान बना लिया जाता था। आचार्य-चरणने कहा कि हमारे साथ चलो तो कुछ नहीं होगा। जब वे स्नान करने गए तो कोई उपद्रव नहीं हुआ। उन्होंने स्नान किया, यमुनाजीकी पूजा की और चले आए। किन्तु उनके पीछे फिर उपद्रव होने लगा। कहा जाता है कि लोगोंके आर्त्त वचन सुनकर आचार्य-चरणने एक यन्त्र बनाकर अपने सेवक वासुदेवदास और कृष्णदासके हाथ उसे देकर कहा कि इसे दिल्लीके मुख्य द्वारपर राजमार्गमें टाँग दो। सेवकोंने ले जाकर उसी प्रकार टाँग दिया। उसका टँगना था कि उसके नीचेसे जो मुसलमान निकले उसकी दाढ़ी झड़ जाय और चोटी निकल आवे। जब सिकन्दर लोदीने सब समाचार सुना और आचार्यचरणके दोनों सेवकोंसे मथुराके उपद्रवका समाचार सुना तो तत्काल रुस्तम अलीको बुलाकर डाटा और यन्त्र मँगा लिया। यह उनके तेज और अलौकिक विभूतिका चमत्कार था।

भगवान् श्रीनाथजीके प्रकट होनेका समाचार पाकर जब आचार्य-चरण मथुरासे सेवकोंको साथ लेकर गोवर्धनकी तलहटीमें सद्दू पांडेके चौतरेपर आकर बैठे और सद्दू पांडेने आकर प्रार्थना की कि मेरा आतिथ्य ग्रहण करें तभी कृष्णदास मेघनने कहा कि आचार्य-चरण तो अपने सेवकके अतिरिक्त किसीसे कुछ नहीं ग्रहण करते। उसी समय गोवर्धन पर्वतपरसे श्रीनाथजीने पुकारा—'अरी नरो! दूध ले आओ।'

सद्दू पांडेकी पुत्री नरोने उत्तर दिया कि आज हमारे यहाँ पाहुने आए हुए हैं। तत्काल स्वर सुनाई पड़ा—'पाहुने आए तो क्या हुआ, मुझे तो दूध चाहिए।' नरोने कहा—'अभी लाई', और वह कटोरे में दूध भर कर चल दी। तत्काल आचार्य-चरणको प्रतीत हुआ कि यह तो वही वाणी है जो मैंने झारखण्डमें सुनी थी और उन्होंने यह बात अपने शिष्य दामोदरदाससे बताकर कहा कि शीघ्र ही ऊपर चला जायगा। इतनेमें नरो जब दूध पिलाकर लौटी तो महाप्रभुने पूछा—'कुछ इसमें बचा है?' नरोने कहा—'थोड़ा-सा बचा है।' सद्दू पाँडेने कहा—'महाराज! जितना दूध-घी कहिए मँगवा दूँ।' आचार्य-चरणने कहा—'मुझे तो यही चाहिए। महाप्रभुने वह कटोरेका बचा हुआ दूध प्रसाद रूपमें लिया और सद्दू पाँडेके आग्रह पर उसे सेवक स्वीकार कर लिया और फिर सद्दू पाँडे और माणिकचन्द पाँडेसे श्रीनाथजीके प्रकट होनेकी सारी कथा सुनी जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। अगले दिन महाप्रभुने वहाँ जाकर भगवान् श्रीनाथजीका दर्शन किया और छोंटेसे मन्दिरमें उन्हें स्थापित करके अप्सराकुण्डके पासवाली गुफामें रहनेवाले भगवद्भक्त श्रीरामदासजीको सेवाकी विधि समझाकर उन्हें सेवा-कार्य सौंप दिया और आप तीर्थ करनेके लिये चले गए। फिर किस प्रकार चैत्र शुक्ल २, संवत् १५५६ वि० को श्रीनाथजीने पूरणमल खत्रीको मन्दिर बनवानेकी प्रेरणा दी और वैशाख शु० ३ रविवार सं० १५५६ वि० को उस मन्दिरकी नींव रक्खी गई और वैशाख शुक्ल ३ अक्षय तृतीया

सं० १५७६ को महाप्रभुने श्रीनाथजीको उसमें प्रतिष्ठित किया, यह सब विवरण पीछे दिया जा चुका है।

गिरिराज श्रीगोवर्धनपर भगवान् श्रीनाथजीकी मूर्ति प्रतिष्ठित करके उनकी नियमित सेवाकी समुचित व्यवस्था करके और अनेक ग्रन्थोंके निर्माणके द्वारा पुष्टिमार्गीय तत्त्वका भली-भाँति निरूपण करके श्रीमद्वल्लभाचार्यजी अपने शिष्योंके साथ काशी चले गए। वहाँ कुछ दिन निवास करके एक दिन उन्होंने अपनी परम पूजनीया माताजीसे आज्ञा लेकर तीस सहस्र ब्राह्मणोंको भोजन करानेका निश्चय किया और यह बात विज्ञप्त करानेके लिये उन्होंने संकेत-ध्वज खड़ा कर दिया। सेठ पुरुषोत्तमदासको भी यह बात बड़ी अनुकूल और प्रिय प्रतीत हुई किन्तु काशीके बहुतसे विद्वानोंने यह विचार किया कि यह तो इन्होंने काशी-विजयकी ध्वजा फहरा दी है। इसलिये कुछ लोग अत्यन्त असन्तुष्ट और क्षुब्ध होकर उनसे शास्त्रार्थ करनेके लिये आ जुटे। यद्यपि आचार्य-चरणने उन सबको बहुत समझाया किन्तु वे अपने निश्चयपर अटल रहे और उन्होंने तत्कालीन श्रीउपेन्द्र आर्य यतिको शास्त्रार्थ-करनेके लिये प्रेरित किया। वे भी उनकी प्रार्थना स्वीकार करके निश्चित स्थलपर उपस्थित हो गए।

उन दिनों आचार्य-चरण अपने शिष्य सेठ पुरुषोत्तमदासके पंचगंगा तीरपर स्थित विस्तीर्ण प्रासादमें निवास करते थे। उन्होंने शास्त्रार्थके लिये आए हुए श्रीउपेन्द्र आर्य यतिका आदरपूर्वक सत्कार किया और उन्हें प्रश्न पूछनेके लिये कहा। किन्तु आचार्य-चरणके

दिव्य तेज और उनकी विलक्षण विवेचना-शक्तिसे वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने आचार्य-चरणके सम्मुख उनकी विद्या, उनके पांडित्य और गुणोंका सम्मान करते हुए उनकी महत्ता स्वीकार कर ली। शास्त्रार्थ समाप्त हो गया और सब अपने-अपने स्थानको लौट आये। इसपर उनके जितने शिष्य वहाँपर एकत्र थे उन सबने बड़ा हर्षोत्सव मनाना प्रारम्भ किया किन्तु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने उन्हें समझाया कि इस प्रकारकी राग-द्वेषकी भावना अपने मनमें नहीं रखनी चाहिए क्योंकि संसारके सभी प्राणी भगवान्‌के ही तो अंश हैं चाहे वे ईश्वरको मानें या न मानें और फिर प्रत्येक व्यक्तिका अपना-अपना जो विश्वास होता है उसका वह समर्थन करता ही है। हमारा धर्म यही है कि जो अज्ञानान्धकारसे ग्रस्त हैं उनका मोह दूर करके अत्यन्त स्नेह और सौहार्दके साथ उन्हें समझाकर सुपन्थमें लगावें। इसमें उत्सव मनानेकी कौन-सी बात है! यह सुनकर उनके सब भक्त बड़े सन्तुष्ट हुए और सबने अपनी भूल स्वीकार कर ली।

इतना सब कर चुकनेपर वे सोचने लगे कि जिस कार्यके लिये और जिस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये मैंने अवतार लिया है वह कार्य तो पूर्ण हो चुका है। भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय भक्ति-मार्गका प्रचार मैंने किया, अपने अलौकिक ग्रन्थों तथा आर्ष ग्रन्थोंके भाष्य आदिके द्वारा मैंने जिस भक्ति-मार्गकी स्थापना और विवेचना करके उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया है उसके लिये तो संन्यास लेनेकी भी

आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसमें तो शिखा और यज्ञोपवीत आदि छोड़कर केवल मौन होकर जीवन बिताना पड़ता है। मैंने गृहस्थ आश्रमके सब धर्म पूर्ण कर लिए हैं। दोनों पुत्र भगवान्‌की सेवामें लगे हुए हैं। इसलिये अब यह भी स्थिर कर देना चाहिए कि वास्तवमें भक्तिका समर्थक संन्यास आश्रम कौन सा है। इसी बीच स्वयं भगवान्‌ने भी एक दिन उनके मनमें प्रेरणा दी कि अब आप शरीर छोड़कर मेरी नित्य लीलामें प्रविष्ट हो जाइए।

यह आज्ञा स्वीकार करके अगले दिन उन्होंने अपने दोनों पुत्रों और शिष्योंको अपने पास बुला लिया। सर्वप्रथम उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथको भगवान्‌की आराधनाका कार्य पूर्णतः सौंप दिया। इसके पश्चात् उन्होंने दामोदरदास आदि शिष्योंको भगवान् श्रीनाथजीकी सेवाका सब विधान भली भाँति समझाकर संन्यास आश्रममें प्रवेश करनेके लिये अपनी धर्म-पत्नीसे अनुज्ञा माँगते हुए कहा—'देवि! अब मैं दूसरे आश्रममें प्रविष्ट होना चाहता हूँ। मैंने गृहस्थाश्रम धर्म भली-भाँति पालन कर लिया है और भगवान्‌ने कृपा करके गोत्र-वृद्धिके लिये योग्य सन्तान भी दी है। इसलिये अब तुम मुझे संन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा दो क्योंकि तुम भली-भाँति जानती हो हो कि भगवान्‌की सेवाके बिना मुझे संसारमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता।' यद्यपि उनकी परम साध्वी धर्म-पत्नीको इस आकस्मिक निश्चयसे दुःख तो अवश्य हुआ किन्तु उन्होंने अत्यन्त तत्परतासे उन्हें संन्यास आश्रममें प्रविष्ट होनेकी अनुमति दे दी। अपनी पत्नीकी अनुमति पाकर उन्हें परम सन्तोष हुआ और उन्होंने तत्काल भागवत रीतिसे संन्यास आश्रम स्वीकार करनेका निश्चय कर लिया।

महाप्रभुके लिये यह कोई नई परम्परा नहीं थी। इनके पिता

श्रीलक्ष्मण भट्टजीके तीन पुत्र और दो कन्याएँ हुई थीं। इसमेंसे सबसे ज्येष्ठ श्रीनारायण भट्ट भी बहुत छोटी अवस्थामें ही संन्यास लेकर केशवपुरी नामसे प्रसिद्ध थे। उन्होंने अपने तपोबलसे ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि वे पैरोंमें पादुका डालकर जलपर इस प्रकार चलते थे जैसे स्थलपर चल रहे हों।

यह तो सभी विद्वान् जानते हैं कि संन्यास आश्रम दो प्रकारका होता है। एक प्रकारके संन्यास ग्रहण करनेमें तो शिखा-सूत्र छोड़कर दंड धारण करके भगवान्‌का ध्यान किया जाता है। इस प्रकारके संन्यासको स्मार्त संन्यास कहते हैं। दूसरे संन्यासमें शिखा-सूत्र धारण करते हुए भी अपने पुत्र-कलत्र आदिको छोड़कर भगवान्‌की आराधनामें लगे हुए नियमतः एकान्त भक्तिकी साधना करते हुए अपनी भक्तिभावनाको अधिकसे अधिक दृढ करते चला जाता है। इस प्रकारके संन्यासको भागवत संन्यास कहते हैं। यद्यपि ये दोनों ही प्रकारके संन्यास शास्त्रानुमोदित हैं तथापि श्रीआचार्य-चरणने परम भागवत होनेके कारण दूसरे प्रकारके संन्यासकी विधिको ही श्रेष्ठ समझा। अतः उन्होंने अपने सब शिष्योंके साथ काषाय वस्त्रके साथ-साथ शिखासूत्र धारण किए हुए ही त्रिदण्ड लेकर अत्यन्त मान्य भागवत संन्यास ग्रहण कर लिया। जब यह समाचार भारतके अन्य प्रदेशोंमें भी प्रचारित हो गया तब उनके अगणित शिष्य अनेक प्रदेशोंसे उनके दर्शनके लिये दूर-दूरसे आ जुटे।

इस चतुर्थ आश्रमकी मर्यादाके अनुसार उन्होंने अपना नाम पूर्णानन्द रख लिया और भागवत संन्यासकी रीतिसे सम्पूर्ण दैनिक विधिका पालन करते हुए छह दिनतक अपने घरमें ही भोजन करते रहे। इसके पश्चात् बहूदक आश्रम ग्रहण करके गंगा-तीरपर निवास करते हुए अपने संबन्धियोंके घर भिक्षाचरण करते हुए उन्होंने आठ दिन

बिताए। तब हंसाश्रममें प्रविष्ट होकर काशी क्षेत्रमें आ पहुँचे और मार्गमें अन्य माननीय परम भागवतोंसे भुना हुआ धान, फरुई, भूजा, मुरमुरे, सत्तू और फल आदिकी अत्यल्प भिक्षा लेकर और भगवान्‌को उसका नैवेद्य लगाकर सब प्राणियोंके निमित्त बलि-वैश्वदेव करके भगवान्‌के चरणारविन्दका जल मिलाकर ग्रहण करते रहे। इस प्रकार प्रतिदिन वहाँ आए हुए समस्त वैष्णवोंको भगवान्‌की कथा सुनाते हुए, समय-समयपर भगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाले उत्सव कराते हुए अत्यन्त आनन्दके साथ काशीमें हनुमान घाटपर पहुँचकर निरन्तर भगवान्‌की सेवा करते रहे।

यद्यपि संन्यास आश्रमके अन्तर्गत हंस तथा परमहंस आदि अनेक अवान्तर आश्रम-भेद हैं किन्तु उनमें किसी प्रकारका कोई विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि सभीमें गृह-त्यागकी ही प्रधानता है। उनके संन्यास ले लेनेपर और हंसाश्रम धारण कर लेनेपर भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें रहनेवाले पुष्टिमार्गानुयायी वैष्णव लोग उनके पास आ-आकर उपदेश और ज्ञान प्राप्त करने लगे।

इस प्रकार हंसाश्रममें प्रविष्ट होकर आठ दिनके पश्चात् आचार्य-चरणने निश्चय किया कि अब मुझे अपनी इहलीला संवरण करनी चाहिए। इसलिये अत्यन्त सन्तोषके साथ अन्तिम परमहंस अवस्था प्राप्त करनेके लिये संकल्प करके उन्होंने अपने सब शिष्योंको बुला-कर अत्यन्त प्रेमसे भगवान् श्रीनाथजीकी भक्तिका उपदेश देते हुए कहा—'शिष्यो! श्रीभगवान् गोवर्धनधारीकी अनुज्ञाके अनुसार मैं शीघ्र ही उनकी नित्य-लीलामें प्रविष्ट होनेवाला हूँ। उन्हींकी आज्ञासे मैं इस पृथ्वीतलपर भक्ति-मार्गका प्रसार करनेके लिये आया था। इस विषय-वासनासे पूर्ण संसारमें केवल भक्ति ही ऐसी सुखदायिनी शक्ति

है जो माताके समान निरन्तर पालन करती है और जो केवल पारलौकिक ही नहीं, समस्त इहलौकिक फल भी प्रदान करती है। इसलिये किसी भी कारणसे और किसी भी परिस्थितिमें भगवान्‌की भक्ति नहीं छोड़नी चाहिए। जो व्यक्ति मदोद्धत होकर या विषय-लालसामें आसक्त होकर भगवान्‌का भजन नहीं करता उसका जीवन कोई जीवन नहीं है। इसलिये आप लोगोंको मेरा यही उपदेश है कि चाहे जैसा भी संकट क्यों न आ पड़े कभी परमात्माकी भक्ति न छोड़ना। इतना ही नहीं, स्वयं उसका पालन करते हुए दूसरोंको भी इसका उपदेश करते रहना, विशेषतः, पुष्टिमार्गके अनुयायियोंको तो संसारके कल्याणका यत्न निरन्तर करते ही रहना चाहिए। पुष्टिमार्गका यह प्रधान तत्त्व है कि हमारा सम्पूर्ण दुःख और सुख उसी चराचरके पालक भगवान्‌की इच्छाके अधीन है। वही जो चाहता और करता है, वही होता है। उसमें किसी प्रकारका नतु-नच करनेका अधिकार किसीको नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपने सुख-दुःखकी ओरसे उदासीन होकर सदा दूसरोंके कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि मानव-मात्रका कल्याण करना ही भगवान्‌की वास्तविक भक्ति है। इसलिये सावधान होकर जीवन-भर परमात्माकी इस भक्तिका पालन करना चाहिए क्योंकि परमात्माका अनुग्रह प्राप्त करनेके अतिरिक्त और दूसरा कोई जीवनका लक्ष्य नहीं है। आप लोग मन लगाकर, आलस्य छोड़कर अपने कल्याण करनेवाले भगवान् श्रीगोवर्धनधारीकी सेवा करें क्योंकि वे तो साक्षात् कल्पवृक्षके समान अपने भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करते रहते हैं।'

यह उपदेश देकर वे मौन हो गए और परमहंस आश्रमकी रीतिके अनुसार केवल कौपीन धारण करके सात दिनतक गंगाजीके पवित्र तीरपर निवास करते हुए अत्यन्त उत्सुकताके साथ

भगवान्‌की शाश्वत तथा नित्य-लीलामें प्रवेशके समयकी प्रतीक्षा करने लगे।

संवत् १५८७ के आषाढ शुक्ल पक्षकी द्वितीयाको पुष्य नक्षत्रमें आचार्य-चरण प्रातःकालसे ही भगवान्‌का नाम जपने लगे। जब सूर्य आकाशमें चढ़ गया तब श्रीमद्‌वल्लभाचार्य (पूर्णानन्दजी) श्रीगोवर्धनधारीकी तृतीय और अन्तिम आज्ञा स्वीकार करके कौपीन मात्र पहने पवित्र-सलिला भागीरथीके जलमें प्रविष्ट होने लगे। उनके पुत्र श्रीगोपीनाथजी भी वहाँ पहुँच गए थे। उनके लिये पत्थरपर केवल तीन श्लोक लिखकर वे भगवान्‌का नाम जपते हुए जलमें बढ़ने लगे। किसीको ध्यान भी नहीं था कि वे नित्यलीलामें प्रविष्ट हो रहे हैं। किन्तु सबके देखते-देखते वे बढ़ते गए, बढ़ते गए और सहसा जलमें समा गए। जब कुछ देर-तक न निकले तो चारों ओर हाहाकार मच गया। इसी बीच वहाँ उपस्थित सहस्रों व्यक्ति अत्यन्त आश्चर्यके साथ देखते क्या हैं कि जिस स्थानपर वे जलमें अन्तिम बार दिखाई दिए थे वहाँ अत्यन्त तेजःपूर्ण ज्वालाका प्रकाशमान पुञ्ज उठ रहा है और धीरे-धीरे ऊपर आकाशमें उठता चला जा रहा है। सब लोग मूक और जड़ होकर यह अलौकिक दृश्य देख ही रहे थे कि बहुत ऊँचे आकाशमें पहुँचकर यह प्रकाश-पुञ्ज विलीन हो गया। जितने लोग वहाँ विराजमान थे सबने अत्यन्त श्रद्धाके साथ विनयावनत होकर नेत्रोंमें अश्रु-प्रवाह लेकर अपने मस्तक धरतीपर टेक दिए। इस प्रकार अखंड भगवद्-भक्तिकी विजय-वैजयन्ती समस्त देशमें फहराकर श्रीमद्‌वल्लभाचार्यजीने आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके नित्य-लीला-धाममें प्रवेश प्राप्त कर लिया।

९

नवम अध्याय

पुष्टिमार्गके सिद्धान्तकी भूमिका

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके पुंष्टिमार्गका तात्त्विक अर्थ समझनेके लिये उस विचार-परम्पराका परिज्ञान आवश्यक है जिसमें उपनिषदोंके तत्त्वमसि और अहं ब्रह्मास्मिके मूल सिद्धान्तों, प्रस्थान-त्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषत् और श्रीमद्भगवद्गीता)—द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मके विवेचन और ब्रह्म-सूत्रपर किए गए अनेक भाष्योंद्वारा निरूपित ब्रह्मके स्वरूपका लक्षण निहित है। भगवान् बादरायण व्यासने जिस ब्रह्म-सूत्रकी रचना की उसपर यद्यपि अनेक ज्ञान-सिद्ध आचार्योंने अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण भाष्य किए हैं किन्तु उसका सर्वप्रथम व्यापक और दार्शनिक दृष्टियोंसे पूर्ण परीक्षण और विश्लेषण यदि कहीं एकत्र हुआ तो वह योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीतामें ही।

युद्धसे विरत, कार्पण्य-दोष पीडित महाबाहु गांडीवधारी अर्जुनका विषाद यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिसे सत्य ही है किन्तु अर्जुनका वह विषाद वास्तवमें इस विश्वमें व्याप्त उस निराशा और विषादका प्रतीक है जो प्रायः कर्मरत मनुष्यके मार्गमें बाधक होकर उसके मनमें अविश्वास और कायरताका बीज बोता रहता है और

जिसके कारण मनुष्य अपने कर्तव्य और अकर्तव्यको भली भाँति न समझकर स्वयं अर्जुनके समान पंडितम्मन्य बनकर एक विशेष प्रकारका अनुचित आचरण करता और उस आचरणके समर्थनके लिये अपने ज्ञानका दुरुपयोग करके विशेष प्रकारके मूढतापूर्ण पांडित्यसे उसका प्रतिपादन और समर्थन करता है। यही कारण है कि अर्जुनके उस असामयिक कायरतापूर्ण व्यवहारसे क्षुब्ध होकर भगवान् श्रीकृष्णने उसकी अल्पज्ञतापर उसे फटकारते हुए कहा था—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं, प्रज्ञावादाँश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥

[तुम उन लोगोंके लिये शोक कर रहे हो जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। बातें तो तुम ऐसी करते हो मानो बड़े भारी पंडित हो किन्तु तुम इतना तक तो जानते नहीं हो कि पंडित लोग मृतों और मरणशीलोंके लिये कभी चिन्ता नहीं किया करते।]

यह प्रज्ञावादिता, अपनेको बहुत बुद्धिमान् समझनेकी वृत्ति, संसारके प्रत्येक मनुष्यमें साधारणतः होती ही है किन्तु जो लोग अधिक पढ़-लिख जाते हैं उनमें यह झूठी प्रज्ञावादिता और भी अधिक बढ़ जाती है। वे प्रायः अपने ज्ञानका आश्रय लेकर अपने अकरणीय कार्यको उचित सिद्ध करनेका प्रयत्न किया करते हैं। इस प्रकार अज्ञानका दोष केवल अनधीत व्यक्तिमें ही नहीं, अधीत व्यक्तिमें भी होता है और वह इतना भ्रामक होता है कि पढ़े-लिखे लोगोंकी बातको आधारमात्र मानकर जो लोग अपना आचरण स्थिर करते हैं उनकी गति वही होती है जो 'अन्धेन नीयमाना यथान्धाः'। [अन्धे-द्वारा निर्दिष्ट अन्धे] की होती है इसीलिये हमारे यहाँ भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रकी रचना करके सबके लिये ज्ञानका दर्शन सुलभ

कर दिया जिसपर अनेक आचार्योंने भाष्य लिखकर उसकी विवृति और व्याख्या की है। पुष्टि-मार्ग भी उसी ब्रह्म-सूत्रकी भक्तिपरक व्याख्याका एक रूप है। अतः, पुष्टि-मार्गके परिचयके लिये उस विचार-परम्पराका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

अद्वैतवादकी परम्परा और प्रस्थानत्रयी

भारतीय आचार, विचार, धर्मशास्त्र और अध्यात्म-चिन्तनमें निगम (वेद) के पश्चात् आगम अर्थात् शास्त्र ही सबसे बड़े प्रमाण माने जाते हैं। नीतिकारोंने शास्त्रको ही लोचन या नेत्र बताते हुए कहा है :—

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।

[शास्त्र ही सबकी आँख है। जो शास्त्र-रूपी नेत्रसे रहित है वह अन्धा है।]

कपिलका सांख्य, पतञ्जलिका योग, गौतमका न्याय, कणादका वैशेषिक, जैमिनिका पूर्व मीमांसा तथा व्यासका वेदान्त, इन छहों शास्त्रोंमें वेदान्तका अत्यन्त व्यापक सम्मान है। विदेशोंमें विशेषतः अमरीकामें वेदान्तका आदर करनेवालोंकी संख्या बहुत है। एक लेखकने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'मिचिगन झीलके चारों ओर जितने वेदान्ती रहते हैं उतने भारतमें भी नहीं हैं।' इतना होनेपर भी यह बहुत कम लोग जानते हैं कि वेदान्तका स्वरूप है क्या और वेदान्त किसे कहते हैं।

कुछ लोगोंका मत है कि 'वेदान्त तो वेदका अन्त अर्थात् वेदका बचा हुआ भाग है।' उनका कथन है कि 'जो कुछ वेदमें नहीं कहा

गया और वेदने जिसे 'नेति-नेति' कहकर अधूरा छोड़ दिया वही पूर्ण किया हुआ भाग वेदान्त है।' इस प्रकार वे लोग वेदके पूरक अंशको ही वेदान्त कहते हैं और इस सिद्धान्तके अनुसार मानते हैं कि 'ब्राह्मण और उपनिषत् ग्रन्थोंमें जो परम तत्त्वका विचार किया गया है वही वेदान्त है।' हेमचन्द्रने वेदान्तका यही अर्थ माना है।

कुछ वेदान्ती लोग मानते हैं कि 'वेदस्यान्तः चरमोद्देश्यः प्रदर्शितः यत्र स एव वेदान्तः।' [जहाँ या जिसमें वेदका परम उद्देश्य या मुख्य उद्देश्य दिखाया या समझाया गया है वही वेदान्त है।' परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीसदानन्द योगीन्द्रने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्तसारमें लिखा है—'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।' श्रीमन्नृसिंह सरस्वतीने इस वाक्यका अर्थ बताते हुए कहा है कि जिस शास्त्रमें उपनिषत्को ही प्रमाण मानकर व्यवहार किया गया हो वे ही शास्त्र उपनिषत् प्रमाण कहलाते हैं। इस दृष्टिसे वेदान्त वही है जिसमें उपनिषत्को प्रमाण माना गया हो। इसीके साथ-साथ उसे समझानेवाले शारीरक सूत्र आदि भी वेदान्त कहलाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीमन्नृसिंह सरस्वतीजीने उपनिषत् और शारीरक सूत्रको ही वेदान्त माना है। किन्तु 'वेदान्त' का स्पष्ट अर्थ यही है कि 'वेदने जिस ब्रह्मको अन्तिम या परम ज्ञेय अर्थात् एक मात्र जानने-योग्य तत्त्व बताया है उसका विवेचन ही वेदान्त है।' इस अर्थके अनुसार ज्ञानके चरम और परम लक्ष्यकी सिद्धि या प्राप्ति करना अर्थात् ब्रह्मका ज्ञान ही वेदान्त है क्योंकि वही ज्ञानका परम साध्य है। उस परम तत्त्वका विवेचन उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रमें हुआ है, इसलिये वेदान्तका अर्थ ठीक-ठीक समझनेके लिये उपनिषत् और भाष्यके सहित ब्रह्मसूत्रका भी अर्थ समझना आवश्यक है।

उपनिषत्

वास्तवमें उपनिषत्में ब्रह्मविद्या ही तो समझाई गई है। 'उपनिषत्' शब्दकी व्युत्पत्ति भी इसी अर्थमें की गई है और कहा गया है कि—

१. उपनिषत्के द्वारा ब्रह्म-विद्यामें रुचि न रखनेवाले और संसारको ही सार समझनेवाले लोगोंकी बुद्धिका बध कर दिया जाता है। यहाँ उपनिषद् शब्दमें 'सद्' धातुका अर्थ है वध करना।

२. उपनिषत्से परम कल्याण-स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यहाँ 'सद्' धातुका अर्थ है 'प्राप्त करना'।

३. उपनिषत्से दुःख उत्पन्न करनेवाला अज्ञान नष्ट कर दिया जाता है। यहाँ 'सद्' का अर्थ है 'नाश करना'।

४. निरुक्तके भाष्यमें श्रीदुर्गाचार्यने उपनिषत्का अर्थ बताया है—'यया ज्ञानमुपगतस्य सतो गर्भजन्मजरामृत्यवः निश्चयेन सीदन्ति सा रहस्यविद्या उपनिषदित्युच्यते।' [जिस गूढ विद्याके द्वारा ज्ञानियोंके गर्भ, जन्म, जरा और मृत्युके सब दोष निश्चित रूपसे समाप्त हो जाते हैं, वही रहस्य भरी विद्या उपनिषत् कहलाती है।]

सभी उपनिषदोंमें अनेक आख्यानों, उदाहरणों, उपाख्यानों तथा प्रकरणोंके साथ यही विचार किया गया है कि ब्रह्म क्या है ? जीव क्या है ? मृत्युके पीछे जीवकी क्या गति होती है आदि। इन सब प्रश्नोंकी मीमांसा करनेके कारण ही उपनिषत्को ब्रह्म-विद्या

कहा गया है। मुंडकोपनिषद्में कहा गया है कि 'हम लोगोंको दो ही विद्याएँ जाननी चाहिएँ—एक अपरा और दूसरी परा।' वेद-वेदांगका ज्ञान अपरा विद्याके अन्तर्गत आता है और वेदान्त या ब्रह्म-विद्याको ही परा विद्या कहते हैं। सच पूछिए तो इसी ब्रह्मविद्यामें संसारकी सारी विद्याएँ भरी हुई हैं। इसीलिये आर्य ऋषियोंने वेदान्तका इतना आदर किया।

प्रस्थान-त्रयी

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि और श्वेताश्वतर उपनिषदोंमें इसी ब्रह्मविद्याकी विस्तारसे व्याख्या की गई है। इसीलिये वेदान्ती लोग उपनिषदोंका बड़ा आदर करते हैं और उन्हें 'प्रस्थानत्रयी' के अन्तर्गत अर्थात् मुक्तिके मार्गपर ले चलनेवाले तीन आधारोंके अन्तर्गत मानते हैं। इस 'प्रस्थानत्रयी' में प्रथम उपनिषद्, द्वितीय वेदान्तसूत्र और तृतीय श्रीमद्भगवद्गीताका आदरपूर्वक समावेश किया जाता है। इनमेंसे उपनिषत्को श्रुति-प्रस्थान (वेदके मार्गसे ब्रह्मका ज्ञान कराकर मुक्ति दिलानेवाला), ब्रह्मसूत्रको न्याय-प्रस्थान (तर्कसे समझाकर ब्रह्मका मार्ग दिखानेवाला) और श्रीमद्भगवद्गीताको स्मृति-प्रस्थान (स्मृति या आचारके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका मार्ग दिखानेवाला) कहते हैं। ये तीनों ही मिलकर पूर्व वेदान्तका रूप स्पष्ट करते हैं। इनमेंसे उपनिषत् और ब्रह्मसूत्र इतने सरल नहीं हैं कि सब लोग उसका मर्म समझ सकें। किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके द्वारा उस जटिल तत्त्वको भी अत्यन्त सरल रूपसे समझा दिया है।

यद्यपि उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता भी प्रस्थानत्रयीमें

समाविष्ट होते हैं तथापि ब्रह्म-सूत्र ही वास्तवमें वेदान्त-दर्शन कहलाता है। इस वेदान्त सूत्र या ब्रह्म-सूत्रपर अनेक आचार्योंने अपने-अपने सिद्धान्त स्थापित करके अपने-अपने मतानुसार उसका भाष्य भी किया है। वेदान्तके इन भाष्यकारोंमें सर्वप्रथम श्रीमत् शकराचार्य-जीने अपना भाष्य लिखा जिसने अन्य परवर्त्तियोंको नवीन प्रकारसे विचारनेकी प्रेरणा दी। वे केवलाद्वैतवादी या मायावादी थे। वास्तवमें वेदान्तको लोकव्यापक बनानेका श्रेय भी शंकराचार्यजीको ही है किन्तु उन्होंने ब्रह्म-सूत्रका जो भाष्य किया उसे सब आचार्योंने प्रमाण नहीं माना। उनके पश्चात् श्रीमद्रामनुजाचार्यजीने इनके केवलाद्वैतवादका खंडन करके विशिष्टाद्वैतवादका, श्रीमन्मध्वाचार्यजीने द्वैतवादका, श्रीमन्निम्बार्काचार्यजीने भेदाभेदवादका, श्रीकंठाचार्यजीने शैवाद्वैतवादका, श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने विशुद्धाद्वैतवादका, श्रीगौरांग महाप्रभुने अचिन्त्यभेदाभेदवादका और श्रीरामानन्दजीने रामाद्वैतवादका प्रवर्त्तन किया।

तीसरा प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता या स्मृति-प्रस्थान है। यह ग्रन्थ इतना सरल, सुबोध और स्पष्ट है कि भारतीय दर्शनका सारा तत्त्व केवल इसीके द्वारा समझा जा सकता है। कुरुक्षेत्रकी पवित्र रणभूमिमें कौरवों और पांडवोंकी सेनाओंके बीच पहुँचकर अर्जुनके मनमें जो व्यामोह उत्पन्न हुआ, भगवान् श्रीकृष्णने जिस कौशलसे उसका वह मोह दूर किया और उसी प्रसंगमें सम्पूर्ण सृष्टिका आध्यात्मिक और नैतिक

तत्त्वज्ञान अर्जुनके माध्यमसे हस्तामलकवत् सबके लिये स्पष्ट खोलकर रख दिया वही श्रीमद्भगवद्गीता है।

तत्त्वमसि और अहं ब्रह्मास्मि

अद्वैतवादका सिद्धान्त समझनेके लिये उसमें प्रयुक्त होनेवाले 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्योंका रहस्य समझ लेना परम आवश्यक है।

पंचदशीके महावाक्य-विवेकके प्रकरणमें ब्रह्मका लक्षण बताते हुए लिखा गया है—'जिस नित्य चैतन्यकी सहायतासे हमारे नेत्र संसारके सब रूप देखते हैं; जिसके सहारे हम संसारमें ध्वनित होनेवाले अनेक प्रकारके नाद और शब्द सुनते हैं, जिसकी सहायतासे संसारमें व्याप्त सब वस्तुओंकी अच्छी और बुरी गन्ध सूँघ पाते हैं, जिसकी प्रेरणासे हमारे मुखके भीतर घूमनेवाली जिह्वा स्वाद और अस्वाद दोनोंका परिज्ञान करती है, वही ज्योति-स्वरूप चैतन्य ही प्रज्ञान है और यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है। इसीलिये वैदिक साहित्यमें 'प्रज्ञानं ब्रह्म' अर्थात् 'प्रज्ञान ही ब्रह्म है' कहा गया है। वही आनन्द-मय, सर्वव्यापी और केवल एक ब्रह्म देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और संसारके सब पदार्थोंमें अन्तर्यामी बनकर बैठा हुआ है। इसीलिये साधक भी समझता है कि 'वह मुझमें भी अवस्थित है। मेरा जीव-चैतन्य और संसारमें व्याप्त ब्रह्म-चैतन्य दोनों एक हैं, अभिन्न हैं।' इसीलिये इस तत्त्वका जाननेवाला जीवन्मुक्त पुरुष कहता है—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ)।

किन्तु प्रश्न यह है कि यदि साधकमें यह बुद्धि विद्यमान है कि जीव-चैतन्य और ब्रह्म-चैतन्य एक हैं तब वह—'तत्त्वमसि (वहतू है) कैसे कह सकता है ? उसे तो यही कहना चाहिए। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तदहमस्मि' (वह मैं ही हूँ) । इस सिद्धान्तपर हमारे यहाँ बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्त्वमसि' दोनोंमें से क्या ठीक है। यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' ठीक है तब 'तत्त्वमसि' का कोई अर्थ नहीं है और यदि 'तत्त्वमसि' ठीक है तब 'अहं ब्रह्मास्मि' का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' से शुद्ध द्वैत प्रकट हो जाता है, मैं और तू की भावना बनी रहती है, ब्रह्म और जीवकी एकता समाप्त हो जाती है।

किन्तु ब्रह्म पूर्ण ज्ञानस्वरूप होनेपर भी अपनी मायाके द्वारा इस पाञ्चभौतिक शरीरमें पहुँचकर हमारे अन्तःकरणका साक्षी बनकर बैठ जाता हैं और ब्रह्म-तत्त्वकी साधनाका स्वयं उपाय बन जाता है, क्योंकि यदि यह 'साधन-धाम विबुध दुर्लभ तनु' न मिले तो ब्रह्मकी प्राप्ति कैसे हो, ब्रह्मतत्त्वका साधन कौन करे? इसीलिये इस 'साधन-धाम मोक्षके द्वारू' शरीरको ब्रह्मकी प्राप्तिकी साधनाका धाम और मोक्षका द्वार बताया गया है। इसी शरीरसे ही तो मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतः, साधना करते समय प्रत्येक साधकको यह जानना ही पड़ता है कि 'मैं ज्ञाता हूँ और मेरे अतिरिक्त कोई ज्ञेय भी है। मैं जाननेवाला हूँ और कोई ऐसा पदार्थ या तत्त्व भी है जिसको जानना मेरा कर्तव्य है।' ऐसी स्थितिमें जब उसे परम

तत्त्वका आभास मिलने लगता है तब वह ज्ञेयको सम्बोधित करके कहता है—'तत्त्वमसि' (वह तुम हो) किन्तु जब यह पहचान, यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है, ज्ञाता और ज्ञेयका, जाननेवाले और जानने-योग्य तत्त्व दोनोंका भेद मिट जाता है तब वह पूर्ण ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही ज्ञाताका 'अहं' बन जाता है और इसीलिये उस अवस्थामें वह कहने लगता है 'अहं ब्रह्मास्मि'। यही स्वतःसिद्ध, सर्वव्यापी पूर्ण परमात्मा ही ब्रह्म है। उसके साथ अस्मि या 'हूँ' कहनेका यही तात्पर्य है कि ज्ञाता और ज्ञेय, जाननेवाले और ब्रह्म-चैतन्य दोनों एक हो गए हैं और इसीलिये केवल जीवन्मुक्त पुरुष ही कह सकते हैं—'मैं ही ब्रह्म हूँ'। किन्तु जिन्होंने विदेहत्व नहीं सिद्ध किया, जो अपनेको संसारके बन्धनसे पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाए, वे न 'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेके अधिकारी हैं न 'तत्त्वमसि' कहनेके। इसीलिये ऐसे कपटी और पाखण्डी व्यक्तियोंपर रुष्ट और क्षुब्ध होकर गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा था—

बादहिं सूद्र द्विजन सँग, हम तुमतें कछु घाटि।
ब्रह्म जो जानहिं विप्रवर, आँख दिखावहिं डाँटि॥

अतः, 'अहं ब्रह्मास्मि' की चेतना उसी समय हो सकती है जब मनुष्यके मनसे सम्पूर्ण कलुष तो नष्ट हो ही जायँ साथ ही उसे अपने आत्ममें परमात्म या ब्रह्मका भी आभास मिलने लगे। ऐसी स्थितिमें उसे उस अद्वितीय, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, सर्वव्यापी परब्रह्मका प्रत्यक्ष आभास हो पड़ने लगता हैं जो संसारमें अनेक नाम

नाम और रूपकी झलकके साथ चमक जाता है और जो इस सेसारकी उत्पत्तिके पहले नाम और रूपसे ही न केवल सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परब्रह्मके रूपमें विराजमान रहता है। ब्रह्मके इसी रूपको सम्बोधन करके उपनिषद्में 'तत्त्वमसि' कहा गया है क्योंकि साधकको यह ज्ञान होना ही चाहिए कि यह जितना सम्पूर्ण जगत् दिखाई पड़ता है इसमें व्याप्त, इसे धारण करनेवाले, इसकी सृष्टि करनेवाले सच्चिदानन्द ब्रह्म-चैतन्य ही हैं जो स्वयं अपने प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक है किन्तु ब्रह्मोपनिषद्में लिखा है--

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति, नाभिः, हृदयं, कण्ठं मूर्द्धेति। [ब्रह्म चार स्थानोंमें रहते हैं--नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्द्धामें।] यह कैसी विचित्र बात है कि जो ब्रह्म सर्व-व्यापक है उसके विषयमें यह कहा जाय कि वह चार ही स्थानोंमें रहता है। किन्तु यह उसी प्रकार सत्य है जैसे अनेक कोठरियोंवाले भवनमें कोई कहे कि 'प्रकाश तो केवल आँगनमें है'। इसका यह अर्थ नहीं है कि आँगनको छोड़कर संसारमें कहीं प्रकाश नहीं है। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि अन्य स्थानोंपर प्रकाश पानेके लिये कुछ कठिन साधना करनी पड़ेगी, छतपर जाना पड़ेगा किन्तु चौक-तक बढ़ जानेमें सरलतासे प्रकाश दिखाई पड़ जायगा। इसी प्रकार मनुष्यके शरीरमें भी चार ऐसे स्थान हैं जहाँ ब्रह्मकी ज्योतिका साक्षात्कार सरलतासे हो सकता है। इसीलिये उसे इन स्थानोंपर पहचाननेके समय यह कहना पड़ता है--'तत्त्वमसि' (वह तुम हो)।

साधारण लोक-व्यवहारमें जैसे हम गौको देखकर अपने साथवाले

व्यक्तियोंको दिखाकर कहते हैं—देखो ! यह गौ है, वैसे ही हम यह क्यों नहीं कह सकते कि 'यह ब्रह्म है'। उसका कारण यही है कि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करते समय, साधक और साध्यके अतिरिक्त तीसरा कोई माध्यम नहीं रह सकता। वह कोई ऐसा तत्त्व ही नहीं हैं कि उसका कोई वैज्ञानिक प्रदर्शन किया जा सके और दिखाकर यह समझाया जा सके कि देखो इन-इन गुणोंवाला, इन रंगोंवाला, इस आकारवाला, यह पदार्थ ब्रह्म है। अतः, उस ब्रह्मके लिये यह कहना ही असंगत होगा कि 'यह ब्रह्म है।' वहाँ तो शुद्ध रूपसे एक अनुभोक्ता और एक अनुभव है। वही अनुभव या ब्रह्म ही सम्बोध्य है, जिसे देखकर, समझकर, अनुभव करके, विचार करके साधक कह सकता है—'हाँ ! जिसकी मैं खोज कर रहा था वह तुम हो।'

वह 'तुम' हो, कहते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि हम जिसे सम्बोधन कर रहे हैं वह कोई जड पदार्थ नहीं है, क्योंकि जड पदार्थको केवल कवि लोग कल्पनाके सहारे मूर्त्त स्वरूप देकर 'त्वम्' (तुम) कहते हैं किन्तु कविताके अतिरिक्त जब हम साधना और अनुभवके जगत्में पहुँचते हैं, वहाँ जड तो जड रह जाता है और चेतन चेतन रह जाता है। उस समय 'तुम' कहकर हम केवल उसीको सम्बोधन कर सकते हैं जो 'चेतन' हो। इसीलिये जब हम ब्रह्मको सब तत्त्वोंका भण्डार मानकर कहते हैं कि 'सब कुछ जानने-योग्य तत्त्व तुम ही हो' तब इसका अर्थ है कि 'हम संसार भरमें व्याप्त सम्पूर्ण चैतन्य तत्त्वका आरोप उस 'त्वम्' में कर देते हैं और इसीलिये 'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेवाले जीवन्मुक्तको जब अपनेमें ब्रह्मका साक्षात्कार होता दिखाई देने लगता है, तब वह पहचानकर कह उठता है—'तत्त्वमसि।'

यह स्मरण रखना चाहिए कि 'त्वम्' या 'तुम' कहकर जिस ब्रह्मको सम्बोधित किया जाता है वह हमारे-जैसा हाड़-माँसका पुतला नहीं है। उसके न मन है, न कान हैं, न हाथ हैं, न पैर हैं, फिर भी वह स्वयं अपनेसे अपनेको प्रकाशित करता है और अपने प्रकाशसे ही सारे संसारको प्रकाश देता है। उसके आगे लोक, देवता, वेद, यज्ञ, पिता, माता, चाण्डाल, अन्त्यज, श्रमण, पशु, तपस्वी आदि कोई कुछ नहीं हैं, किसीका कोई महत्त्व नहीं है। केनोपनिषद्में उसकी महिमा बड़ी सुन्दरताके साथ दिखलाते हुए कहा गया है कि अपने तेजका अभिमान करनेवाले अग्निमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह यक्ष-द्वारा रक्खे हुए तृणको जला दे, वायुमें यह बल नहीं है कि वह उस तृणको उड़ा दे और वरुणमें यह शक्ति नहीं है कि उस तृणको गला या बहा दे। तब सबके राजा इन्द्रको मानना पड़ा कि हाँ, वास्तवमें हममें अपनी कोई शक्ति नहीं है। हम किसी दूसरेकी शक्तिसे शक्तिशाली बने हुए हैं और वही शक्ति ब्रह्म है जिसका ज्ञान हो जानेपर संसारका कोई भी ज्ञान दृष्टिसे ओझल नहीं रह पाता।

इसी ब्रह्मका साक्षात्कार करके ही तत्त्वज्ञानी लोग उल्लासके साथ कह उठते हैं 'तत्त्वमसि' (वह तुम ही हो) और उसके पश्चात् ही जीव-चैतन्य और ब्रह्म-चैतन्य दोनोंका एकीकरण हो जाता है, जीवन्मुक्त साधकको 'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेका अधिकार मिल जाता है, वह स्वयं अनुभव करने लगता है 'अहं ब्रह्मास्मि'।

किन्तु इस 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूतिका वास्तविक आधार 'तत्त्वमसि' ही है क्योंकि 'अहं-ब्रह्मास्मि'के पश्चात् तो आत्मा, परमात्मामें लीन हो जाता है और उस 'त्वम्' को सामने देखकर, उसे सम्बोधित करके, उस परमानन्दके आनन्द लेनेका सारा रस जाता रहता है क्योंकि—तब तो

बिन्दुमें सिन्धु समान, यह अचरज कासों कहौं।
हेरनहार हेरान, रहिमन आपुहि आपमें॥

इस ब्रह्मका स्वरूप क्या है यह जान लेनेपर ही अहं ब्रह्मास्मि की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। भिन्न-भिन्न आचार्योंने भिन्न रूपसे इस ब्रह्मका निरूपण किया है।

ब्रह्म

वेदान्तपर विचार करनेवाले दार्शनिकोंने इस सम्पूर्ण ब्रह्मांडके सब तत्त्वोंको तीन रूपोंमें विभक्त कर दिया—ब्रह्म, जीव और विश्व। वेदान्तमें इन्हीं तीन तत्त्वोंकी विवेचना और व्याख्या की गई है। अतः, स्वाभाविक रूपसे यह मौलिक जिज्ञासा होती है कि ब्रह्म क्या है? साधारण रूपसे यदि हम किसी भी तत्त्वज्ञानी महात्मासे ब्रह्मका लक्षण पूछें तो वे कहेंगे कि सर्वगुणातीत अर्थात् सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंसे परे, विशुद्ध, तुरीय, चित्स्वरूप, चैतन्य-स्वरूप, ज्ञानमय, परमात्मा ही ब्रह्म है। वेदान्तसूत्रमें लिखा है—

'अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु, ब्रह्मैव नित्यं वस्तु तदन्यदखिलमनित्यम्।'

[ब्रह्म ही अकेला ऐसा है जो नित्य अर्थात् सदा रहनेवाला है,

सदा था और सदा रहेगा। ब्रह्मके अतिरिक्त अज्ञान आदि जितने भी जड तत्त्व हैं वे सब अवस्तु, निरर्थक और अनित्य अर्थात् नाशवान् हैं। श्रुतिमें भी स्पष्ट कहा है—

'यतो वा इमानि भूतानि जातानि, येन जातानि जीवन्ति अभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म।'

[जिससे इस सम्पूर्ण प्राणिमात्रका उत्पादन होता है, पालन होता है और जिसमें ये सब फिर जाकर लीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।] श्रुतिमें कहा गया है—

सदेव सौम्यमिदमग्रमासीदेकमेवाद्वितीयमिति।
यदिदं किञ्च तत् सत्यमिति आचक्षते॥

[इस सृष्टिके पहले केवल सत् ही था। नाम और रूप कुछ भी नहीं था। यही सत् एक मात्र सत्य है और यही ब्रह्म है जो अकेला और अद्वितीय है।] इससे यह सिद्ध किया गया है कि इस सत्से जो यह सृष्टि हुई है वह असत् या मिथ्या है। वह सत् ही एक ब्रह्म है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिये कहा गया है—

'एकमेवाद्वितीयम्'

[वह एक ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं।] अतः, उस सत् या ब्रह्मके अतिरिक्त जो कुछ यह संसार दिखाई पड़ रहा है वह कुछ आचार्यों ने असत् माना है।

इस अद्वैत मतके अनुसार यह सारी सृष्टि वस्तुतः सत्य नहीं है। जो इस एक ब्रह्मको अनेक रूपोंमें देखता है वही मृत्युके द्वारा नष्ट होता है—

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।'

[यह नानात्व या उस एकको बहुत रूपोंमें समझना ही मृत्यु है ।]

'एकं सत्यं बहुधा कल्पयन्ति ।'

[उस एक ब्रह्मको ही लोग अनेक रूपोंमें कल्पित करते हैं ।] और यही बहुत बड़ा अज्ञान है ।

किन्तु यह ब्रह्म सारी सृष्टिको उत्पन्न कैसे करता हैं ? पंचदशी-में कहा गया है—

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत् स ऐक्षत प्रजा इति ।
संकल्पेनासृजँल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ।
खवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ।
बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तैत्तिरिः ।
इदमग्रे सदेवासीद् बहुत्वाय तदैक्षत ।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः ।

—पंचदशी द्वैत वि० ३६

[इस अनन्त ब्रह्माण्डके जन्मसे पहले केवल एक मात्र ब्रह्म ही था । उस समय और कुछ भी नहीं था । उस अकेले और एक ब्रह्मके मनमें संकल्प हुआ कि मैं संसारकी रचना करूँ । उन्होंने संकल्प किया और यह चर और अचरसे भरी हुई सृष्टि जाग उठी, फूट उठी, खिल उठी ।] तैत्तिरीय उपनिषद्में कहा गया

है कि 'ब्रह्मके संकल्प-मात्रसे ही आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, औषधि, अन्न और देहका क्रमशः जन्म हो गया। उसी ब्रह्मने यह भी संकल्प किया कि मैं बहुत होकर इस संसारमें व्याप्त हो जाऊँ और इसी संकल्पके तपोबलसे उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि की।]

ठीक यही बात छान्दोग्य उपनिषद्में भी कही गई है कि 'इस अपरिसीम ब्रह्माण्डकी सृष्टिके पहले कुछ भी नहीं था। केवल एक सत्स्वरूप ब्रह्म ही था। उस ब्रह्मने संकल्प किया कि अनेक रूपोंवाला जगत् उत्पन्न हो जाय और उस संकल्पके बलसे जगत् उत्पन्न हो गया। इन सब आर्ष तथा आप्त प्रमाणोंके आधारपर यह निश्चय होता है कि इस सारी सृष्टिका रचनेवाला एक ब्रह्म ही है और केवल रचनेवाला ही नहीं, इसे स्थित रखनेवाला और फिर इसे अपनेमें ही लीन कर लेनेवाला भी वही ब्रह्म है।' हम केवल अज्ञानके कारण उस ब्रह्मको पाँच रूपोंमें देखते हैं—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

[यह है (अस्ति), यह प्रतीत होता है (भाति), यह प्यारा लगता है (प्रिय), यह ऐसा है (रूप) और यह अमुक वस्तु है (नाम), इन पाँच रूपोंमें यह सारा दृश्य—ब्रह्म और जगत्से मिला हुआ दृश्य—एक-सा प्रतीत हो रहा है किन्तु इनमेंसे अस्ति, भाति और प्रिय, ये तीन रूप तो ब्रह्म हैं और शेष सब रूप

और नाम हैं।] यही रूप और नाम अज्ञान तथा विकार है। इसीलिये कहा गया है कि 'संसार मिथ्या है और एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है। यह अज्ञान चाहें तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिसे दूर हो सकता है।'

श्रुतिने ब्रह्मका निरूपण दो लक्षणोंसे किया है अर्थात् दो प्रकार-से ब्रह्मको समझाया गया है। एक तो यह है कि ब्रह्मने इस संसारको उत्पन्न किया है अर्थात् ब्रह्म ही इस जगत्का कारण है। यह तो ब्रह्मका एक स्वरूप-लक्षण है कि 'ब्रह्म सच्चिदानन्द, अखंड, एकरस और अद्वय है।' किन्तु यह जगत् ब्रह्मका वैसा विकार नहीं है जैसे दूधका विकार दही होता है। दही तो दूधके विकारसे या रूप बदलकर बनता है। अतः, यह नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्म बदलकर जगत् बन जाता है वरन् जैसे रस्सीको देखकर यह प्रतीति होती है कि यह साँप है वैसे ही उस ब्रह्मको भी हम जगत् समझ बैठे हैं, यही विवर्त्त अर्थात् भ्रम है। जैसे इन्द्रजाल या बाजीगरी वास्तवमें सब झूठी होती है पर हम उसे सत्य समझते हैं वैसे ही यह सारा संसार है तो झूठा और नश्वर पर हम भूलसे इसको सत्य समझ बैठे हैं।

यदि हम किसी सरोवरके तटपर पहुँचकर शान्त वातावरणमें देखें तो हम कहेंगे कि इस तालाबका जल कैसा निर्मल और शान्त है। इसी बीच यदि आँधी आ जाय और उस शान्त जलमें लहरें उठने लगें, भँवर पड़ जायँ, बुलबुले उठने लगें तो हम कहने लगते हैं—'देखो

कितनी ऊँची लहरें उठ रही हैं, कैसी भँवर पड़ी हुई है, कैसे बुलबुले उठ रहे हैं !' पर हम पूछते हैं कि ये लहरें, ये बुलबुले और ये भँवर क्या जलसे कुछ अलग वस्तुएँ हैं ? हमने अज्ञानसे उस जलके ही अनेक रूपोंको भूलसे लहर, भँवर और बुलबुला कहना प्रारम्भ कर दिया है। इसी प्रकार ब्रह्म एक ही है। हम अज्ञानसे नाम-रूपकी कल्पना करके उस एकको ही अनेक रूपोंमें देखने और समझनेकी भूल करते हैं और इसी भूलके कारण निरन्तर दुःख उठाते रहते हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें कहा गया है कि मनुष्यको सत्संग करना चाहिए जिससे उसके मनमें अज्ञान उत्पन्न ही न हो। जैसे दर्पणपर छाई हुई धूल उस दर्पणकी स्वच्छता नष्ट कर देती है और ठीक रूप देखने नहीं देती वैसे ही मायासे उत्पन्न अज्ञान भी हम लोगोंको उस ब्रह्मके समझनेमें बड़ी बाधा देता है। यदि वह बाधा दूर हो जाय और हम यह समझ लें कि जो कुछ है वह एक ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो संसारमें जो इतना सब शोक और दुःख छाया हुआ है वह सबका सब दूर हो जाय और प्रत्येक व्यक्ति यह समझने लगे 'कि अरे ! मैं पूर्ण हूँ, अनवच्छिन्न और सत्य हूँ, जो कुछ है सब मुझमें है, मेरा रचा हुआ है, मैं ही ब्रह्म हूँ।' यह ज्ञान हो जानेसे ज्ञानी समझने लगता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि', (मैं ब्रह्म हूँ) और 'तत्त्वमसि' (यही तुम हो) अर्थात् 'त्वं ब्रह्म' (तुम्हीं ब्रह्म हो)। इतना ज्ञान होनेपर ही ब्रह्मका ठीक-ठीक स्वरूप मनुष्य समझ सकता है।

ब्रह्म क्या है ? ब्रह्म और जीवका सम्बन्ध क्या है ? ब्रह्म, जीव और जगत् इन तीनोंका परस्पर सम्बन्ध क्या है ? इन प्रश्नोंपर अनेक आचार्योंने अनेक रूपोंसे विचार किया है। इसी कारण वेदान्तके सम्बन्धमें अनेक मत चल पड़े जिनमें भगवान् शंकराचार्यका केवलाद्वैतवाद, श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद, श्रीमध्वा-

चार्यका द्वैतवाद, श्रीनिम्बार्काचार्यका भेदाभेदवाद, श्रीश्रीकंठाचार्यका शैवाद्वैतवाद और श्रीमद्वल्लभचार्यजीका विशुद्धाद्वैतवाद अत्यन्त प्रसिद्ध है। यद्यपि इन सभी आचार्योंने भिन्न-भिन्न रूपोंसे ब्रह्मको समझनेका प्रयत्न किया किन्तु ये सभी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मरूपमें एक ऐसी परम सत्ता अवश्य विद्यमान है जो इस संपूर्ण सृष्टिको संचालित करती है, सबसे व्याप्त है और जो ज्ञानके द्वारा ही भली-भाँति समझी जा सकती है।

केवलाद्वैत—

भगवान् श्रीशंकराचार्यजीके वेदान्त-सिद्धान्तको केवलाद्वैतवाद या मायावाद कहते हैं। इनका सिद्धान्त एक श्लोकमें समझाते हुए कहा गया है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

[वेदान्तके करोड़ों ग्रन्थोंमें जो बताया गया है वह मैं आधे श्लोकमें ही बता डालता हूँ कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या या झूठ है और जीव ही ब्रह्म है, वह ब्रह्मसे अलग नहीं है।]शंकराचार्यजीने ब्रह्म, जगत् और जीवपर विचार करके यह माना है कि ब्रह्म ही एक मात्र मूल तत्त्व है। ब्रह्मतक न हमारा मन पहुँच सकता है न हम वाणीसे उसका वर्णन कर सकते हैं (वाङ्मनसातीत), न उसे जान सकते हैं (अविज्ञेय), न उसे तर्कसे समझा सकते हैं (अप्रतर्क्य), बस जो कुछ है केवल एक वही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं (एकमेवाद्वितीयम्) है और वह चिन्मात्र (केवल ज्ञानरूप) है।

भगवान् शंकराचार्यजीका कथन है कि सृष्टि होनेसे पहले केवल एक मात्र चिन्मात्र (ज्ञानरूपी) परब्रह्म ही थे। ये परब्रह्म

एक और अद्वितीय हैं। इनके जैसा कोई दूसरा नहीं है। यही ब्रह्म सत् (अस्तित्ववाले तथा सत्य) हैं। ये ही सदासे रहते आए हैं और रहेंगे। इनके अतिरिक्त जो यह सृष्टि-रूपमें जगत् दिखाई पड़ता है सब असत् है, झूठा है, इसका कोई अस्तित्व नहीं है, इसकी कोई सत्ता नहीं है।

'ब्रह्म चिन्मात्र होनेपर भी पूर्ण है तथा सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूपवाला है।' इस प्रकार श्रीशंकराचार्यका ब्रह्म तो निर्गुण और चिन्मात्र होनेपर भी पूर्ण और विभु है और केवल पूर्ण और विभु ही नहीं, स्वप्रकाश भी है अर्थात् अपने ही प्रकाशसे प्रकाशमान है।

संसारकी उत्पत्तिका विवेचन करते हुए श्रीशंकराचार्यजीने ब्रह्म-सूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके दूसरे सूत्रके भाष्यमें लिखा है—

'न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वाऽन्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्यो वा भावाद्वा संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्।'

[सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर अर्थात् ऊपर बताए हुए गुणोंसे युक्त ब्रह्मके अतिरिक्त शून्य या अत्यन्त अणुसे अर्थात् जड प्रकृति या परमाणुसे इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय होना किसी प्रकार संभव नहीं है।]

श्रीशंकराचार्यजीके मतसे ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है। वह स्थूल नहीं है, सत् नहीं है, असत् नहीं है, कार्य नहीं है, कारण भी

नहीं है, इन्द्रियातीत है अर्थात् न वहाँतक हमारा मन जा सकता, न आँखें जा सकतीं, न उसका वर्णन हो सकता, न वह ज्ञाता (जाननेवाला) है, न ज्ञेय (जिसे जाना जाय) है। अतः, वह ज्ञान और क्रिया दोनोंसे परे है। न वह कुछ करता है न जाना जा सकता है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि ब्रह्मका सगुण रूप ईश्वर है। यही सगुण ब्रह्म मायिक (मायावाला) है। इसीलिये ब्रह्म जो अपने गुणका चमत्कार दिखाता है वह सब अनित्य (सदा न रहनेवाला या नाशवान्) है। श्रीशंकराचार्यजीने अपने मायावादके सिद्धांतमें स्पष्ट कह दिया है कि 'वह सगुण ब्रह्म अनित्य और मिथ्या है। उसी सगुण ब्रह्ममें शक्ति और गुण आदिका अस्तित्व है और जब सगुण ब्रह्म स्वयं ही अनित्य और मायिक है तब उसकी शक्ति भी अनित्य है, नित्य नहीं। यह सगुण ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी करता है किन्तु जब आत्मज्ञानके निर्मल प्रकाशसे मायाका अन्धकार दूर हो जाता है तब इस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् सगुण ब्रह्मका अस्तित्व नहीं रहता और केवल निर्विशेष ब्रह्म ही एक मात्र सार और एक मात्र पारमार्थिक तत्त्वके रूपमें रह जाता है।' इस प्रकार उन्होंने निर्विशेष ब्रह्मको ही ब्रह्म माना है, सगुण ब्रह्मको तो उन्होंने शास्त्र और व्यवहारके संकोचसे आधे मनसे माना है।

अभेद या अद्वैतवादका सिद्धान्त श्रीशंकराचार्यजीने ही पहले नहीं चलाया। वेदान्त-सूत्रके निर्माणसे पहले भी आश्मरथ्य, औडुलोमि, बादरायण, आत्रेयी, काशकृत्स्न और जैमिनि आदि

ऋषिगण भी ब्रह्म और जीवके सम्बन्धमें बहुत वाद-विवाद कर चुके थे। वास्तवमें श्रीशंकराचार्यजीने बादरायण और काशकृत्स्नका मत लेकर ही 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' (ब्रह्म और जीव दोनों एक ही हैं) का प्रचार किया और यह माना कि 'मायाके कारण ही जीव और ब्रह्म दोनों अलग-अलग प्रतीत होते हैं, किन्तु जब ज्ञान हो जाता है और माया दूर हो जाती है, तब जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं रह जाता।' वे मानते हैं कि यह सारा विश्व या ब्रह्मांड केवल मायाकी ही लीला है और इसीलिये असत् है। केवल ब्रह्म ही एक सत्य है, नित्य हैं, अद्वितीय है। ब्रह्म और जीवमें कोई भेद नहीं है। मायाके कारण अलग-अलग दिखाई देनेपर भी दोनों मूलतः एक ही हैं। ज्ञानको भी ब्रह्मका गुण नहीं समझना चाहिए, ब्रह्म तो चिदेकमात्र केवल चित् अर्थात् ज्ञानरूप मात्र है। वह स्वयं विशुद्ध ज्ञान ही है। यज्ञ ब्रह्म निर्गुण है (इसमें सत्त्व, रज, तम आदि कोई भी गुण नहीं है)।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह संसार है क्या? इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्यजीने कहा है कि सगुण ब्रह्मकी मायासे ही संसारका अस्तित्व प्रतीत होता है। पर वास्तवमें यह सब इन्द्रजालके समान झूठा है। इन्द्रजाल (जादू) करनेवाली माया या अविद्या भी न तो सत् है न असत् अर्थात् न तो इसका कोई अस्तित्व ही है, न यही कहा जा सकता है कि इसका कोई अस्तित्व नहीं। यह है और नहीं भी है। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह माया असत् है ही नहीं। पर व्यावहारिक दृष्टिसे यह सत् भी है क्योंकि यह न होती तो झूठा संसार भी सच्चे-जैसा क्यों लगता। इसलिये यह है भी। यही सत् और असत् रूपवाली (सदसदात्मिका) और खोलकर न समझाई जा सकनेवाली (अनिर्वचनीय) माया ही इस संसारका कारण है। इस मायाके गुणसे युक्त अर्थात् यह मायावाला ब्रह्म

ही ईश्वर है, जिसकी मायाके इन्द्रजालमें जीवको यह सारा संसार सत्य-सा दिखाई देता है और ब्रह्म और जीव अलग-अलग प्रतीत होते हैं। मायामें बँधा हुआ जीव जो अपनेको अलग समझता है वह भी झूठा है क्योंकि मायामें फँसा होनेके कारण वह मायाके परम तत्त्वको देख नहीं पाता। इसलिये उसे यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्म)। वह अपनेको ब्रह्म न मानकर 'अहं' या 'मैं' समझ बैठता है और इसीलिये अज्ञानमें पड़े रहनेके कारण वह ब्रह्मको अपने ज्ञान-नेत्रसे देख नहीं पाता।

श्रीशंकराचार्यजीका कहना है कि आत्मा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप निष्क्रिय और अनन्त है। जीवको यह ज्ञान नहीं रहता। जीवका ज्ञान तो अपनी देह तक रहता है और इसीलिये वह जो कुछ करता है उसे अपना किया हुआ मानकर उसके फलसे पुण्य और पाप एकत्र करता रहता है और इसीलिये सब दुःख भोगता हुआ जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा रहता है। इस प्रकारके अज्ञानी जीवोंको ईश्वर (सगुण ब्रह्म) उसके पाप-पुण्यका फल देता रहता है। कल्पके अन्तमें जब जगत्का प्रलय होता है उस समय यह जीवका विचित्र विश्व (ब्रह्मांड), मायामें लीन हो जाता है। फिर कोई उपाधि (विशेषण, गुण, लक्षण) नहीं रहती किन्तु फिर भी जीव तबतक जन्म ग्रहण करते रहते हैं जबतक वे अपने किए हुए कर्मका प्रायश्चित्त नहीं कर लेते।

श्रीशंकराचार्यजीने कहा है कि सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मुक्ति नहीं मिलती। जब जीव भली भाँति तत्त्वमसि (वह तुम ही हो) समझकर भली प्रकार ब्रह्मज्ञानी हो जाता है तब जीव और ब्रह्मका भेद दूर हो जाता है और जीव मुक्ति प्राप्त करके अपने

स्वरूपको पहुँच जाता है। अतः, इस ब्रह्म, जीव और जगत्के सम्बन्धमें श्रीशंकराचार्यजीका मत यही है कि 'ब्रह्म ही सत्य है, संसार मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं।' केवल एक ब्रह्मका ही अस्तित्व माननेके कारण श्रीशंकराचार्यजीका सिद्धान्त 'केवलाद्वैत' कहलाता है।

विशिष्टाद्वैत

ब्रह्मसूत्रपर विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तके प्रथम विवृतिकार भगवान् बोधायन माने गए हैं जिनका जन्म विक्रमाब्दसे लगभग ५०० वर्ष पूर्व मगधमें हुआ था और जिनका जीवन-वृत्त गुणाढ्यकी बड्डकहा (बृहत्कथा) में दिया गया है। महर्षि पाणिनिके गुरु वर्षके ये छोटे भाई थे और इनका पहला नाम उपवर्ष था। वे दार्शनिक जगत्में ब्रह्मके अवतार माने जाते हैं। पाँच वर्षकी अवस्थामें सावित्री व्रतमें दीक्षित होकर इन्होंने साढ़े तेरह वर्षकी अवस्थामें ही सब शास्त्रोंका मन्थन कर डाला था। ब्रह्मसूत्रकी वृत्ति लिखनेपर इन्हें भगवान् बोधायन (ज्ञानके भांडार) की उपाधि दी गई। मगधमें जब महापद्म नन्दने नन्दिवर्धनका वध करके मगधपर आधिपत्य कर लिया उस समयके उपप्लवमें बोधायन वहाँसे कश्मीर चले गए और वहाँ मार्त्तण्ड (मटन) में एकान्तवास करने लगे। वहीं उन्हें श्रीशुकदेवजीने प्रत्यक्ष दर्शन देकर श्री-राम-मन्त्रका मोक्षोपदेश दिया और श्री-सम्प्रदायके संस्कारोंके साथ उनका नाम पुरुषोत्तमाचार्य पड़ा। दुर्योगवश बोधायनकी वह बोधायन-ब्रह्मसूत्रवृत्ति अब अप्राप्य है।

विशिष्टाद्वैतके प्रचार और प्रसारका श्रेय श्रीमद्रामानुजाचार्यको है। प्रपन्नामृत नामक ग्रन्थ (अध्याय ३२) में लिखा है कि 'श्री-

रामानुजाचार्यजी वेदान्तका भाष्य लिखवाना चाहते हैं परन्तु स्वयं लिखनेमें असमर्थ हैं क्योंकि उनके विचारसे बोधायनवृत्तिके बिना देखे वेदान्त भाष्य लिखना कठिन है।' उसी प्रसंगमें कहा जाता है कि कश्मीरमें बोधायनवृत्ति पुस्तकके अस्तित्वका समाचार पाकर वे कूरेश नामक पंडितको साथ लेकर कश्मीर गए और वहाँ शारदापीठसे उन्होंने बोधायनवृत्ति प्राप्त भी कर ली किन्तु पण्डितोंने वह उनसे छीन ली। इस कथामें सत्यता हो या न हो किन्तु यह तो सत्य ही है कि श्रीरामानुजाचार्यजीने विशिष्टाद्वैतका प्रचार अवश्य किया।

श्रीरामानुजाचार्यजीने श्रीमच्छंकराचार्यके मतका खण्डन करते हुए कहा कि ब्रह्म चिन्मात्र (ज्ञानमात्र) नहीं है। वह 'चिदचिद्विशेष पदार्थसमन्वित' है और यह विशेष पदार्थ भी ब्रह्मके ही शरीरके समान है। श्रीशंकराचार्यजीने इस सम्पूर्ण विश्वको मायाका इन्द्रजाल बताकर उसे मिथ्या कहा था किन्तु रामानुजाचार्यजी कहते हैं कि ब्रह्म और जीव तो चित् हैं किन्तु उनके अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं वे सब अचित् होते हुए भी नित्य और ब्रह्मके अंग ही हैं—

प्रकृतिपुरुषमहदहंकारतन्मात्रभूतेन्द्रियचतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्मांड-तदन्तर्बहिर्देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिसर्वप्रकारसंस्थानसहितं कार्य-मपि सत्र ब्रह्मैव इति।

[प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व), अहंकार, पंच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), ग्यारह इन्द्रियों और चौदह भुवनोंवाला यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड तथा इनके भीतर और बाहर जितने देवता, पक्षी, मनुष्य,

स्थावर (जड) और सब प्रकारके संस्थानों (रूपों) के साथ जितना सब कार्य होता हैं वह सबका-सब ब्रह्म ही है।] श्रीरामानुजाचार्यजीने इस सम्पूर्ण कल्याणकारी द्रव्य, गुण और कर्मसे विशिष्ट ब्रह्मको वासुदेव कहा है—

वासुदेवः परब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः॥

[परब्रह्म वासुदेवमें कल्याण करनेवाले अनेक गुण भरे हुए हैं। वे ही चौदहों भुवनोंके बनानेवाले, चौदहों भुवनोंके उपादान और सब जीवोंमें रहकर उनका नियमन या शासन करनेवाले हैं।] ये परब्रह्म अत्यन्त दयालु, भक्तोंपर कृपा करनेवाले, परम-पुरुष, सब ज्ञानके भांडार (सर्वज्ञ), सर्वशक्तिमान् और सबमें व्यापक हैं। हम जितना कुछ भी चित् (चेतन या ज्ञानमय) और अचित् (अचेतन या अज्ञानमय अर्थात् जड) देखते हैं वह सब इन्हींका ही रूप है। इसीलिये ये सब जड पदार्थ भी नित्य हैं, सदासे हैं, सदा रहेंगे और ब्रह्ममें लीन होकर भी ये बने रहते हैं। ये सब पदार्थ दो अवस्थाओंमें रहते हैं—प्रलयकी अवस्थामें तो ये सब पदार्थ अपने नाम, रूप और गुण छोड़ देते हैं अर्थात् नाम, रूप और गुणवाले रूपमें नहीं रहते। उस समय ये सब पदार्थ अव्यक्त या अप्रकट अवस्थामें रहते हैं और जीवात्मा भी संकुचित गुपचुप होकर पड़ा रहता है। उस समय ब्रह्म भी कारण-अवस्थामें अर्थात्

सबको उत्पन्न करनेवालेके रूपमें रहते हैं। इसीलिये श्रुतिमें कहा गया है—

'सदेव सौम्यमिदमग्रमासीदेकमेवाद्वितीयमिति ।'

[वह सत् (ब्रह्म) ही सौम्य या शान्त रूपसे पहले था और वह एक ही अकेला था ।]

किन्तु श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि 'इस एक और अकेली अवस्थामें भी ब्रह्म अपने विशेष तत्त्वोंसे, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, अलग नहीं रहता ।' केवल अन्तर इतना रहता है कि इस अवस्थामें सब विशेष पदार्थ उस समय अप्रकट या अव्यक्त अवस्थामें रहते हैं इसीलिये उनकी प्रतीति नहीं होती, स्फूर्ति नहीं होती। किन्तु जब प्रलय समाप्त हो जाता है तब ब्रह्म अपनी इच्छासे, अपने उस अव्यक्त या अप्रकट रूपसे फिर प्रकट रूपवाला यह अनन्त ब्रह्माण्ड झट प्रकट कर देता है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्तदीपमें लिखा है कि 'ब्रह्म और जीव भी भिन्न हैं। यह सारा विश्व चित् और अचित् (चिदचिदात्मक) है और यह चिदचिदात्मक प्रकृति (चित् और अचित् सबका मेल) ब्रह्मका शरीर है। जितना कुछ अचित् पदार्थ है वह सब चित् पदार्थकी प्रेरणा या सम्पर्कसे जी उठता है और ब्रह्म उस सब अचित् पदार्थमें प्रवेश पाकर उन्हें शक्ति देते हैं अर्थात् ब्रह्म सब पदार्थोंमें अन्तर्यामी होकर बैठे रहते हैं और उन्हें

शक्ति देते रहते हैं। इस प्रकार इस विश्वब्रह्मांडके सब पदार्थोंमें वे सर्वव्यापक होकर रहते हैं। यह जो सारा विश्व दिखाई पड़ता है सब उस ब्रह्मकी कार्य अवस्था है अर्थात् प्रलयमें तो ब्रह्मकी कारण अवस्था रहती है और प्रलयके पश्चात् जब यह सारा संसार प्रकट हो जाता है है तब कार्य होता है अर्थात् यह सृष्टि ब्रह्मसे उत्पन्न हो जाती है, ब्रह्मका परिणाम है।

श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि ये पुरुषोत्तम वासुदेवब्रह्म केवल ध्यान और भक्ति-द्वारा प्राप्त होते हैं। उस ध्यानका लक्षण बताते हुए उन्होंने कहा है कि—

'ध्यानञ्च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपा वा स्मृतिः।'

[निरन्तर प्रवाहित होनेवाली तेलकी धाराके समान निरन्तर उसीका स्मरण किया जाना ही ध्यान कहलाता है।] उन्होंने गीतासे ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय दिखानेके लिये यह श्लोक भी उद्धृत किया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

[जो लोग प्रेमके साथ मुझे निरन्तर मन लगाकर भजते हैं उन्हें मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ जिसके सहारे वे मेरे पास पहुँच जाते हैं; क्योंकि हे अर्जुन! वह परम पुरुष (ब्रह्म) अनन्य या एकनिष्ठ भक्तिके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।]

भक्तिका लक्षण बताते हुए श्रीरामानुजाचार्यजीने कहा है कि—'भक्तिस्तु निरतिशयानन्दप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरवैतृष्ण्यवद् ज्ञानविशेष एव।'

यद्यपि श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य दोनों ही अद्वैत सिद्धान्त के माननेवाले थे किन्तु दोनों ही न तो सांख्यके प्रकृति और पुरुषको मानते थे और न न्यास और वैशेषिकके आचार्योंके समान बहुतसे पदार्थ ही मानते थे। वे दोनों ही एकमात्र अद्वितीय ब्रह्मकी ही सत्ता मानते थे। फिर भी दोनोंमें विशेष अन्तर यह था कि श्रीशंकराचार्य तो ब्रह्मको चिन्मात्र मानते थे किन्तु श्रीरामानुजाचार्य अपने ब्रह्मको श्रीशंकराचार्यके समान निर्विशेष न मानकर सविशेष (चित् और अचित्से युक्त) मानते थे। श्रीशंकराचार्यजीका मत है कि चिन्मात्र ब्रह्मको छोड़कर और जितने पदार्थ हैं सब इन्द्रजाल या मायासे युक्त (मिथ्या) हैं और श्रीरामानुजाचार्यने भी 'सर्वं ब्रह्मायम्' कहकर यही स्वीकार भी किया है किन्तु वे इस विश्व-ब्रह्माण्डके सब पदार्थोंको इसी ब्रह्मके भीतर मानते हैं अर्थात् इस ब्रह्मका शरीर मानते हैं। शंकराचार्यजीने इस अनन्त जगत्को मायासे बना हुआ मानकर मिथ्या बताया है किन्तु श्रीरामानुजाचार्यजीने इस सम्पूर्ण सृष्टिको मिथ्या न मानकर सत्य माना है। श्रीशंकराचार्यजीका ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष और चिदेकमात्र केवल ज्ञान मात्र है किन्तु रामानुजाचार्यका ब्रह्म सम्पूर्ण उत्पन्न और अनुत्पन्न जीवों और सब वस्तुओंसे युक्त गुणमय पुरुष माना गया है। श्रीशंकराचार्यजीने जो ईश्वर (सोपाधि ब्रह्म) माना है वह माया-विलसित है, इसलिये मायिक अर्थात् मायावाला और असत्य है किन्तु रामानुजका ब्रह्म सर्व-शक्तिमान्, सर्वस्रष्टा और सब कुछ करनेवाला है। शंकराचार्यजीका मत है कि मायाके भावसे विहीन जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं किन्तु रामानुजाचार्यजीने माना है कि प्रत्येक जीव चित्कण है और ब्रह्मका ही अंश है। फिर भी उसकी सत्ता स्वतन्त्र है और वह उसकी अलग सत्ता सदा बनी रहती है। शंकराचार्यजीके मत जीव और ब्रह्मके भेदका समाप्त हो जाना ही ब्रह्मनिर्वाण या

मुक्ति है किन्तु रामानुजाचार्यजीके मतसे भगवद्धाममें जीवका नित्य या सदाके लिये प्रतिष्ठित हो जाना ही परम मुक्ति है। रामानुजाचार्यजीने शंकराचार्यजीके समान दो प्रकारके ब्रह्म नहीं माने। इसके अतिरिक्त शंकराचार्यजी विवर्तवादी थे और रामानुजाचार्य परिणामवादी अर्थात् शंकराचार्यजी यह मानते थे कि यह सारी सृष्टि ब्रह्मका विवर्त है अर्थात् अज्ञानसे उत्पन्न है किन्तु रामानुजाचार्य मानते हैं कि सारी सृष्टि ब्रह्मका परिणाम है, इसलिये वे परिणामवादी कहलाते हैं।

श्रीमध्वाचार्यजीका द्वैतवाद

श्रीमध्वाचार्यजीका वास्तविक नाम वासुदेव और संन्यासोत्तर-नाम आनन्दतीर्थ था। इनका दार्शनिक मत पूर्णप्रज्ञ-दर्शन भी कहलाता है क्योंकि इनका एक नाम पूर्णप्रज्ञ भी था। इन्होंने प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर जो भाष्य किया है उसका पंडितसमाजमें बड़ा आदर है। यद्यपि इनके जन्मका ठीक समय तो नहीं ज्ञात है किन्तु यह निश्चय है कि ये बारहवीं शताब्दिके प्रारम्भमें हुए थे।

श्रीमध्वाचार्यजीका मत है कि तत्त्व-पदार्थ केवल दो हैं—स्वतन्त्र और अस्वतंत्र। दोषरहित, पूर्ण (अशेष) और सद्गुण-सम्पन्न भगवान् विष्णु ही स्वतंत्र पदार्थ हैं। इनके अतिरिक्त और जो भी कुछ है सब अस्वतंत्र है। उन्होंने कहा है—

"परमेश्वरो जीवाद् भिन्नः तं प्रति सेव्यत्वात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद्भिन्नो यथा भृत्याद्राजा।"

[जीवसे परमेश्वर भिन्न है क्योंकि परमेश्वर सेव्य (स्वामी, सेवा करनेके योग्य) हैं। जैसे भृत्य (नौकर) से राजा भिन्न होता है वैसे ही सेवक और सेव्य (स्वामी) दोनों भिन्न होते हैं।] जो भृत्य

(नौकर) सुख पाना चाहे उसे राजाकी आज्ञाके अनुसार काम करना चाहिए। यदि वह स्वयं राजा बननेका स्वप्न देखता है तो उसे पग-पगपर ठोकरें खानी पड़ती हैं। यदि नौकर अपने स्वामी राजाके पास पहुँचकर अपनेको राजा बनानेकी ढिठाई करे तो राजा तत्काल उस नौकरको दण्ड देकर यमपुर भेज देता है। किन्तु जो नौकर सदा राजाकी सेवा और चाटुकारी करता रहता है, उसपर राजा कृपा करते हैं और वह सुखसे दिन बिताता है। इसी प्रकार यह जीव भी परमेश्वर (विष्णु) का सेवक है। वह जबतक अपनेको सेवक मानकर परमेश्वरका गुणानुकीर्त्तन करता रहता है तबतक वह सुख पाता है और जब अहंकारमें आकर अपनेको ही ईश्वर मान बैठता है तब उसका विनाश हो जाता है।

श्रीमध्वाचार्यजीका मत है कि ईश्वर, जीव और जडका यह भेद पाँच प्रकार का होता है—१. जीव और ईश्वरमें भेद, २. जड और ईश्वरमें भेद, ३. जीव और जीवमें भेद, ४. जड और जीवमें भेद तथा ५. जड और जडमें भेद। इन भेदोंको मध्वाचार्यजीने प्रपंच कहा है। यह जीव-पंचक अनादि, नित्य, सदा रहनेवाला और सदासे रहा है।

श्रीशंकराचार्यजीके अद्वैत-सिद्धान्तका खंडन करते हुए उन्होंने भगवद्गीतासे प्रमाण दिया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

[विश्वमें दो ही पुरुष हैं—एक क्षर अर्थात् नाशवान् और दूसरा अक्षर या सदा रहनेवाला। इनमेंसे जितने भूत (प्राणी अथवा पंच महाभूत) हैं वे सबक्षर या नाशवान् कहलाते हैं और सबके ऊपर बैठा हुआ सबपर शासन करनेवाला ईश्वर ही अक्षर हैं।] उनका

कहना है कि जीवका परम ऐक्य (एक हो जाना) चाहे बुद्धिसारूप्यमात्र (अपनी समझके कारण भगवान्‌के समान रूपवाला हो जाना) हो या एकस्थान-सन्निवेश मात्र (एक स्थानपर जुट जाना) हो किन्तु वास्तवमें मुक्त होनेपर भी जीव और ब्रह्मका अलगाव बना ही रहता है।

श्रीमध्वाचार्यजी जगत्‌को भी मिथ्या नहीं मानते क्योंकि जगत्‌का मिथ्या होना वे किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं समझते।

उनका सिद्धान्त है कि 'नारायण' (विष्णु) स्वतंत्र पदार्थ हैं और नारायणसे भिन्न जितने भी पदार्थ हैं वे सब अस्वतंत्र हैं। इस प्रकार वे दो तत्त्व मानते हैं और दो तत्त्व माननेके कारण ही उनका मत द्वैतवाद कहलाता है। श्रीरामानुजाचार्यजीने तो चित् और अचित् इन दोनों प्रकारके पदार्थोंको ब्रह्मका ही अङ्गभूत माना है किन्तु श्रीमध्वाचार्यजीने नारायणको और नारायणके अतिरिक्त सब पदार्थोंको अलग-अलग दो तत्त्वोंके रूपमें माना है। इस प्रकार श्रीमध्वाचार्यजीने मायावाद-शतदूषणी तथा तत्त्वमुक्तावली आदि ग्रन्थोंमें अद्वैतवादका खंडन करके द्वैतवादका ही निरूपण किया है। उनका मत है—

एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा न च शंकरः।
आनंद एक एवाग्र आसीन्नारायणः प्रभुः॥

[सबसे पहले केवल एक आनन्दस्वरूप भगवान् नारायण थे। उस समय न ब्रह्मा थे, न शंकर।] उन विष्णुकी ही देहसे सारा जगत् उत्पन्न हुआ—

विष्णोर्देहाज्जगत्सर्वमाविरासीत्।

उनका कहना है कि जैसे पक्षी और सूत्र, वृक्ष और रस, नदी

और समुद्र, शुद्ध जल और नमक, चोर और चुराया हुआ द्रव्य, पुरुष और इन्द्रिय, एक दूसरेसे भिन्न हैं वैसे ही ईश्वर और जीव भी भिन्न और विलक्षण (अलग-अलग लक्षणोंवाले) हैं।

श्रीमध्वाचार्यजी न तो यही मानते हैं कि परमात्मामें जीव लय हो जाता है न निर्वाण-मुक्ति ही मानते हैं। वे तो कहते हैं कि 'नारायण अपने वैकुण्ठ-धाममें लक्ष्मी, भूमि, और नीलादेवी नामक तीन पत्नियोंके साथ स्वर्गीय वेशभूषासे सुशोभित होकर अनिर्वचनीय ऐश्वर्य-सुख भोगते हैं। वे जब अपने रूपमें रहते हैं तब गुणोंसे रहित (गुणातीत) रहते हैं पर जब वे मायाके साथ मिल जाते हैं तब सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंसे युक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव-रूपमें प्रकट होकर जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं। ये सब मायासे ही उत्पन्न होते हैं और मायासे ही समाप्त हो जाते हैं।

उन्होंने साधनकी प्रणाली बताते हुए कहा है कि साधनाके प्रधानतः तीन अंग हैं—

१. अंकन : अपने शरीरके विभिन्न अंगोंपर विष्णुके शंख, चक्र आदि चिह्न धारण करना।

२. नामकरण : विष्णुके ही अनेक नामोंके अनुसार अपने पुत्र, पौत्र, बन्धु आदि का नाम रखना।

३. भजन : कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार से भजन करना।

उन्होंने दान, परित्राण (दूसरों की रक्षा) और परिरक्षण, ये तीन प्रकारके कायिक भजन माने हैं; सत्य व्यवहार करना, हितकर कार्य करना, सबसे प्रिय बोलना और शास्त्रोंका अध्ययन करते रहना ये

चार वाचिक भजन माने हैं, दया, स्पृहा (इष्टसे मिलने की आकांक्षा) और श्रद्धा ये तीन मानसिक भजन माने हैं। इनमेंसे एक-एक कार्य करके नारायणको आत्मसमर्पण करना ही उनके अनुसार भजन है।

श्रीमध्वाचार्यजीका मत है कि 'मनुष्यको एक मात्र यही कामना करनी चाहिए और केवल इसलिये साधना करनी चाहिए कि भगवान् विष्णुके प्रसादसे हमें परम सुख मिले।' वे मानते हैं कि 'शिव, ब्रह्मा आदि जितने देवता हैं वे सब अनित्य और क्षर अर्थात् नाशवान् हैं, केवल लक्ष्मी ही अक्षर हैं और विष्णु इन क्षर और अक्षर दोनोंसे बड़े (प्रधान) और स्वतन्त्र हैं। इन विष्णु के गुणोंका महत्त्व जान लेनेपर उनका प्रसाद तो प्राप्त हो जाता है पर जीव और ईश्वरका भेद बना रहता है। जिन व्यक्तियोंका विष्णुसे प्रेम हो जाता है उन्हें फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। वे वैकुण्ठवासी होकर सायुज्य या सारूप्य (भगवान्के जैसा रूप धारण करना), सालोक्य (उनके लोकमें रहना), सान्निध्य (उनके पास रहना) और सार्ष्टि (उनकी पदवी धारण करना) नामक चार प्रकारकी मुक्ति प्राप्त करके अनिर्वचनीय सुख भोगते हैं।

श्रीविष्णुस्वामीका शुद्धाद्वैतवाद

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके शुद्धाद्वैतका मूल श्रीविष्णुस्वामीका शुद्धाद्वैतवाद ही माना जाता है। श्रीविष्णुस्वामीके शुद्धाद्वैतवाद मतके अनुसार ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वतन्त्र और सर्वव्यापक है। वह ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी सगुण और निराकार होते हुए भी साकार है। ये जीवात्माको चित्कण, सूक्ष्म, नित्य तथा आनन्द-स्वरूप मानते हैं। इनके मतके अनुसार जीव भी ब्रह्मका अंश तो है किन्तु कर्त्ता और भोक्ता होते हुए भी ब्रह्मसे अभिन्न है। ये लोग

जगत्‌को भी नित्य, सत्य और भगवत्स्वरूप मानते हैं। यही माया-तत्त्व स्थूल और सूक्ष्म रूपसे सदा ब्रह्मके साथ रहता है। यहाँ-तक कि प्रलय-कालमें भी यह मायातत्त्व सूक्ष्म रूपसे ब्रह्मके साथ लगा रहता है। विष्णुस्वामीने सायुज्य मुक्तिको ही मोक्ष माना है। विष्णुस्वामीके सम्प्रदायका आधार रुद्र सम्प्रदाय है। विष्णुस्वामीने कृष्णावतारको ही परात्पर ब्रह्म माना है।

शैवाद्वैत या प्रत्यभिज्ञादर्शन

केवल वैष्णव आचार्योंने ही नहीं, शैव आचार्योंने भी ब्रह्म-सूत्रकी व्याख्या अपने दृष्टिकोणसे की है। तदनुसार श्रीश्रीकंठाचार्यजीने विशिष्टाद्वैतका भक्ति-पक्ष मानते हुए शैव सिद्धान्तके आधारपर ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें शैवाद्वैतका प्रतिपादन किया।

यद्यपि शैव सम्प्रदायके आचार्योंने भी ब्रह्मसूत्रके अद्वैतवादको लगभग उसी ढंगसे माना है जिस ढंगसे शङ्कराचार्यजीने माना है पर सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शंकराचार्यजीके अद्वैतवादमें उपासक (उपासना करनेवाला भक्त) और उपास्य (जिसकी उपासना की जाय) का सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। इस सम्बन्धके बिना भक्तिका कोई आधार ही नहीं रह जाता। इसलिये श्रीश्रीकण्ठाचार्यजीने ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी भूमिकामें स्पष्ट लिख दिया है—

व्याससूत्रमिदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मदर्शने।
पूर्वाचार्यैः कलुषितं श्रीकण्ठेन प्रसाद्यते॥

[विद्वान् लोग जिससे ब्रह्मका दर्शन करते हैं उस व्याससूत्र-रूपी नेत्रको पुराने आचार्योंने जो धुँधला कर दिया था उसे श्रीकण्ठने

स्वच्छ कर दिया।] श्रीमध्वाचार्यजीने अपने सर्वदर्शनसंग्रहमें जिस शैव-दर्शनकी व्याख्या की है वह यद्यपि विशिष्टाद्वैत-वादी नहीं है फिर भी वह शङ्कराचार्यजीके अद्वैतवादसे तनिक भी मेल नहीं खाती क्योंकि उसमें चित् और अचित् दोनों पदार्थोंको नित्य और सत्य माना है।

शैव दर्शनवालोंने तीन पदार्थ माने हैं—१. पशुपति (ईश्वर), २. पशु (जीवात्मा) और ३. पाश (अचित् या जड), इसलिये उनका सिद्धान्त त्रिकवाद कहलाता है। किन्तु ज्ञान-रत्नावलीके लेखकने छह पदार्थ माने हैं—ईश्वर, विद्या, अविद्या, पशु (आत्मा), पाश और कारण—

पतिविद्ये तथाविद्या पशुः पाशश्च कारणम्।
तन्निवृत्ताविति प्रोक्ताः पदार्थाः षट् समासतः॥

शैव-वेदान्तियोंका कहना है कि पशुपति, पशु और पाश तीन ही मुख्य पदार्थ हैं। पाशसे मुक्तिके लिये उन्होंने विद्या, क्रिया, योग और चर्या ये चार साधन बताए हैं।

पशुपति

प्रत्यभिज्ञा-दर्शनके अनुसार अनेक रूप धारण करनेवाले बहुरूपिए-के समान भगवान् महेश्वर भी स्थावर, जङ्गम आदि अनेक रूपोंमें रहनेकी इच्छा करते हुए स्थावर और जंगम सृष्टिका निर्माण करते और उन सब रूपोंमें रहते भी हैं। अतः, यह सारा जगत् महेश्वरात्मक है और ये महेश्वर स्वतः आनन्द-स्वरूप, ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप हैं। इस दर्शनके अनुसार मुक्ति-स्वरूपिणी परात्पर सिद्धि प्राप्त करनेके लिये एक मात्र उपाय प्रत्यभिज्ञा अर्थात् वह अभेद-ज्ञान है जिसमें जीवात्मा स्वयं अपनेको ईश्वरसे भिन्न समझ लेता है

और स्वयं अपनेको ही यह अनुभव करता है—'स एवेश्वरोऽहम्' (वह ईश्वर ही मैं हूँ)।

पशु

तन्त्र-तत्त्वज्ञोंका कथन है कि पशु, पाश तथा पशुपतिका ज्ञान प्राप्त करानेवाली शिक्षाको ही विद्या कहते हैं। अनेक प्रकारकी साङ्गोपाङ्ग दीक्षाविधिको क्रिया कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधिके अनुसार चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहते हैं और शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मोंके त्यागको चर्या कहते हैं। सब प्रकारकी शक्तियोंसे सम्पन्न, परम स्वतन्त्र, नित्य तथा सबपर अनुग्रह करनेवाले भगवान् महेश्वर ही पशुपति हैं जो सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह ये पाँच कर्म करते हैं। जीवात्माका ही नाम पशु है क्योंकि वह पाशोंमें बँधा रहता है। वह अणु नहीं वरन् व्यापक और नित्य है।

ये पशु तीन प्रकारके होते हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल। १. जो पशु परमात्माके स्वरूपको पहचानकर जप, ध्यान तथा संन्यास-द्वारा अथवा भोग-द्वारा कर्मोंका क्षय कर डालता है और कर्मोंका क्षय हो जानेके कारण जिसको शरीर और इन्द्रिय आदिका बन्धन नहीं रहता और जिसमें केवल मलरूपी पाश (बन्धन) रह जाता है, उसे विज्ञानाकल कहते हैं।

२. जब जीवात्माके शरीर, इन्द्रिय आदि प्रलयकालमें लीन हो जाते हैं और उसमें मायेय मल न रहनेपर भी आणव और कर्मज ये दो मल-रूपी पाश बचे रह जाते हैं तब वह प्रलयाकल कहलाता है।

३. जिस जीवात्मामें आणव, मायेय और कर्मज—तीनों मल (पाश) रहते हैं, वह कला-आदि भोग बन्धनोंसे युक्त होनेके कारण 'सकल' कहलाता है।

विज्ञानाकल पशु (जीव) के भी दो भेद होते हैं—समाप्त-कलुष और असमाप्तकलुष। जीवात्मा जितने कर्म करता है उन सबकी तह क्रमशः मैलपर जमती रहती है। इसी कारण उस मलका परिपाक नहीं हो पाता। किन्तु जब कर्मोंका त्याग हो जाता, तब तह न जमनेके कारण मलका परिपाक हो जाता है और जीवात्माके सारे कलुष समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये वह समाप्त-कलुष कहलाता है। ऐसे जीवात्माओंको भगवान् आठ प्रकारके 'विद्येश्वर' पदपर पहुँचा देते हैं—

१. अनन्त, २. सूक्ष्म, ३. शिवोत्तम, ४. एकनेत्र, ५. एकरुद्र, ६. त्रिमूर्ति, ७. श्रीकंठ और ८. शिखण्डी।

असमाप्त-कलुष वे हैं जिनकी कलुष-राशि अभी समाप्त नहीं हुई। परमेश्वर ऐसे जीवात्माओंको मन्त्रके स्वरूपमें रख छोड़ता है। कर्म तथा शरीरसे रहित किन्तु मल-रूपी पाशमें बँधे हुए जीवात्मा ही मंत्र हैं और इनकी संख्या सात करोड़ है। ये सब मन्त्र अन्य जीवात्माओंपर निरन्तर अपनी कृपा करते रहते हैं।

प्रलयाकल भी दो प्रकारके होते हैं—पक्वपाशद्वय और अपक्व-पाशद्वय।

१. जिनके मल तथा कर्म-रूपी दोनों पाशोंका परिपाक हो गया है, वे पक्वपाशद्वय मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

२. अपक्वपाशद्वय जीव पुर्यष्टक देह धारण करके नाना प्रकारके कर्म करते हुए नाना योनियोंमें घूमा करते हैं।

सकल जीवोंके भी दो भेद हैं—पक्वकलुष और अपक्वकलुष—

१. जैसे-जैसे जीवात्माके मल, कर्म तथा माया-पाशोंका परिपाक बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ये सब पाश शक्तिहीन होते जाते हैं। तब ये पक्वकलुष जीवात्मा सब मन्त्रेश्वर कहलाने लगते हैं। ये ११८ मन्त्रेश्वर जीव ही उपर्युक्त सात करोड़ मंत्ररूपी जीव-विषयोंके अधिकारी हैं।

२. अपक्वकलुष जीव भवकूपमें गिरते हैं।

पाश

शैव महातन्त्रने पाँच प्रकारके पाश बतलाए हैं—१. मलज, २. कर्मज, ३. मायेय (माया-जन्य), ४. तिरोधान-शक्तिज और ५. बिन्दुज।

आधुनिक शैव दर्शनमें चार प्रकार के पाशोंका उल्लेख है—मल, रोध, कर्म तथा माया। रोध या तिरोधान-शक्ति एक ही वस्तु है। 'बिन्दु' ही मायास्वरूप है और वही शिवतत्त्व है। यद्यपि शिवपदकी प्राप्ति अर्थात् परम मोक्षकी तुलनामें यह भी पाश ही है तथापि विद्येश्वर आदि पदकी प्राप्तिमें कारण होनेके कारण बिन्दु शक्तिको ही अपरा मुक्ति कहा गया है। अतः, उसे आधुनिक शैव दर्शनमें 'पाश' नहीं कहा गया।

१. आत्माके स्वाभाविक ज्ञान तथा क्रियाशक्तिको जो ढक ले, वह मल अर्थात् अज्ञान कहलाता है। यह मल आत्मस्वरूपको केवल आच्छादन ही नहीं करता वरन् जीवात्माको बलपूर्वक दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला पाश भी यही है।

२. प्रत्येक वस्तुमें जो सामर्थ्य है, उसे शिव-शक्ति कहते हैं, जैसे

अग्निमें दाहक शक्ति। यह शक्ति जिस प्रकारके पदार्थमें पहुँचती है, वैसा ही भला-बुरा स्वरूप धारण कर लेती है। अतः, पाशमें रहती हुई यह शक्ति जब आत्माके स्वरूपको ढक लेती है तब यह रोधशक्ति ही तिरोधान पाश कहलाती है। इस अवस्थामें जीव अपने शरीरको ही आत्मा मानकर शरीरके पोषणमें लगा रहता है, आत्माके उद्धारका प्रयत्न नहीं करता।

३. फलकी इच्छासे किए हुए धर्माधर्म-रूप कर्मोंको ही कर्मपाश कहते हैं।

४. जिस शक्तिमें प्रलयके समय सब कुछ लीन हो जाता है तथा सृष्टिके समय जिसमेंसे सब कुछ उत्पन्न हो जाता है, वही माया-पाश है। अतः, इन पाशोंमें बँधा हुआ जीव जब तत्त्वज्ञान-द्वारा इनका उच्छेद कर डालता है तभी वह परम शिवतत्त्व अर्थात् आनन्दमय पशुपतिपद प्राप्त करता है। यही शैवोंका अद्वैतवाद है।

भेदाभेद-वाद

वेदान्तपर विचार करनेवाले वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्योंमेंसे निम्बार्क सम्प्रदायवालोंने ब्रह्म, जीव और जगत्के सम्बन्धमें भेदाभेदवादका नवीन सिद्धान्त समझाते हुए कहा कि 'ब्रह्म, जीव और जगत् सब एकरूप भी हैं और अलग-अलग भी।' यद्यपि वैष्णव आचार्य श्रीनिम्बार्कने औडुलोमिकी वेदान्त-सूत्र-वृत्तिके आधारपर वेदान्त-पारिजात-सौरभ नामका ग्रन्थ लिखा था किन्तु निम्बार्क-सम्प्रदायका वास्तवमें मूल भाष्य ग्रन्थ श्रीनिम्बार्कके शिष्य श्रीनिवासाचार्यका वेदान्त-कौस्तुभ ही है।

वेदान्त-कौस्तुभके आरम्भमें ही उन्होंने लिखा है कि 'भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने संसारके भ्रममें पड़े हुए नास्तिक और

भक्तिहीन जीवोंके हृदयमें अपनी भक्तिका भाव भरनेके लिए कृष्ण-द्वैपायनका रूप धारण करके परम-तत्त्व-प्रकाश, समन्वय, अवरोध-साधन और फल नामके चार अध्यायवाला वेदान्तसूत्र प्रकाशित किया। इसके पश्चात् सुदर्शन चक्रके अवतार श्रीनिम्बार्कजीने वेदान्त-पारिजात लिखा और फिर शङ्करके अवतार श्रीनिवासाचार्यने उसका भाष्य किया।

इस ग्रन्थके पढ़नेसे यह भी जाना जा सकता है कि सबसे पहले औडुलोमि ऋषिने ही द्वैतवाद चलाया। इनके मतसे चित्, अचित् और ब्रह्म ये तीन तत्त्व हैं किन्तु ये चित् और अचित्, ब्रह्मसे अलग होते हुए भी अलग नहीं हैं—अर्थात् ये तीनों तत्त्व भिन्न या अलग भी हैं और अभिन्न अर्थात् एक भी।

भोक्ता-भोग्य-प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्।

[भोक्ता, भोग्य और प्रेरणा देनेवाले तीनों भिन्न होते हुए भी एक (ब्रह्म) ही हैं।]

अचिन्त्य (विचारकी पहुँचसे बाहर), अनन्त, निरत्यय (निरञ्जन या दोषरहित), स्वाभाविक, सबसे बड़े, स्वरूप और गुण आदिके आधार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्ववेदैकवेद्य (सबसे अधिक-जानने-योग्य) और सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। श्रुतिने कहा भी है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

[उस ब्रह्मकी परा शक्ति अनेक प्रकार की है, जो स्वाभाविक, ज्ञानमयी, शक्तिमयी और क्रियामयी है।]

श्रुतियोंने यह भी कहा है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ॥

[वह सब ईश्वरोंसे बड़ा महेश्वर है, देवताओंमें भी सबसे बड़ा देवता है, न उसे किसीने बनाया है, न कोई उसके समान या उससे बढ़कर है।]

परब्रह्म

निम्बार्क सम्प्रदायवालोंके मतसे ऊपर दिए हुए लक्षणोंवाले श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। इन ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिये ज्ञान ही सबसे बड़ा आधार है। इस ज्ञानको ही ध्यान, ध्रुवा, स्मृति और पराभक्ति कहते हैं। श्रवण (श्रीकृष्णकी लीला सुननेसे), मनन (उसपर विचार करनेसे) तथा निदिध्यासन (बारबार स्मरण और ध्यान करने) से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

जीव

जीवका लक्षण बताते हुए ये लोग कहते हैं कि अचित् वस्तुओंसे भिन्न, ज्ञान-स्वरूप, ज्ञाता (जाननेवाला), कर्त्ता (करनेवाला) आदि गुणोंवाला, भगवान्‌के समान स्वरूप, स्थिति और प्रकृतिवाला, अणुके समान अत्यन्त सूक्ष्म, प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग रहनेवाला और मोक्षकी इच्छा करनेवाला चित् (ज्ञानमय) पदार्थ ही जीव है।

अचित् पदार्थ

ब्रह्म और चित् जीवके अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं वे सब अचित् हैं। ये अचित् पदार्थ तीन प्रकारके होते हैं—प्राकृत, अप्राकृत और काल। ये सब अचेतन और प्रधान भी कहलाते हैं।

सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंके आधार पर बना हुआ द्रव्य तो प्राकृत कहलाता है। यह पदार्थ नित्य अर्थात् सदा रहनेवाला तो होता है पर उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ये सब प्राकृत पदार्थ कालके अधीन होते हैं।

जिन पदार्थोंपर सत्त्व, रज और तम गुणोंका और कालका प्रभाव नहीं होता और जो अचेतन होते हैं, वे अपाकृत अचित् पदार्थ कहलाते हैं, जैसे—परव्योम, परमपद, ब्रह्मलोक आदि। इन सब धामोंपर कालका प्रभाव नहीं होता।

इन प्राकृत और अप्राकृत पदार्थोंके अतिरिक्त तीसरा अचित् द्रव्य ही काल है जो नित्य और विभु (सर्वव्यापक) है।

निम्बार्क सम्प्रदायवाले इस प्रकार ब्रह्म, चित् और अचित् तीनों-को अलग-अलग भी मानते हैं और साथ-साथ यह भी मानते हैं कि ये सब एक परब्रह्म रूप भी हैं। इस सम्प्रदायका मत है कि भेद और अभेदके आधार भगवान् श्रीकृष्णका ही वेदान्तमें विचार किया गया है। उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान्के भगवद्भावमें तन्मय हो जाना ही मोक्ष माना है। उनके मतसे वेदान्त शास्त्रका यही प्रयोजन है।

भेद और अभेद दोनोंको एक साथ माननेके कारण ही इनका मत भेदाभेदवाद कहलाता है।

विशुद्धाद्वैतवाद

यों तो विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्यने भी वासुदेव श्रीकृष्ण-को परम ब्रह्म मानकर भक्तिमार्गका ही प्रतिपादन किया था किन्तु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने अपने अणुभाष्यके द्वारा उस सिद्धान्तको और भी अधिक विस्तारसे खोलकर समझाया है।

श्रीशंकराचार्यजीने अपने केवलाद्वैतमें समझाया है कि 'ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष और निराकार है' किन्तु वल्लभाचार्यजीका कहना है कि केवलाद्वैतका सिद्धान्त शुद्ध सिद्धान्त नहीं है क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें दिए हुए ब्रह्मके स्वरूपलक्षण 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' और 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्' से स्पष्ट है कि ब्रह्म न तो निर्विकार है, न निर्विशेष है और न निर्धर्मक अर्थात् धर्म या गुणोंसे हीन ही है। इसलिये केवला-द्वैतवाद विशुद्ध सिद्धान्त नहीं है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने ब्रह्मको एक और अद्वैत मानते हुए भी शंकराचार्यजीके केवलाद्वैतको शुद्ध नहीं माना इसलिये उन्होंने शंकराचार्यजीके सिद्धान्तका खंडन करके विशुद्धाद्वैतका सिद्धान्त स्थापित किया।

परब्रह्म

इनका मत है कि 'परब्रह्म सर्वधर्म-विशिष्ट (सब धर्मोंसे युक्त), सच्चिदानन्द, व्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ तथा निर्गुण है। वह देश, काल, वस्तु, रूप इन चार प्रकारके आवरणोंसे रहित है। वह न स्वजातीय है, न विजातीय है, न स्वगत है। वह अन्तर्यामी, अनन्त, स्वाभाविक गुणोंसे विशिष्ट और मायाधीश है। यह ब्रह्म निर्धर्मक होकर भी सधर्मक है, निर्गुण होकर भी सगुण है, आत्माराम होकर भी सर्वरमण है, शिशु होकर भी रसिकशेखर है।

इनके समान या इनसे बढ़कर कोई नहीं है फिर भी वह सर्वमय है। मच्छर भी वही है, हाथी भी वही है।

श्रीवल्लभाचार्यजीका मत है कि 'ईश्वरने जो कुछ किया है वह मायाके द्वारा नहीं किया है। वह तो स्वयं उसने अपने माहात्म्यसे किया है। 'एकोहं बहु स्यां प्रजायेय। तदात्मानं स्वकुरुत। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि ब्रह्ममें सब कुछ करनेकी शक्ति विद्यमान है। वेदान्तसूत्रमें भी कहा गया है—'जन्माद्यस्य यतः' और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा गया है—

अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

इन सब प्रमाणोंसे निश्चय है कि उस ब्रह्ममें रचनेकी शक्ति है और वह रचता भी है।

जीव

विशुद्धाद्वैतवादी लोग जीवको चित्कण (ज्ञानका कण) मानते हैं। वे उसे अत्यन्त सूक्ष्म, परिच्छिन्न (सीमाबद्ध), चित्प्रधान (ज्ञान-प्रधान) और आनन्द-स्वरूप मानते हैं। यह जीव मायाके प्रभावसे बँधा हुआ स्वयं आनन्दस्वरूप होकर भी सांसारिक दुःख पाता रहता है जिससे इस जीवमें दीनता, दुःख और अहंकार आदिकी उत्पत्ति होती रहती है। यह जीव नित्य और अणु है। यह जीव कर्त्ता भी है और भोक्ता भी।

विशुद्धाद्वैत-वादियोंने जीव और ब्रह्म दोनोंको एक मानते हुए बताया है कि ब्रह्म तो चित् और प्रकट आनन्द है किन्तु जीव तिरोहित आनन्द है। तिरोहित (ढका हुआ) आनन्द होनेपर भी शुद्ध जीव और ब्रह्म दोनों वस्तुतः एक ही हैं।

जगत् सत्य है

श्रीशंकराचार्यजीने अपने मायावादके सिद्धान्तके अनुसार जगत्को मिथ्या बताया है, किन्तु विशुद्धाद्वैत-वादियोंका मत है कि यह जगत् भी सत्य और नित्य है। यह जगत् साक्षात् भगवत्स्वरूप अर्थात् भगवान्का ही रूप या यों कहिए कि भगवान् ही है। इस सम्बन्धमें 'भावे च उपलब्धेः' और—

सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्।
यदिदं किं च तत् सत्यमिति आचक्षते ॥
असद्वा इदमग्र आसीत्।
पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
तदेतदक्षयं जगत्।

[इस सृष्टि के प्रारम्भमें केवल सत् ही था। यह सत् ही एक मात्र सत्य है। असत् भी प्रारम्भमें था। यह जगत् भी पूर्ण है, ब्रह्म भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्णकी उत्पत्ति हुई है। पूर्णसे पूर्ण निकाल लेने-पर भी पूर्ण ही बचा रह जाता है। अतः, यह जगत् भी अक्षय है, नित्य है।]

—आदि प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि जगत् नित्य और सत्य है।

इनका मत है कि 'परम ब्रह्म या परम तत्त्व श्रीकृष्ण हैं जिन्हें भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है। विशिष्टाद्वैतवादी तो सालोक्य (इष्टदेवके लोकमें रहना), सायुज्य (इष्टमें लीन हो जाना), सामीप्य (इष्टके समीप होना) और सार्ष्टि (इष्टकी पदवी धारण करना) नामक चार प्रकारका मोक्ष मानते हैं किन्तु विशुद्धाद्वैतवादी

तो केवल सायुज्य मोक्ष मानते हैं जिसमें भक्त मुक्त होकर स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाता है।

तीन प्रकारके जीव

विशुद्धाद्वैतवादियोंका यह भी मत है कि जीव तीन प्रकारके होते हैं—१. जो जीव संसारमें आकर उत्पन्न होते और मर जाते हैं वे सब प्रवाह जीव हैं। २. जो लोक-वेदकी मर्यादाके अनुसार जीवन-यापन करते हैं वे मर्यादा जीव हैं; और ३. जो भगवान्‌की कृपासे पुष्ट होकर आते हैं वे पुष्ट जीव हैं। इन्हीं पुष्ट जीवोंको ही सायुज्य मोक्ष मिलता है और वे ही मोक्षके अधिकारी हैं। ये लोग भगवान्‌के अनुग्रहको ही पुष्टि कहते हैं—पोषणं तदनुग्रहः (उनका अनुग्रह ही पोषण या पुष्टि है)। इसीलिये विशुद्धाद्वैतवादी लोग पुष्टिमार्गी कहलाते हैं।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके पश्चात् श्रीगौरांग महाप्रभु अर्थात् चैतन्य महाप्रभु भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् अवतार माने जाते हैं। यद्यपि उन्होंने वेदान्तपर कोई भाष्य नहीं लिखा किन्तु उनके मतके अनुसार श्रीमद्भागवत ही वेदान्त-सूत्रका सबसे बड़ा सटीक और सच्चा भाष्य है। गरुड पुराणमें लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥

[यही ब्रह्मसूत्रोंका अर्थ है, महाभारतके सम्पूर्ण अर्थका सार-रूप और गायत्रीका भाष्य है।] श्रीजीवगोस्वामीने श्रीमद्भागवतकी क्रम-सन्दर्भ-टीकामें उपर्युक्त श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखा है

कि 'श्रीभागवत ही सारे ब्रह्मसूत्रोंका सीधा, सरल,सच्चा और निश्छल भाष्य है। इसीलिये श्रीमद्भागवत-जैसे भाष्यके आगे और सब भाष्य बनावटी और गपोड़े हैं।' इसी सिद्धान्तके अनुसार श्रीगौरांग महाप्रभुके साथ रहनेवाले भक्तोंने वेदान्त-सूत्रपर कोई भाष्य लिखने-का प्रयत्न नहीं किया। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि उन्होंने उस समयके बड़े-बड़े वेदान्तियोंके आगे वेदान्तका एक नया सिद्धान्त रक्खा और वह था अचिन्त्यभेदाभेदवाद।

जिस समय श्रीगौरांग महाप्रभु काशी आए उस समय मायावाद-के प्रसिद्ध आचार्य श्रीमत्प्रकाशानन्द सरस्वती, नवद्वीपके अद्वितीय सर्वदर्शनके आचार्य और नैयायिक श्रीमद्वासुदेव सार्वभौम आदि सभी विद्वान् वेदान्तसूत्रका यह निराला भाष्य और सिद्धान्त सुनकर श्रीगौरांगकी अलौकिक प्रतिभापर मन्त्रमुग्ध हो गए और उन्होंने गौरांग महाप्रभुका मत स्वीकार भी कर लिया।

इनका मत है कि जीवोंके लिये इतना ही जानना पर्याप्त है कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र सत्य हैं। यही अचिन्त्य भेदाभेदवादका मूल सिद्धान्त है। श्रीगौरांग महाप्रभुने श्रीमद्भागवतको ही गीता, उप-निषद् तथा ब्रह्मसूत्र (प्रस्थानत्रयी) का भाष्य मान लिया था।

इन्होंने ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म ये पाँच तत्त्व माने हैं और कहा है कि ईश्वरका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ही सगुण और सविशेष ब्रह्म हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञ तथा इस प्रकारके सब गुणोंसे युक्त हैं। वे ही जीवको भोग भी देते हैं और मोक्ष भी। वे निर्गुण भी हैं क्योंकि उनमें कोई प्राकृत गुण है ही नहीं। उन सच्चिदानन्द ब्रह्म श्रीकृष्णकी तीन शक्तियाँ हैं—संवित्, संधिनी और ह्लादिनी।

यह जगत् भी ब्रह्मका परिणाम है, ब्रह्मका ही एक रूप है।

यह सत् है किन्तु अनित्य है। इसके अतिरिक्त ईश्वर, जीव, काल और प्रकृति ये चारों तत्त्व नित्य हैं। प्रकृति ही ब्रह्मकी शक्ति है जो त्रिगुणात्मिका और नित्य है। जितने कर्म हैं वे सब जड़ हैं और ईश्वरके शक्ति-रूप हैं। यह जीव अणु है और ब्रह्मका भोग्य है अर्थात् ब्रह्म ही इस जीवको भोग सकता है। इस श्रीकृष्ण-रूपी ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये या उनतक पहुँचनेके लिये प्रेम ही एक मात्र साधन है और इस प्रेम के द्वारा श्रीकृष्णके पास पहुँचना ही जीव की मुक्ति है।

यह सिद्धान्त वास्तवमें मीराबाईवाला वह प्रेम-सिद्धान्त है जिसमें जीव तभी भगवान्‌का कृपा-पात्र हो सकता है जब वह शुद्ध रूपसे, निश्छल भावसे भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् परात्पर ब्रह्म मानकर, उनसे प्रेम करके, प्रेम-विह्वल होकर उनके पास पहुँचनेके लिये लालायित हो जाय। जब उसका प्रेम अत्यन्त प्रौढ और परिपक्व हो जाता है तब भगवान् स्वयं उसपर कृपा करके उसे आत्मसात् कर लेते हैं, अपना बना लेते हैं। भगवान्‌का यह प्रसाद पानेपर ही जीव मुक्त हो पाता है।

इस प्रकार अद्वैत सिद्धान्तपर भगवान् शंकराचार्यका केवलाद्वैतवाद, श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद, श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद या पूर्ण-प्रज्ञ-दर्शन, श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद, श्रीवल्लभाचार्यजीका शुद्धाद्वैतवाद, श्रीकण्ठका शैवाद्वैतवाद और श्रीगौरांग महाप्रभुका अचिन्त्यभेदाभेदवाद चला। इसी धारामें श्रीरामानन्दजीने रामाद्वैतवाद चलाया।

श्रीरामानन्दजीका रामाद्वैतवाद

माघ कृष्ण अष्टमीको चौदहवीं शताब्दिमें प्रयागके कान्यकुब्ज

ब्राह्मण श्रीपुण्यसदनके यहाँ श्रीमती सुशीलादेवीकी कोखसे सन्त रामानन्दका जन्म हुआ।

श्रीरामानन्दजी बचपनसे ही बड़ी मस्त प्रकृतिके व्यक्ति थे। रामानुज-सम्प्रदायमें दीक्षित हो चुकनेपर जब वे भारतके अनेक तीर्थोंमें घूमते हुए अपने मठ में लौटे तब उनके साथियोंने कहा—'दूसरों के सामने भोजन करना रामानुज-सम्प्रदायकी रीतिके विरुद्ध है। जान पड़ता है तुम देश-विदेशमें घूमकर इस नियमका पालन नहीं करते रहे होगे इसलिये अब हम तुम्हारे साथ पंक्तिमें बैठकर भोजन नहीं कर सकते।' उनके गुरु राघवानन्दजीने भी इस बातका समर्थन किया। श्रीरामानन्दजीने इसे अपना अपमान समझा और सीधे काशी चले आए। यहाँ उन्होंने पञ्चगंगा घाटपर अपने नामके अनुसार वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। श्रीरामचन्द्रजीको ही अपना इष्टदेव समझते थे इसलिये उनके मतके अनुसार चलनेवाले लोग रामात या रामानन्दी सम्प्रदायवाले कहलाते हैं। ये सब लोग रामचन्द्रको ही इष्टदेव समझकर उनकी पूजा करते हैं।

श्रीरामानन्दजी काशीके पञ्चगंगा घाटपर जहाँ रहते थे वहाँ उनके शिष्योंने एक मठ बनवा दिया था जिसे पीछे चलकर मुसलमान शासकोंने नष्ट कर डाला। किन्तु अब भी वहाँ एक पत्थरकी वेदी है जिसपर रामानन्दजीके पैरका चिह्न बना हुआ है। रामानन्दजीके अनेक शिष्योंमें से अनन्तानन्द और कबीर आदि बहुत सन्तोंके नाम आते हैं जिनमें पीपा, रैदास और धन्ना भी कबीरके ही समान प्रसिद्ध है।

उत्तर-प्रदेश राज्यमें आज भी रामानन्दी सम्प्रदायके बहुत लोग हैं। श्रीरामानन्दजी किसी प्रकारका जातिभेद नहीं मानते थे। वैष्णव होनेके नाते उनका भी यही विश्वास था—जाति-पाँति पूछे

नहिं कोई। हरिको भजै सो हरि को होई। बहुतसे लोग जो हिन्दू धर्मका मर्म नहीं समझते और जिन्होंने हिन्दू धर्म के सब पक्षोंका अध्ययन भी नहीं किया है वे हिन्दू धर्मको अत्यन्त अनुदार और संकुचित समझते हैं। ऐसे लोग रामानन्दी सम्प्रदाय अथवा चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायको समझें तो ज्ञात होगा कि वहां किसी प्रकारका भेदभाव नहीं माना जाता है। यह समता, उदारता, सहिष्णुता और सर्वात्मताका भाव और मिल कहाँ सकता है !

श्रीरामानन्दजीका विश्वास था कि भगवद्भक्तिके अधिकारी सभी वर्णके मनुष्य हैं। इतनी व्यापक छूट देते हुए भी वे वर्ण-व्यवस्था वैसे ही मानते थे जैसे वैदिक लोग मानते रहे। इसीलिये जब वे अपने यहाँ किसी ब्राह्मणको दीक्षा-संन्यास देते थे तब उसे त्रिदण्ड संन्यास ही देते थे।

उनकी परम्परा प्रसिद्ध विद्वानोंकी परम्परा रही है। इसलिये उनके सम्प्रदायमें बड़े प्रकांड शास्त्र-मर्मज्ञ और पण्डित रहे हैं। उनका सम्प्रदाय श्रीसम्प्रदाय या रामानन्दी सम्प्रदाय कहलाता है।

इस सम्प्रदायके लोग श्रीरामचन्द्रजीके साथ-साथ सीता, लक्ष्मण और हनुमानजीकी भी उपासना करते हैं। अन्य सम्प्रदायोंके समान रामानन्दी सम्प्रदायमें भी विषयी और धर्मव्रती नामके दो भेद हैं। इनमेंसे धर्मव्रती उपासक दो प्रकार के होते हैं—उदासी और गृही, जिनमें उदासी ही प्रधान हैं।

उदासी लोग तीर्थोंमें घूमकर, भिक्षा माँगकर या व्यापारके द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीकी उपासना ही प्रधान रूपसे करनेके कारण ये लोग रामात कहलाते हैं इसलिए इनके सिद्धान्तको रामाद्वैतवाद भी

कह सकते हैं। रामके साथ-साथ ये सीता, तुलसी और शालग्राम-शिलाकी भी पूजा करते हैं। काशीमें तो इस सम्प्रदायके दो मन्दिरों में राधाकृष्णकी भी उपासना होती है।

इस सम्प्रदायमें किसी कठोर नियमका पालन नहीं करना पड़ता। इन्होंने रामानुज-सम्प्रदायके भी अनेक बन्धन शिथिल कर दिए हैं। खान-पानके सम्बन्धमें भी इनके यहाँ कोई कठोर नियम नहीं है। इसलिये सभी अपनी रुचिके अनुसार अथवा लौकिक व्यवहारके अनुसार शाकाहारी भोजन कर सकते हैं। इस सम्प्रदायके वैरागियोंमें वर्ण और जातिका विचार नहीं होता। इसीलिये वे लोग कुलातीत और वर्णातीत कहलाते हैं। श्रीराम ही इनके बीज मंत्र हैं। ये लोग परस्पर जय राम, जय श्रीराम या सीताराम कहकर अभिवादन करते हैं। श्रीसम्प्रदायवालोंके समान ही ये लोग तिलक लगाते हैं। कुछ लोक ऊर्ध्व पुण्ड्रके बीचकी रेखा कुछ छोटी कर लेते हैं।

ये अनेक मत और सम्प्रदाय इसलिए चलाये गए कि मनुष्यके मनको किसी प्रकार संयत किया जाय क्योंकि मनुष्यका मन इतना चंचल है कि वह उसकी वृत्तियोंको पुण्यकी ओर ले जानेके बदले पापकी ओर बड़े वेगसे ले जाता है। इस मनको रोकना 'वायोरिव सुदुष्करः' (वायुको रोकनेके समान कठिन) बतलाया गया है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।

[इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि वे बरबस मनको खींच ही ले जाती हैं।] मनकी इसी कुटिलतासे तंग आकर गोस्वामीजीने कहा था—

मेरो मन हरिजी हठ न तजै ।
देउँ सिखावन लाख-लाख बिधि करत सुभाव निजै ॥

इसलिये जबतक हम अपने मनको सभी सांसारिक विषयोंसे हटाकर भगवान्‌के चरण-कमलमें नहीं लगाते तबतक हमारा कल्याण असम्भव है ।

सब झंझटोंमें फँसानेवाला हमारा मन ही हमें संसारमें भरमाता रहता है । यदि इसे जीत लिया तो समझो कि हमने संसारको जीत लिया । मनको मुट्ठीमें कर लिया तो समझो चराचरको मुट्ठीमें कर लिया क्योंकि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

[मन ही मनुष्योंको बंधनमें डालता है और वही मुक्ति दिलाता है ।]

यों तो हमारे ऋषि-महर्षियोंने इस मनको जीतने और वशमें करनेके बहुतसे उपाय बताए हैं पर उनमें सबसे अच्छा उपाय यदि कोई है तो वह है सत्संग । कहा गया है कि अपने गुरु या किसी तत्त्वज्ञानी महात्मासे हाथ जोड़कर, प्रश्न करके और सेवा करके ईश्वर या मुक्तिका मर्म जानना चाहिए—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।'

पर यह तबतक संभव नहीं है जबतक हम भगवान्‌के रूप, लीला, गुण और उपदेशमें रुचि न लें । यह तभी साध्य है जब हमें ईश्वरकी कृपासे किसी सद्‌गुरुका आश्रय मिल जाय । अतः सद्‌गुरुके सत्संगसे बढ़कर चरित्रके सुधार और मनको वशमें करनेकी दूसरी रीति नहीं है । इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने सत्संगतिकी इतनी महिमा बताई है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई।
राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

इसी सत्संगको व्यापक बनानेके लिये स्थान-स्थानपर मंदिर या मठमें कथा-पारायण आदिका प्रबंध किया जाता था, गाँवँ-गाँवँमें कथाके द्वारा ही जनताकी रुचि धर्ममें लगाई और अधर्मसे हटाई जाती थी। आज भी भारतवर्षके गाँवोंमें समय-समयपर, स्थान-स्थानपर रामायण, भागवत और पुराणोंकी कथाएँ बैठाई जाती हैं। इस कार्यके द्वारा समाजके वास्तविक हितचिंतक और कल्याण-साधक पंडितोंने लोगोंमें धर्मकी भावना भरने और धार्मिक-जीवनको सुसंघटित करनेमें अपना सारा जीवन लगा दिया। यही कारण है कि आज भी ग्रामकी जनतामें नीति, सत्य और परहित-चिंतनकी थोड़ी बहुत भावना बनी हुई है।

किन्तु इधर पिछले कुछ वर्षोंसे गाँवोंका वातावरण भी बहुत कुछ बदल चला है। परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिहिंसा आदि अनेक प्रकारके कुभाव ग्रामवासियोंके हृदयमें भी घर करने लगे हैं। इस सामूहिक रोगको जिस सामूहिक प्रयोगके द्वारा दूर किया जा सकता है वह है 'ग्रामे ग्रामे कथा शुभा', गाँव-गाँवमें शुभ कथाओंका प्रचार करना। अब भी हमारे देशकी जनतामें इतना धार्मिक भाव विद्यमान है कि वह आदरके साथ कथा सुनती, उससे प्रभावित होती तथा उसके लिये लालायित रहती है। किन्तु इसकी व्यवस्था करनेके लिए जनता-के मनमें रुचि भी उत्पन्न करनी चाहिए और ऐसे अवसरोंपर कथाकी योजना करनी चाहिए कि वे उससे लाभ उठा सकें।

अनेक कल्पों और युगोंमें भगवान्‌ने अनेक रूप धारण करके अपने लोकपावन चरितसे जो अनेक लोकमंगलकारी कार्य किए हैं उनका श्रवण और कीर्तन तो हमारे मनकी मैल दूर करनेके

लिये पर्याप्त है ही पर उससे भी अधिक बात यह है कि जिन ऋषियों और महर्षियोंने, जिस व्यास-परम्पराने उन कथाओंको पुराणों तथा काव्योंमें संग्रह करके उनके बीच-बीचमें जीवनके मधुर, मनोहर और हितकारी तत्त्व भर दिए हैं उनकी बार-बार मनमें आवृत्ति करनेसे मन शुद्ध होता चलता है और मनुष्य उनके अनुसार अपनेको बनाने और ढालनेका प्रयत्न करता चलता है।

आजके मानस-शास्त्रियोंका भी कहना है कि हम एक ही प्रकार का विचार या व्यवहार बार-बार करते-करते उसे ऐसा साध लेते हैं कि वह संस्कार बनकर हमारे स्वभावका अंग बन जाता है। जिस गतिसे अभ्यास-द्वारा वह संस्कार बनता है उसी गतिसे अभ्यासके द्वारा ही कोई बुरा संस्कार मिटाकर उसके बदले नया संस्कार डाला भी जा सकता है। हमारी संपूर्ण मानसिक अवस्थाएँ अधिकांश इसी बातपर निर्भर करती हैं कि हमें वातावरण कैसा मिलता है। यद्यपि प्राचीन जन्मके संस्कारसे हमें इस जन्मका संस्कार और स्वभाव मिलता है तथापि कुसंस्कारको हम सत्संगके द्वारा मिटा और बदल भी सकते हैं क्योंकि हमारे सत्त्व या आत्माके साथ जो अच्छे या बुरे संस्कार लगे चले आते हैं, वे हमारी मनकी वृत्तिके कारण ही तो लगते हैं। अतः, बार-बार भगवान्‌का चरित्र और गुण सुनकर, उनकी लीलाओंका, उपदेशोंका महत्त्व गुनकर हमारे मनके बुरे संस्कार धीरे-धीरे हट सकते हैं और उनके बदले अच्छे संस्कार आकर हमारे मनमें घर कर सकते हैं। यही वास्तवमें मनुष्य-जीवन प्राप्त करनेका सबसे बड़ा फल है।

इस मानव-शरीरको साधन-धाम और देव-दुर्लभ बताया गया हैं। यह कहा गया है कि मनुष्यको यदि मुक्ति मिल सकती है तो

वह इसी शरीरसे मिल सकती है क्योंकि मन और बुद्धिका वाणीके साथ योग हो जानेसे मनुष्यको साधना करनेमें बड़ी सुविधा प्राप्त होती है। यदि हमने मनुष्य-शरीर पाकर भी साधन न किया, उनकी कथा न सुनी, उनके बताए हुए उपदेशोंके अनुसार जीवन न ढाला, उनके गुणोंकी बार-बार आवृत्ति न की मनुष्य-देह धारण करनेका कोई फल नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-जीवनके लिये चारों पुरुषार्थोंमें से अर्थ और कामका भी बड़ा महत्त्व है क्योंकि अर्थसे ही धर्म और काम दोनोंकी सिद्धि होती है किन्तु अर्थ-साधनके पीछे वहींतक पड़ना उचित है जहाँतक वह हमारे योगक्षेममें सहायक हो। इससे अधिक अर्थके फेरमें पड़ना तो वैसा ही है जैसे पशु दिन-रात खाद्य-संग्रह करते रहते हैं और रातको भी विश्राम नहीं लेते।

मनुष्य और अन्य जीवोंमें यही तो सबसे बड़ा अन्तर होना चाहिए कि मनुष्य अपने साधारण जीवन-निर्वाहके लिए अपने आश्रितोंका प्रतिपालन करनेके लिये, अर्थ और कामका संग्रह करे। किन्तु उसके जीवनका लक्ष्य तो मोक्ष ही होना चाहिए। यह मोक्ष मनकी एकान्त साधनाके बिना सम्भव नहीं है। यह मनकी साधना तबतक संभव नहीं है जब तक हम किसी सद्गुरुका सत्सङ्ग करके, हरिकथा सुनकर, भगवानके गुणोंको भली भाँति समझकर अपने मनको उसमें रँग नहीं लेते क्योंकि श्यामके रंगमे रँग जानेपर हमारे मनकी सारी श्यामता स्वयं दूर हो जायगी—

या अनुरागी चित्तकी, गति समझै नहिं कोय।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जल होय॥

इसलिये मन लगाकर भगवान्‌की कथा सुननी चाहिए, सत्संग करना चाहिए, जो सुने उसके अनुसार व्यवहार करना चाहिए, तभी

कल्याण हो सकता है और तभी सच्चा मानसिक सुख भी मिल सकता है। इसी मानसिक सुख, कल्याण और शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति सर्वसुलभ करानेके लिये महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का मन्त्र देकर विशुद्धाद्वैत सिद्धान्तके अनुसार भक्तिमार्ग खोलकर सबके लिये मुक्ति सुलभ कर दी।

१०

दशम अध्याय

भक्ति का स्वरूप

पुष्टिमार्गका तत्त्व जाननेके लिये भक्तिका स्वरूप जान लेना परमावश्यक है। भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्तको अभयदान देते हुए यह विश्वास दिलाया है—

न मे भक्तः प्रणश्यति।

[मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता]। इस भक्तके स्वरूपकी व्याख्या करते हुए उन्होंने आगे बताया है—

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।

[गीता : १२।७]

[जो लोग पूर्ण रूपसे अपना चित्त मुझमें लगा देते हैं उन्हें मैं मृत्यु-संसारके सागरसे पार कर देता हूँ।] अतः, भक्तके लिये यह आवश्यक है कि इष्टदेवमें पूर्ण रूपसे उसका चित्त लग जाय। शाण्डिल्य-सूत्रोंमें भक्तिका लक्षण बताते हुए कहा गया है—

अथातो भक्तिजिज्ञासा सा परानुरक्तिरीश्वरे।

[ईश्वरमें पूरी अनुरक्ति अर्थात् पूर्ण, अनन्य तल्लीनता ही भक्ति है।] भक्ति-सूत्रमें भी इसीका समर्थन करते हुए कहा गया है—

आराध्यविषयकरागत्वमेव भक्तित्वम्।

[अपने आराध्यके सम्बन्धमें जो राग या अनुरक्ति होती है उसे ही भक्तित्व कहते हैं। 'परा' शब्दका अर्थ ही है चरम सीमाको प्राप्त। अतः, भक्ति दो प्रकारकी समझनी चाहिए परा और गौणी। जब भक्त यह समझ लेता है कि—

न हीष्टदेवात्परमस्ति किञ्चित्।

[इष्टदेवसे बढ़कर कुछ भी नहीं है], तब वह परा भक्तिकी सीमा तक पहुँच जाता है और उसकी इस प्रकारकी एकनिष्ठ चित्त-वृत्ति ही भक्ति कहलाती है। यह अनुरक्ति या प्रीति सुखनिरत या सुखसे भरी हुई होती है क्योंकि सुखनिरत न होनेसे अनुरक्ति हो ही नहीं सकती। इसीलिये इस राग या अनुरक्तिका लक्षण पातञ्जल योग-सूत्रमें समझाते हुए कहा गया है—

सुखानुशयी रागः। [पा० २।३९]

यह अनुरक्ति स्मरण और कीर्तनसे बढ़ती रहती है क्योंकि ज्यों-ज्यों भक्त नाम-कीर्तन और स्मरण करते हैं त्यों-त्यों उन्हें आनन्द प्राप्त होता है और ज्यों-ज्यों आनन्द प्राप्त होता है त्यों-त्यों भगवान्‌में भक्ति या आसक्ति बढ़ती है। यही आसक्ति भगवत्प्रेम कहलाती है और इस प्रेम या भक्तिका फल साक्षात् मुक्ति है जैसा ऊपर भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंसे स्पष्ट हो जाता है। यह प्रेम समझाया या बतलाया नहीं जा सकता क्योंकि यह अनिर्वचनीय होता है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

इस प्रेमकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जैसे कोई गूँगा किसी खाद्य पदार्थको खाकर यह नहीं बता सकता कि यह कड़वा, तीता, कसैला, खारा, मीठा या खट्टा है वैसे ही भक्त भी भक्तिके आनन्दकी व्याख्या नहीं कर सकता। उस प्रेमकी व्याख्या हो ही

नहीं सकती। इसीलिये नारदीय भक्ति-सूत्रमें इसका उदाहरण दिया है—

"यथा गोपरामाणाम्"

[जैसे गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम।]

श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें इस प्रेमके क्रमका वर्णन करते हुए बताया गया है कि पहले सत्पक्षकी भावना अर्थात् दैवी-वृत्तिकी ओर मन लगता है, फिर तत्त्वज्ञान होता है, उसके पश्चात् भगवत्कथामें प्रवृत्ति होती है, तब श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसके पश्चात् रति या भाव-भक्ति उत्पन्न होती है और अन्तमें भक्ति या प्रेम होता है अर्थात् सब ओरसे मन हटकर भगवान्‌के प्रति ममत्व या प्रेम जाग उठता है।

यह प्रेम दो प्रकार का होता है—भावोत्थ और अतिप्रसादोत्थ। निरन्तर आन्तरिक भक्तिके अंगोंका सेवन करनेसे जब चित्तवृत्तियाँ भावपूर्ण रूपसे अपने इष्टदेवमें लीन हो जाती हैं तो वह भावोत्थ प्रेम कहलाता है और जब भगवत्कृपासे भगवान्‌का साक्षात्संग हो जानेसे उनके प्रति प्रेम होता है तो उसको अतिप्रसादोत्थ प्रेम कहते हैं जैसे गोपियोंका प्रेम था। उनके सम्बन्धमें स्वयं श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा था—

ते नाधीतश्रुतिगणा: नोपासितमहत्तमा:।
अव्रतातप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागता:॥

[भागवत: ग्यारहवाँ स्कन्ध]

[उन गोपियोंने न तो वेद पढ़ा, न महापुरुषोंका सत्संग किया और न कोई व्रत या तपस्या ही की, केवल मेरे संग के प्रभावसे उन्होंने मुझे प्राप्त कर लिया।]

यह अतिप्रसादोत्थ प्रेम भी दो प्रकारका होता है—माहात्म्य-

ज्ञान-युक्त और केवल ज्ञानयुक्त, जब कोई विहित मार्ग से भजन करता हुआ भगवत्प्रेम करता है वह माहात्म्य-ज्ञानयुक्त प्रेम कहलाता है और जो केवल अनुरागका ही मार्ग ग्रहण करके भक्ति करता है उसका प्रेम केवल या माधुर्य-ज्ञानयुक्त कहलाता है। इस केबल-ज्ञानयुक्त प्रेम या माधुर्य-ज्ञानयुक्त प्रेमकी वैष्णव आचार्योंने बड़ी प्रशंसा की है और कहा है—

धन्यस्यायं नवप्रेमाः यस्योन्मीलति चेतसि।
अर्न्तवाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

[चिस व्यक्तिके चित्तमें इस नवीन प्रेमका उदय होता है उसे समझना शास्त्रज्ञोंकी सीमासे भी बाहर है।] यह प्रेम पाँच प्रकारका होता है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इस शान्तरस या प्रेमरसका आलम्बन भगवान् विष्णुकी मूर्ति और इसके आश्रय सनक, सनन्दन सनातन आदि शान्त महापुरुष। उपनिषद् या तत्त्वज्ञानका श्रवण, एकान्त-सेवन, ज्ञानियोंका सत्संग और तत्त्वविचार आदि इसके उद्दीपन है। नाकके अग्रभागमें अपनी दृष्टि बाँधना, अवधूतके समान चेष्टा करना, भगवान्से द्रोह करनेवालेसे भी प्रेम रखना, निरपेक्ष, निर्मम, निरहंकार और मौन रहना ही अनुभाव है। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वैवर्ण्य और अश्रु ही इसके सात्त्विक भाव हैं। निर्वेद, धैर्य, हर्ष, मति, स्मृति, उत्सुकता, आवेग और वितर्क आदि संचारी भाव है और शान्तिपूर्ण रति ही स्थाथीभाव है।

दास्य प्रेमको शास्त्रकारोंने प्रीतिभक्तिरस कहा हैं। इसमें दो भुजावाले कृष्ण या चार भुजावाले विष्णु ही विषयालम्बन हैं और भगवान्के भक्त ही आश्रय आलम्बन है। विषयालम्बन भी तीन प्रकारके हो सकते हैं—वृन्दावनके दो भुजावाले श्रीकृष्ण, अन्य स्थानोंके दो भुजावाले श्रीकृष्ण या चार भुजावाले विष्णु। आश्रय-

आलम्बन भगवद्भक्त भी चार प्रकारके होते हैं—प्रश्रित या अधिकृत, आज्ञावर्तीय या आश्रित, विश्वस्त या पारिषत् और नम्रबुद्धि या अनुग। इनमेंसे आश्रित दास तीन प्रकार के होते हैं—शरणागत, ज्ञानी और सेवानिष्ठ। इन सबका विस्तृत परिचय आगे भक्तोंके भेदके प्रसंगके अन्तर्गत दिया गया है। इस प्रीतभक्तिरस या दास्य प्रेमरसमें श्रीकृष्णकी मुरलीकी ध्वनि, हँसी-भरी चितवनसे देखना, उनके गुणोंके उत्कर्ष सुनना, उनके चरणोंके चिह्न, नये उठे हुये बादल और उनके अंगोंकी गन्ध ही उद्दीपन हैं। सब प्रकारसे भगवान्‌की आज्ञा-का पालन, ईर्ष्या छोड़कर भगवान्‌की सेवा, भगवान्‌के दासोंके साथ मित्रता और भगवान्‌के प्रेममें मगन रहना ही दास्य प्रेमरसके अनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये आठ इसके सात्त्विक भाव हैं। हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, विषाद, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, उत्सुकता, चपलता, वितर्क, आवेग, लज्जा, जड़ता, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, व्याधि, मरण इसके संचारी या व्यभिचारी भाव हैं। सम्भ्रम प्रीति ही स्थायीभाव है। यह भी एक क्रमसे बढ़ती है अर्थात् पहले प्रेम होता है, फिर स्नेह और अन्तमें राग या सम्भ्रम प्रीति होती है। शान्त-प्रेममें स्नेह या अनुराग नहीं होता इसलिए शान्तकी अपेक्षा दास्य प्रेम अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह दास्य-प्रेम दो प्रकारका होता है—आयोग और योग। हरि भगवान्‌के संगके अभावको अयोग कहते हैं। इस प्रेममें हरिके प्रति मनको समर्पित करके उनके गुणोंकी खोज की जाती है। इस अयोगके भी दो भेद होते हैं—उत्कण्ठा और वियोगता। जिस भग-वान्‌को पहले कभी नहीं देखा उसे देखनेकी उत्सुक व्याकुलताको उत्कण्ठा कहते हैं। इस अवस्थामें यद्यपि सभी संचारी भाव संभव

हैं फिर भी उत्सुकता, दैन्य, निर्वेद, चिन्ता, चपलता, जड़ता, उन्माद और मोहकी प्रधानता होती है।

भगवान्‌के साथ संगलाभ करके उनसे बिछुड़ जानेको वियोग कहते हैं। इस अवस्थामें ताप, कृशता, जागरण, अनालस्य, अधीरता, जडता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा और मरण ये दस दशाएँ होती हैं।

कृष्णके साथ मिलनेको योग कहते हैं। यह योग तीन प्रकारका होता है—सिद्धि, तुष्टि, और स्थिति। उत्कण्ठित अवस्थामें कृष्णको प्राप्त कर लेना सिद्धि कहलाती है, वियोगके पश्चात् उन्हें प्राप्त कर लेना तुष्टि कहलाता है और श्रीकृष्णके साथ एकत्र वास और श्रीकृष्णके साथ एकत्र रहनेको स्थिति कहते हैं।

इसी दास्य भावकी एक और भी प्रीति-पद्धति है जिसे गौरव और प्रीति कहते हैं। इसमें भी ये ही सब भाव होते हैं। इसमें विषय-आलम्बन कृष्ण होते हैं और उनके लालनीय सखा सारंग, गद, तथा प्रद्युम्न आदि सब कुमार आश्रय-अवलम्बन होते हैं। सम्भ्रम, प्रीति और गौरव प्रीतिवाले दासोंमेंसे जो कृष्णकी निरन्तर आराध्य-भावसे सेवा करते हैं उनमें ऐश्वर्य-ज्ञानकी प्रधानता होती है और जो उनके द्वारा लालित होनेवाले भक्त हैं उनके मनमें श्रीकृष्णके साथ अत्यन्त आत्मीयता या अपनेपनका भान होता रहता है। ब्रजके इन दोनों प्रकारके दास भक्तोंको ऐश्वर्यज्ञान न होनेपर भी उनके मनमें यह भाव तो रहता ही है कि श्रीकृष्णजी गोपराज नंदके पुत्र हैं। इस भावके कारण कृष्णमें वे आराध्य बुद्धिसे ही सेवा-भाव रखते हैं इसलिये उसे ऐश्वर्य-ज्ञान ही मानना चाहिए।

सख्य प्रेम

सख्यरसमें दो भुजावाले श्रीकृष्ण ही विषय-आलम्बन हैं और उनके सखा ही आश्रय-आलम्बन हैं। ये विषय-आलम्बन श्रीकृष्ण

भी दो प्रकारके हैं—व्रजके दो भुजावाले श्रीकृष्ण और अन्य स्थानोंके दो भुजावाले श्रीकृष्ण। उनके सखा भी पुर-सम्बन्धी और व्रजसंबंधी दो प्रकारके हैं। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, श्रीदामा आदि पुरसम्बन्धी सखा हैं और व्रजमें श्रीकृष्णके साथ विहार करनेवाले व्रजसम्बन्धी सखा। ये व्रज या गोकुलके सखा भी चार प्रकारके हैं—सुहृत्, सखा, प्रिय सखा और प्रियनर्म सखा।

श्रीकृष्णसे अवस्थामें कुछ बड़े, श्रीकृष्णके प्रति वात्सल्यभाव दिखानेवाले और श्रीकृष्णकी सदा रक्षा करनेमें तत्पर सुभद्र, मण्डलीभद्र, गोभट्ट, यक्ष, इन्द्रभट्ट, महागुण, बीरभद्र, विजय और बलभद्र आदि इसी सुहृत् श्रेणीके सखा हैं। इनमें भी मण्डलीभद्र और बलभद्र श्रेष्ठ हैं।

श्रीकृष्णसे अवस्थामें कुछ कम और दास्य-भावके साथ मित्रता-या प्रेमका निर्वाह करनेवाले साथी ही सखा कहलाते हैं जिनमें विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मकरन्द, कुसुमापी, मणिबन्ध और कवृन्धम आदि आते हैं। इनमें भी देवप्रस्थ ही श्रेष्ठ हैं।

समान अवस्थावाले और केवल मित्रका नाता ही माननेवाले सखाओंको प्रिय सखा कहते हैं जैसे श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, किंकिणी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, और कलविंग। इनमें भी श्रीदाम ही श्रेष्ठ थे।

सुहृत् सखा, और प्रिय सखासे भी श्रेष्ठ, विशेष प्रेम करनेवाले और अत्यन्त रहस्य-भरे कार्योंमें नियुक्त किए जानेवाले श्रीकृष्णके सखाओंको प्रियनर्मसखा कहते हैं जिनमें सुबल, अर्जुन, वसन्तक और उज्ज्वल प्रसिद्ध हैं। इनमें भी सुबल और उज्ज्वल ही श्रेष्ठ माने जाते हैं।

श्रीकृष्णके वय, रूप, मुरली, शङ्ख, हास्यविनोद, नर्म, विक्रम,

गुण तथा उदात्त कार्य ही इस सखा-रसके उद्दीपन हैं। गेंद खेलना, जुआ खेलना, कन्धेपर चढ़ना, पीठपर चढ़ाकर अपने साथीको ले जाना, परस्पर डण्डेसे खेलना, अपने साथियोंके साथ एक आसनपर सोना-बैठना, हँसी-विनोद करना और जलाशयमें विहार करना ही इस रसके अनुभाव हैं। निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मरण, जडता, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति और मोह ये तीस इस सख्य-रसके संचारी भाव हैं किन्तु वियोग–अवस्थामें मद, हर्ष, गर्व, निद्रा और धृति तथा संयोग--अवस्थामें मरण, क्लम, व्याधि, अपस्मृति और दैन्यका अभाव रहता है। इस सख्यरसमें भी एक विशेष क्रमसे रागकी प्राप्ति होती है, वह है रति, प्रणय, प्रेम, स्नेह और राग।

वात्सल्य प्रेम

वात्सल्यमें दो भुजावाले श्रीकृष्ण ही विषयके आलम्बन हैं और उनके सभी बड़े लोग अर्थात् यशोदा, नन्द, रोहिणी, देवकी, कुन्ती, वसुदेव और सान्दीपनि आदि सब ही आश्रय-आलम्बन हैं जिनमेंसे यशोदा और नन्द सर्वश्रेष्ठ हैं। सुन्दर कृष्ण ही इसके विभाव हैं। गर्व, शंका, विषाद, दैन्य, निर्वेद, मोह, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, आदि इसके संचारी भाव हैं और रोमांच तथा अश्रु इसके सात्त्विक भाव हैं।

माधुर्य प्रेम

पुरुष और स्त्री–सम्बन्धी या नायक-नायिका-सम्बन्धी प्रेमको ही मधुर प्रेम कहते हैं। साधारण नायक-नायिकामें जो प्रेम होता है

वह काम-जन्य मोह मात्र होता है किन्तु श्रीकृष्ण और गोपियोंका प्रेम वास्तवमें श्रेष्ठ मधुर प्रेम है। इसमें श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन और गोपियाँ ही आश्रय हैं। इस मधुर रसमें मुरलीकी ध्वनि, श्रीकृष्णका रूप और उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव हैं, कटाक्ष, ईषत्हास्य आदि इसके अनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये सात्त्विक भाव हैं।

प्रेमका इतना विवेचन हो चुकनेपर और भक्तिमें प्रेमका महत्त्व वर्णित कर चुकनेपर यह प्रश्न उठता है कि जबतक तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती तबतक मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है। उधर अनुरागको दार्शनिक लोग अज्ञानका कार्य मानते हैं। अतः, अन्तःकरण–वृत्तिरूपा भक्तिसे मुक्ति मिल कैसे सकती है? किन्तु—

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते।

[ज्ञानके लिये ही भक्ति होती है।] जब भक्ति दृढ हो जाती है तब ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और ज्ञान उत्पन्न हो जानेसे मुक्ति मिल जाती है। फिर वैष्णव लोग तो भक्तिका फल मुक्ति मानते ही नहीं हैं। वे तो भगवत्प्रेमको ही भक्तिका फल मानते हैं। वे प्रेमको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं और मुक्तिकी इच्छा ही नहीं करते। उनका तो मत है—

उपायपूर्वं भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः।

[उपायपूर्वक भगवान या इष्टदेवमें मनको स्थिर कर लेने या जमा लेनेको ही भक्ति कहते हैं।] इस भक्तिके दो भेद होते हैं—विहिता और अविहिता।

विहिता भक्ति

इस भक्तिके दो भेद होते हैं—एक विहिता और दूसरी अविहिता। जब बिना किसी कारणके किसी देवतामें या वैदिक कर्ममें रुचि होने

लगती है और स्वाभाविक सात्त्विक वृत्तिसे मनुष्यका मन उसमें रम जाता है वह विहिता भक्ति कहलाती है। अर्थात् जब मनुष्य वेद-विहित या किसी विशेष धर्म या सम्प्रदायके कर्मकाण्डके अवसर विधिपूर्वक भजन-पूजन द्वारा अपने इष्टदेवकी शुद्ध मनसे उपासना करता है वह विहिता भक्ति होती है। यह विहिता भक्ति भी दो प्रकारकी होती है--मिश्रा और शुद्धा। इनमेंसे मिश्रा भक्ति तीन प्रकारकी होती है--कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और कर्मज्ञानमिश्रा। कर्ममिश्रा भक्ति भी तीन प्रकारकी होती है--सात्त्विकी, राजसी और तामसी।

जब अपने कर्मके क्षयके लिये अथवा भगवान् विष्णु या अपने इष्टदेवको प्रसन्न करनेके लिए अथवा शास्त्रमें भगवान्‌की उपासना-की आज्ञा होनेके कारण भगवद्भक्ति की जाती है वह सात्त्विकी भक्ति कहलाती है। जो भक्ति ऐश्वर्य, यश या सांसारिक भोग प्राप्त करनेके लिये की जाती है वह राजसी कहलाती है और जब हिंसा, दम्भ और मत्सरतापूर्वक भक्ति की जाती है वह तामसिक कहलाती है।

कर्मज्ञानमिश्रा भक्ति भी तीन प्रकारकी होती है--उत्तमा, मध्यमा और अधमा। जो व्यक्ति सब प्राणियोंमें अपना भगवद्-भाव देखते हैं अर्थात् सबमें अपने भगवान्‌का रूप देखते हैं और जो अपनेमें और भगवान्‌में सब प्राणियोंका निवास समझते हैं वे उत्तम भक्त हैं।

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

[जो व्यक्ति ईश्वरमें प्रेम, उसके भक्तोंसे मैत्री, मूर्खोंपर कृपा और शत्रुओंकी उपेक्षा करता है वह मध्यम भक्त है और उसकी भक्ति मध्यम कोटिकी है।]

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

[जो भक्त केवल भगवानकी पूजा और अर्चामें श्रद्धाके साथ लगा रहता है किन्तु भगवान्‌के अन्य भक्तोंमें श्रद्धा नहीं रखता वह प्राकृत या कनिष्ठ भक्त समझा जाता है और उसकी भक्ति भी उसी कोटिकी होती है।]

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु सः भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

शुद्धा भक्तिमें अपने इष्टदेवसे किसी प्रकारकी इच्छा या कामना नहीं की जाती। सब प्रकारसे अपनेको इष्टदेवकी शरणमें समझकर आत्मसमर्पण कर देना ही शुद्धा भक्ति है।

ज्ञानमिश्रा भक्तिमें भक्त केवल अपने इष्टदेवका गुण सुननेसे ही उसमें तल्लीन हो जाता है। भगवान् विष्णुमें जिनकी अकारण भक्ति होती है, जो सालोक्य, सायुज्य, सान्निध्य, सार्ष्टि आदि मुक्ति प्राप्त करके भी उसे ठुकरा देते हैं और केवल भगवान्‌की सेवा करना ही अपना एक मात्र धर्म समझते हैं उनकी भक्ति ज्ञानमिश्रा कहलाती है। इसमेंसे नौ प्रकारकी कर्ममिश्रा भक्तिके अधिकारी केवल गृहस्थ होते हैं। तीनों प्रकारकी कर्ममिश्रा भक्तिके अधिकारी वनवासी होते हैं और ज्ञानमिश्रा भक्तिके अधिकारी केवल भिक्षुगण ही होते हैं।

अविहिता भक्ति

अविहिता भक्ति चार प्रकारकी होती है—कामजा, द्वेषजा, भयजा और स्नेहजा। अविहिता भक्तिमें किसी प्रकारका कर्मकाण्ड करनेकी आवश्यकता नहीं होती। उसमें केवल भाव ही प्रधान होता है जैसे गोपियोंकी भक्ति काम भावके कारण थी। इसलिए वह कामजा

कहलाती है। शिशुपाल आदि राजाओंने तन्मय होकर द्वेष किया, इसलिये उनकी भक्ति द्वेषजा कहलाती है। कंस तन्मय होकर उनसे डरता रहा और डरके कारण निरन्तर उनका ध्यान करता रहा। इसलिये उसकी यह भावना भयजा भक्ति कहलाती है। श्रीकृष्णके संबंधी वृष्णि कुलके राजा उनसे सम्बन्धके कारण स्नेह करते थे। इसलिये उनकी भक्ति स्नेहजा कहलाती है।

शाण्डिल्य सूत्र भाष्यमें लिखा है कि सच्चा भक्त अपने शरीर, मन और वाणीसे किए हुए प्रत्येक कार्यको भगवान् नारायणको अर्पण कर देता है। यह भक्ति उन्नीस प्रकारकी होती है। १—षट्-त्रिंशत् वर्ग, २—त्रिंशद् वर्ग, ३—षड्विंशति वर्ग, ४—पञ्चविंशति वर्ग, ५—चतुर्विंशति वर्ग, ६—विंशति वर्ग, ७—एकोनविंशति वर्ग, ८—अष्टा-दश वर्ग, ९—पञ्चदश वर्ग, १०—त्रयोदश वर्ग, ११—द्वादश वर्ग, १२—एकादश वर्ग, १३—दशवर्ग, १४—नववर्ग, १५—सप्तवर्ग, १६—षड् वर्ग, १७—पंचवर्ग, १८—चतुर्वर्ग, १९—त्रिवर्ग।

[भागवत २, ७, १० और ११ स्कन्ध]

सूरदासजीने भक्तिकी पहचान बताते हुए उसके लक्षणोंका यह विवरण दिया है—

रे मन आप कौ पहिचानि।
सब जनम तैं भ्रमत खोयौ, अजहुँ तौ कछु जानि।
ज्यौं मृगा कस्तूरी भूलैं, सु तौ ताकैं पास॥
भ्रमत हीं वह दौरि ढूँढ़ै, जबहिं पावै बास।
भरम ही बलवन्त सब मैं, ईस हूँ कै भाइ॥
जब भगत भगवंत चीन्है, भरम मनतैं जाइ।
सलिलकौं सब रंग तजिकै, एक रंग मिलाइ॥
सूर जो द्वै रंग त्यागै, यहै भक्त सुभाइ।

इसका तात्पर्य यह है कि भक्त वह है जो आत्मज्ञानी हो, जिसे

आत्मकी पहचान हो और भ्रम तभी दूर हो सकता है जब भगवान्-को पहचान जाय। भक्तका स्वभाव यही है कि वह दो रङ्ग छोड़-कर अपने इष्टदेवसे एक रंग या तल्लीन हो जाय।

नारदके भक्ति-सूत्रमें भक्तिके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार करते हुए भक्तिकी परिभाषाके सम्बन्धमें अनेक मत दिए गए हैं। महर्षि वेदव्यासका मत है—भगवान् या इष्टदेव या अपने बड़े लोगोंमें अनुराग करना ही भक्ति है—

पूज्यादिष्वनुराग इति पाराशर्यः। [ना० भ० १६]

उनका कथन है कि अपनी इन्द्रियोंको कर्मके द्वारा पूर्णतः निवृत्त कर लेनेके लिये विधिपूर्वक भगवान्का पूजन और अर्चन करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार पूजा करनेसे प्रेमका उदय होता है और फिर जब मनुष्य प्रेमाविष्ट हो जाता है तब बाह्य कर्मकाण्ड-के द्वारा की हुई पूजा और मानसिक पूजा दोनोंकी निवृत्ति हो जाती है और धीरे-धीरे विशुद्ध भक्तिका उदय होने लगता है। गर्गा-चार्यका मत है कि भगवान्की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति कहलाती है—

:कथादिष्विति गार्गः। [ना० भ० १७]

उनका मत है कि भगवान्के गुणोंके श्रवण एवं कीर्तनको ही अपनी सारी साधनाका सार जानकर जो उसमें दृढ़ताके साथ मन लगाता है और श्रद्धा करता है वही भक्ति है। शाण्डिल्यका मत है कि उन बातोंमें अनुराग करना ही भक्ति कहलाता है जिनका अपने आत्मसे प्रेम करनेमें कोई विरोध न हो।

आत्मस्याविरोधनेति शाण्डिल्यः। [ना० भ० १८]

उनका मत है कि संसारका समस्त सम्पर्क छोड़कर और संसार-की प्रतीतिसे मन हटाकर सब प्रकारके अस्तित्वकी आत्मचैतन्यमें

आहुति देकर परमानन्दमें मग्न हो जाना ही आत्म-रति कहलाती है अर्थात् द्वैत या अद्वैत भावसे अपने आत्मचैतन्यमें अनुरक्त होना ही भक्ति है।

नारदका मत है कि मनुष्य जो कुछ भी लौकिक या पारमार्थिक कर्म करे वह सब भगवान्‌को अर्पित करे और भगवान्‌को विस्मरण करनेकी स्थितिमें परम व्याकुल हो जाय वही भक्ति है।

नारदस्तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।
[ना० भ० १६]

जैसे भगवान्‌के दूर होते ही गोपियाँ व्याकुल हो जाती थीं! इस भक्तिको नारदने कर्म, ज्ञान, और योग तीनोंसे श्रेष्ठ बताया है —

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। [ना० सू० २५]

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसीका समर्थन करते हुए कहा गया है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

[तपस्वी, ज्ञानी और कर्मयोगी तीनोंसे योगी अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिये अर्जुन! तुम योगी बनो। इन सब योगियोंमें भी जो पूर्ण रूपसे मुझमें तल्लीन होकर श्रद्धाके साथ मग्न रहता है वह सबसे अधिक श्रेष्ठ है।]

परा भक्ति

भक्तिका पात्र होनेके लिये भी नारदने अपने भक्ति-सूत्रमें साधनाका एक क्रम बताते हुए कहा है कि भक्तिकी इच्छा करने-

वालेको पहले कुसंग छोड़ना चाहिए क्योंकि कुसंगसे ही काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और सर्वनाश होता है। अतः, कुसंग छोड़नेपर ही वह अनिर्वचनीय प्रेम उत्पन्न करनेवाली परा भक्ति प्राप्त होती है जो गूँगेके रसास्वादनकी भाँति वर्णन नहीं की जा सकती और जिसमें भक्त परमानन्दका गद्‌गद होकर स्वयं अनुभव करता है पर उसकी व्याख्या नहीं कर सकता। यह परा भक्ति गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण बढ़नेवाली, कभी न मिट सकनेवाली, सूक्ष्म और केवल अनुभव-द्वारा ही जानी जा सकनेवाली होती है। इस परा भक्तिमें भक्त अपने इष्टदेवको प्राप्त करके उसीको देखते, उसीकी बात सुनते, उसीकी बात मुखसे बोलते और उसीका चिन्तन करते हैं।

गौण भक्ति

गौण भक्ति तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इनमेंसे तामसीकी अपेक्षा राजसी और राजसीकी अपेक्षा सात्त्विकी श्रेष्ठ होती है। भगवान् कृष्णने भगवद्‌गीतामें आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी नामके चार भक्त बताए हैं। उनमेंसे अर्थार्थीकी अपेक्षा जिज्ञासु और जिज्ञासुकी अपेक्षा आर्त भक्त श्रेष्ठ होता है क्योंकि जिज्ञासु या आर्त व्यक्तिमें भावकी तीव्रता इतनी अधिक होती है कि उसमें अधिक वेगसे विशुद्ध भक्ति का उदय हो सकता है।

ज्ञान, योग, तप, आदि और जितने भी साधन हैं उनकी अपेक्षा

भक्तिमार्ग अधिक सुलभ है क्योंकि इसमें आचार, साधना, काय-क्लेश, वर्ण आदि किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। इसलिये यह सुगम और श्रेष्ठ है। इसीलिये नारदने घोषणा की है कि भक्तिकी अपेक्षा कोई दूसरी श्रेष्ठ साधना नहीं है। यह भक्ति ग्यारह प्रकारकी बताई गई है—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणा-सक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति। राजा परीक्षित, नारद, हनुमान और पृथुराज आदिकी भक्ति गुणमाहा-त्म्यासक्तिवाली थी; नन्द, उपनन्द और यशोदा तथा ब्रजनारियोंकी भक्ति रूपासक्तिवाली; राजा पृथुकी भक्ति पूजासक्तिकी; प्रह्लादकी स्मरणासक्तिकी; हनुमान, अक्रूर और विदुर आदिकी दास्यासक्तिकी; अर्जुन, उद्धव, सुबन्धु और श्रीदामा आदिकी सख्यासक्तिकी; ब्रजगोपिकाओंकी कान्तासक्तिकी; नन्द, यशोदा दशरथ-कौशल्या, कश्यप-अदितिकी भक्ति वात्सल्यासक्तिकी; राजा बलिकी आत्मनिवेदनासक्तिकी और शुकदेव आदिकी तन्मयता-सक्तिकी भक्ति थी।

शाण्डिल्य-सूत्रमें गौणी भक्तिका परिचय देते हुए कहा गया है—

भक्त्याभजनोऽपसंहारात् गौण्या परायै तद्धेतुत्वात्।

[शाण्डिल्य-सूत्र ५६]

[भजन या सेवा करना ही गौणी भक्ति है। यह गौणी भक्ति

वास्तवमें परा भक्तिकी नींव है।] इस गौणी भक्तिके अन्तर्गत सेवा, अर्चना आदि साधनोंके द्वारा जब भक्त सब प्रकारके विघ्नोंको दूर कर देता है तब परा भक्तिका पथ प्रशस्त हो जाता है। उस गौणी भक्तिमें श्रद्धापूर्वक भगवत्-सेवा करते-करते अन्तःकरणकी वृत्तियाँ शुद्ध हो जाती हैं और चित्त शुद्ध हो जानेपर निर्मल भक्तिका उदय हो जाता है। इसीलिये कुछ आचार्योंने गौणी भक्तिको बहुत महत्त्व दिया है। सूरदासजीकी भक्ति इसी प्रकारकी थी। उन्होंने नियमपूर्वक नित्य कीर्तन और भजन करके इस गौणी सेवाके माध्यमसे शुद्ध सात्त्विक भक्तिका पथ लिया था।

हरिभक्तिविलास में भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिन बाह्य इन्द्रियोंकी सहायतासे शब्द, रस, रूप, स्पर्श और गन्धका बोध होता है, उन सब इन्द्रियोंका स्वाभाविक रूपसे सत्त्वमूर्ति हरिके प्रति एकाग्र हो जाना ही भगवद्भक्ति कहलाता है। इस भक्तिके लिये आठ प्रकारकी साधना करनी पड़ती है—भगवद्भक्तोंके प्रति वात्सल्य, भगवान्‌की अर्चनाका समर्थन, दम्भरहित होकर श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा, उनकी लीलाएँ सुननेमें अनुरक्ति, उनके आगे नृत्य, गीत आदि करना, प्रतिदिन उनका नाम स्मरण करना और उन्हींके नामसे जीवन धारण करना। इनके अतिरिक्त विष्णुका नाम और लीलाका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, अपने सब कर्मोंका अर्पण अर्थात् दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदनयुक्त नवधा भक्तिसे भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। भगवान्‌का शंखचक्र बनाना, ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना, विष्णुका मन्त्र ग्रहण करना, उनकी अर्चना,

जप ध्यान, स्मरण, नाम–कीर्तन, श्रवण, वन्दन, पदसेवा, पादोदक-धारण, प्रसाद-ग्रहण, वैष्णवोंकी सेवा, द्वादशी व्रतमें निष्ठा और तुलसीरोपण यह सोलह प्रकारकी भक्ति–व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन; मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थोंमें गमन, भ्रमण और निवास, पूजाके धूपावशेषको सूँघना, निर्माल्य-ग्रहण, भगवानके आगे नृत्य, वीणावादन, कृष्णलीला आदिका अभिनय, भगवान्‌के नाम-श्रवणमें उत्सुकता, पद्म और तुलसी-माला धारण करना, एकादशीको रात्रि-जागरण करना, भगवान्‌के उद्देश्यसे ही गृह-निर्माण करना तथा यात्रा-महोत्सव आदि करना भी भक्तिके लक्षणके अन्तर्गत आता है।

किन्तु इस साधन-भक्तिकी अपेक्षा प्रेमभक्तिका माहात्म्य अधिक माना जाता है। 'नारदपंचरात्र' में लिखा है कि जब भक्त सदा यही चिन्ता करता रहता है कि भगवान् मेरे हैं और इस भावनाके साथ वह पुलकायमान होकर परम आनन्दावस्थामें आँखोंसे आँसू बहाता है, गाता, रोता और नाचता है और लम्बी-लम्बी साँस लेकर भगवान्‌को पुकारता है, वही प्रेमभक्त है। हरिभक्ति-विलासमें भी इसीका समर्थन किया गया है। भक्तिशास्त्रमें उत्तमा भक्तिको षडन्वित बताया गया है जिसमें अन्य सब वस्तुओंकी इच्छा छोड़कर भगवान्‌की सेवामें तत्पर होना ही आवश्यक है। यह उत्तमा भक्ति क्लेशघ्नी, शुभदा मोक्षलघुताकृत्, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्दविशेषात्मा और श्रीकृष्णकर्षणी नामक छह गुणवाली होती है। जो भक्ति अप्रारब्ध और प्रारब्ध पापवाले क्लेशोंको नष्ट करती है

वह क्लेशघ्नी कहलाती है। इसके तीन भेद होते हैं—पाप, पापके बीज और अविद्या। जो भक्त सम्पूर्ण संसारसे स्नेह करता है, सबमें अनुराग रखता है, सबमें सद्गुण देखता है और सुखकारी व्यवहार करता है, उसकी भक्ति शुभदा कहलाती है। जो भक्त चारों पुरुषार्थोंको तृणवत् समझकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको तिरस्कृत करते हैं वे मोक्ष-लघुकारिता भक्ति करते हैं। सुदुर्लभा भक्ति भी दो प्रकारकी होती है—अलभ्या और अदेया। अनेक प्रकारके साधनोंसे भी भक्ति अर्जित न कर पाना तो अलभ्या कहलाती है और भगवान्‌के साथ रहकर मुक्ति मिलनेपर भी भक्ति न मिलना ही अदेया भक्ति कहलाती है। जो कोई भगवान्‌के दर्शन करके ब्रह्मानन्द-सुखका अनुभव करने लगे, वह सान्द्रानन्द-विशेषात्मा-भक्तिका अधिकारी होता है और जब भक्तिकी प्रबलता इतनी होती है कि स्वयं श्रीकृष्ण ही खिंचे चले आवें जैसे चीरहरणके समय द्रौपदीकी भक्ति थी वह श्रीकृष्णकर्षिणी भक्ति कहलाती है। आप खिंच आएँगे नालोंमें असर होने तो दो।

साधन, भक्तिभाव और प्रेम-भेदसे यह उत्तमा भक्ति तीन प्रकारकी होती है। अपनी इन्द्रियोंकी प्रेरणासे जो भक्ति साधी जाती है उसे साधना-भक्ति कहते हैं। यह भी दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा। इसी वैधी भक्तिको मर्यादा-भक्ति भी कहते हैं जिसके अन्तर्गत भक्तिरसामृतसिन्धुके अनुसार वे सब चौंसठ क्रियाएँ आती हैं जिनका ऊपर साधन-भक्तोंके लक्षणमें विवरण दे दिया गया है। व्रजवासियोंमें प्रत्यक्ष रूपसे जो रागात्मिका भक्ति

है उसके अनुसार या उस ढंगसे भक्ति करना ही रागानुगा भक्ति कहलाती है। रागात्मिका भक्ति दो प्रकार की होती है—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जो भक्ति सम्भोगकी तृष्णाको प्रेमके रूपमें परिणत कर देती है वह कामरूपा भक्ति कहलाती है क्योंकि उस कामरूपा भक्तिमें केवल श्रीकृष्णको सुख देनेके लिये ही उद्योग किया जाता है; किन्तु जब कोई यह अभिमान करता है कि मैं कृष्णका पिता, माता या भाई हूँ, यह अभिमानयुक्त बोध ही संबन्ध-रूपा भक्ति कहलाती है। इसी कारण रागानुगा भक्ति भी कामा-नुगा और सम्बन्धानुगा होती है। सम्बन्धानुगा भक्ति दो प्रकारकी होती है। जिनका चित्त रागानुगा भक्तिसे युक्त व्रजवासियोंकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये उत्सुक होता है उनकी भक्तिको कामा-नुगा या सम्बन्धानुगा कहते हैं। किन्तु जब मनमें शुद्ध सात्त्विक रूपसे भगवत्प्रेम उदय होता है और भक्त अपने भगवान्‌की कृपा और मित्रता प्राप्त करनेके लिए अपने चित्तको तन्मय कर लेता है उसे भाव-भक्ति कहते हैं। इस भक्तिमें विरक्ति, अभिमानशून्यता, क्षमा, भगवान्‌से मिलनेकी आशा, उत्कण्ठा, भगवान्‌के नामका गान करनेमें सदा रुचि, उनके गुणवर्णनमें आसक्ति और उनके निवासस्थानमें प्रीति आदि अनुभव उत्पन्न होते हैं।

प्रेम-भक्ति

जिस भक्तिसे भली प्रकार चित्त निर्मल हो जाय और अपने इष्टदेवके प्रति ममता उत्पन्न हो उस भावको प्रेम कहते हैं। भक्ति-

रसामृत-सिंधुमें इस प्रेम भक्तिके क्रमिक विकासको इस प्रकार वर्णन किया गया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥

[साधकोंमें इस प्रेमके प्रादुर्भावका यह क्रम होता है कि पहले श्रद्धा, फिर साधुओंका सङ्ग, फिर भजन-कीर्तन आदि क्रियाएँ, तब अनर्थकारी बातोंसे निवृत्ति, तब निष्ठा, उसके पश्चात् रुचि, तब आसक्ति, तब भाव और अन्तमें प्रेम उत्पन्न होता है।]

ऊपर बताया जा चुका है कि यों तो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार ये पञ्चरसात्मक भाव भक्तिमें विद्यमान रहते हैं किन्तु उनके अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थोंमें भक्तिके भेद-प्रभेदोंकी चर्चा की गई है। गरुड-पुराणमें आठ प्रकारकी भक्तिकी चर्चा करते हुए बताया गया है कि—(१) विष्णुके नाम और उनकी लीलाओंका कीर्तन करते-करते अश्रुमग्न हो जाना; (२) भगवान्‌के चरण-युगल ही मेरे नित्य कर्म हैं ऐसा निश्चय और उसके अनुरूप व्यवहार करना; (३) प्रमाणपूर्वक भक्तिके साथ भगवद्गीता आदि शास्त्र-ग्रन्थोंका पारायण; (४) भगवान्‌की भक्तवत्सलताका अनुमोदन; (५) भगवत्कथा सुननेमें प्रीति; (६) विष्णुमें भाव-निवेश; (७) विष्णुकी अर्चना; और(८) यह समझना कि विष्णु ही एकमात्र मेरे उपजीव्य हैं, ऐसी आठ प्रकारकी भक्ति जिसमें होती है वह विष्णुके समान ही पूजनीय होता है।

भक्तियोग

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तियोगका प्रतिपादन करते हुए कहा है—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।

[अर्जुनने पूछा कि जो भक्त इस प्रकार अर्थात् निर्गुण और सगुण ब्रह्मके रूपमें आपकी उपासना करते हैं उनमें कौन श्रेष्ठ है ?]

इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'जो व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर सात्त्विक श्रद्धाके साथ मेरे सगुण स्वरूपकी आराधना करते हैं वे ही श्रेष्ठ हैं।' इसका तात्पर्य यह है कि जो भगवान्को 'गतिस्त्वम्' (आप ही एकमात्र मेरी गति हैं) ऐसा समझकर अनन्य भावसे भगवान्के शरणागत हो जाते हैं वे ही भगवत्स्वरूप प्राप्त करते हैं। जिन्हें पूर्णतः यह विश्वास हो जाता है कि जिन भगवान्की मैं उपासना करता हूँ वे निश्चय ही मेरा उद्धार करेंगे उनमें सात्त्विक श्रद्धाका उदय होता है और वे अपने आराध्यको ही सर्वस्व समझकर भक्तिपूर्ण चित्तसे भजन करते हैं। वे ही वास्तवमें भक्ति-योगी हैं।

जो भक्त सदा सन्तुष्ट, एकाग्रचित्त, संयतात्मा और दृढ-निश्चय है और जिन्होंने अपना मन और अपनी बुद्धि कृष्णार्पण कर दी है वे ही श्रेष्ठ हैं अर्थात् जो प्राप्ति या अप्राप्तिमें, संपत्ति या विपत्तिमें सन्तुष्ट रहते हैं, जो सदा भगवान्में मन लगाए रहते हैं, जिन्होंने शरीर और इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया है, जिनका भगवान्में दृढ विश्वास है, जिन्होंने सब संकल्प-विकल्प छोड़कर

अपना मन और अपनी बुद्धि भगवान्‌में अर्पण कर दी है, वे ही भक्त भगवान्‌को प्रिय हैं। जो व्यक्ति किसी दूसरेको संतप्त नहीं करता और स्वयं किसी दूसरेसे सन्तप्त नहीं होता और जिसने हर्ष, विषाद, भय और उद्वेग सबका परित्याग कर दिया है वही भगवान्‌को सबसे अधिक प्रिय है। जो व्यक्ति निरपेक्ष, पवित्र, कुशल, उदासीन, सब व्यथाओंसे दूर और सब प्रकारके कर्मोंका आरम्भ छोड़ चुका है और जितना मिल जाय उसीमें संतुष्ट रहता है, जो किसीसे दुःख पाकर भी उसकी निन्दा नहीं करता, जिसने शोक और इच्छाका परित्याग कर दिया है, शुभ और अशुभ भावना भी जिसने छोड़ दी है, जिसके लिये शत्रु और मित्र, शीत और उष्ण, मान और अपमान, सुख और दुःख सब कुछ समान है, वही भक्त भगवान्‌को अधिक प्रिय है।

भक्तिरस

जिस प्रकार साहित्यमें नव रसोंकी स्थिति मानी गई है उसी प्रकार भक्तोंने भक्तिरसका अस्तित्व माना है। भक्ति-रसामृतसिंधुमें इस भक्तिरसका परिचय देते हुए कहा गया है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायिभावो भक्तिरसो भवेत्॥

[श्रीकृष्णमें रति स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और संचारी भावके संयोगसे भक्ति-रसका आनन्द होता है।]

उनके अनुसार ईश्वर या श्रीकृष्ण ही आलम्बन विभाव; भक्त आश्रय; भगवान्‌के गुण और भक्तकी श्रवण–कीर्तन आदि चेष्टाएँ ही उद्दीपन विभाव; स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ही सात्त्विक भाव; तथा निर्वेद, विषाद, दैन्य और ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। श्रीकृष्णमें यह रति आश्रय या पात्र-भेदसे पाँच प्रकारकी होती है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और प्रियता या माधुर्य। जब किसी साधकमें इनमेंसे किसी एक प्रकारकी रतिका प्रकाश होता है तब उसे केवला रति कहते हैं और जब कई प्रकारकी रति मिलकर उत्पन्न होती है उसे संकुला रति कहते हैं।

[भक्तिचैतन्यचन्द्रिका]

भक्तिरसके अधिकारी वे ही लोग माने गए हैं जिनके हृदयमें प्राक्तन या पिछले जन्मकी और आधुनिकीय या इस जन्मकी सद्-भक्ति-वासना विराजमान रहती है। उन्हींके हृदयमें भक्तिरसका आस्वादन उत्पन्न होता है। इन आस्वादनके कारणोंको ही विभाव कहते हैं। विभावमें आलम्बन तो भगवान् कृष्ण हैं और आश्रय कृष्ण-भक्त होते हैं तथा श्रीकृष्णके गुण, चेष्टा, शृङ्गार, स्मिति, अंगसौरभ, मुरली, शृङ्ग, नूपुर, शंख, चरणचिह्न, विहारस्थल, तुलसी, भक्त और कृष्णाष्टमी आदि दिन उद्दीपन विभाव हैं। नाचना, लोटना, गाना, चिल्लाना, शरीर मोड़ना, पुकार करना, जम्हाना, लम्बी-लम्बी साँसें लेना, संसारकी चिन्ता न करना, मुँहसे

लार टपकाना, अट्टहास करना, घूमना, झूमना सब सात्त्विक अनुभाव हैं। यह सात्त्विक भाव तीन प्रकारका होता है—स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष।

जब भक्त अत्यन्त तन्मय होकर भगवान्‌में मन लगा देता है और अधीर होकर अपनेको प्राण-वायुमें अर्पित कर देता है तब प्राण दूसरी अवस्थामें जाकर देहको अत्यन्त क्षुब्ध कर देता है। उस समय भक्तके शरीरमें, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं। इस अवस्थामें निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, स्मृति, आलस्य, जडता, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और विबोध नामके बीस व्यभिचारी या संचारी भाव होते हैं।

'भक्तिरसामृतसिंधु' के रचयिता उपगोस्वामी विचक्षण पण्डित, भक्त और विद्वान् थे किन्तु भक्तिरसका विवेचन करते हुए उन्होंने संभवतः इस बातपर ध्यान नहीं दिया कि रसकी प्रतीति या उसका आस्वादन द्रष्टामें होता है, आश्रयमें नहीं क्योंकि आश्रय तो स्वयं आलम्बनका सहायक होता है। वह रसका आस्वादन नहीं करता, वह तो स्वयं उसकी निष्पत्ति की कारण-सामग्री होता है। वह तन्मय होकर जब भगवान्‌का भजन करता है तब उसे देखनेवाले

द्रष्टा अपने हृदयमें स्थित भगवद्रति स्थायीभावके उत्तजित होने या साधारणीकरण होनेपर रसका आस्वादन करते हैं।

सूरदासकी भक्तिके सम्बन्धमें ऊपर विवेचन किया जा चुका है कि वह गौणी थी किन्तु वे भक्तियोगी थे और यह उन्हींकी साधनाका परिणाम है कि उनके गीतों और रचनाओंसे आज भी लोगोंके हृदयमें भक्तिभावका उन्मेष या भक्तिरसकी निष्पत्ति होती है।

भक्तके लक्षण

भक्तका लक्षण बताते हुए विभिन्न ग्रन्थोंमें कहा गया है कि जिस व्यक्तिको भगवान् श्रीकृष्णकी अलौकिक कथाओंके श्रवणमें विशेष अनुराग और कथा सुनकर जिनकी आँखोंसे निरन्तर अश्रु-प्रवाह होता है, सारे शरीरमें रोम-हर्षण होने लगता है, मन सदा भगवान् श्रीकृष्णके चिन्तनमें निमग्न रहता हुआ उनकी रूप-माधुरीका पान करता है, जो अपने पुत्र, कलत्र, बन्धु-बान्धव, आदि सबको तन-मन-वचनसे साक्षात् श्रीकृष्णके समान मानते हैं, जो सब जीवों पर समान रूपसे दया करते हैं, संसारके समस्त जड और चेतनको श्रीकृष्ण-स्वरूप समझते हैं, जो भक्तिका उपदेश पाते ही पुलकित होकर, भावमग्न होकर कभी हँसते, कभी रोते, कभी गाते, कभी नाचते हैं, जो भगवत्प्रेममें निमग्न होकर परमानन्दका अनुभव करते हुए, ईश्वरको सर्वज्ञ समझते हुए प्राणिमात्रपर समान अनुरागकी निरन्तर वर्षा करते हुए सनातन विष्णु तथा

उनके साक्षात्स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका भजन करते हैं, वे ही परम ज्ञानी और भक्त हैं। इन हरिभक्तोंमें भी ब्राह्मण भक्तका तो इतना अपरिमित प्रभाव वर्णन किया गया है कि हरिभक्त ब्राह्मणके चरण-रजसे धरित्री तृप्त और पवित्र हो जाती है। जहाँ उनके चरणोंका चिह्न पड़ता है वहाँ तीर्थकी सृष्टि हो जाती है और उसे स्पर्श करने मात्रसे तीर्थमें किया हुआ पाप भी विनष्ट हो जाता है। उन्हें हृदयसे लगाने, उनके साथ वार्तालाप करने, उनका जूठा भोजन करने, उनका दर्शन और स्पर्श करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। समस्त तीर्थोंका भ्रमण कर लेने और उन तीर्थोंमें स्नान आदि करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है वह सब भगवद्भक्त ब्राह्मणके दर्शनमात्रसे ही प्राप्त हो जाता है।

जो भक्त 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' विष्णु-मन्त्रसे दीक्षित हो जाता है वह इतना पवित्र हो जाता है कि वह और उसके पूर्वज सबका उद्धार हो जाता है और उसके शरीरमें समस्त तीर्थ आकर बस जाते हैं। उसकी चरण-धूलिसे केवल पृथ्वी ही नहीं, समस्त तीर्थ और समस्त संसार ही पवित्र हो जाता है। जो दीक्षित भक्त विष्णुकी उपासना करते हैं, विष्णुका उच्छिष्ट भोजन करते हैं और एकमात्र विष्णुका ही मनोयोगसे ध्यान करते हैं वे सब भक्त विष्णुको प्राणसे भी अधिक प्यारे हैं।

भक्तके कर्तव्य

विष्णुका भक्त जो सदा सबके सामने निर्भय और निश्चिन्त

होकर केवल विष्णुका ही कीर्तन करता है और अपना सर्वस्व भगवान् विष्णुको अर्पित कर देता है वह ब्रह्मत्व, अमरत्व, इन्द्रपद, निर्वाण, मुक्ति और ऋद्धि-सिद्धि किसी भी ऐश्वर्यकी कोई याचना नहीं करता। वह एकनिष्ठ होकर केवल भगवान् कृष्णके प्रति परा-अनुरक्ति अथवा एकान्त अनुरागमें ही तन-मन-वचनसे निमग्न रहता है।

भक्तके भेद

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें चार प्रकारके भक्तोंका निर्देश किया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च पुरुषर्षभ॥

[आर्त अर्थात् अत्यन्त दुखी, जिज्ञासु अर्थात् ज्ञानकी इच्छा करनेवाला, अर्थार्थी अर्थात् किसी प्रकारकी इच्छा लेकर भक्ति करनेवाला और ज्ञानी, ये चार प्रकारके लोग मेरा भजन करते हैं।]

पुराण और इतिहासके उदाहरणोंसे यदि इसे पुष्ट किया जाय तो ग्राहके मुखमें पड़ा हुआ गजेन्द्र आर्त भक्तकी श्रेणीमें आता है; सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार जिज्ञासु भक्तकी श्रेणीमें; ध्रुव आदि अर्थार्थी भक्तकी श्रेणीमें और शुकदेव तथा नारद आदि ज्ञानी भक्तकी श्रेणीमें। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें भक्तके तीन भेद बताए हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम भक्तका लक्षण बताते हुए कहा गया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

[जो व्यक्ति सब प्राणियोंको अपने भगवान्‌से उत्पन्न समझे और सब प्राणियोंको अपने भगवान्‌के भीतर माने वही श्रेष्ठ भागवत है ।]

मध्य भक्तका लक्षण बताते हुए कहा गया है कि—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥

[जो व्यक्ति ईश्वरसे प्रेम, ईश्वरके भक्तोंसे मित्रता, मूर्खोंपर कृपा और शत्रुओंकी उपेक्षा करता है वह मध्यम भक्त है ।]

कनिष्ठ भक्तका लक्षण वहीं यह बताया गया है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

[जो भगवान्‌की अर्चा और पूजामें ही श्रद्धाके साथ मन लगाता है और भगवान्‌के अन्य भक्तोंमें उतनी श्रद्धा नहीं करता वह प्राकृत या कनिष्ठ भक्त कहलाता है ।]

इस दृष्टिसे सूरदासजी तथा अष्टछापके कवि निश्चय ही उत्तम भक्तोंमें अग्रणी थे । उन्होंने अपने विनयके पदोंमें प्राणिमात्रमें अपने भगवान्‌की व्यापकताका स्पष्ट परिचय भी दिया है, श्रद्धा भी दिखाई है और उपर्युक्त भागवतके लक्षणका स्वयं उल्लेख भी किया है ।

प्रायः विद्वानोंका मत है कि सूरदासजी सख्य-भक्ति माननेवाले थे और वे भगवान्‌को अपना सखा मानते थे । अपने इस

मतके समर्थनमें वे सूरसागरके उन पदोंका उद्धरण देते हैं जिनमें उन्होंने राधा और कृष्णकी रति-क्रीडाका विस्तारसे वर्णन किया है।

श्रीमद्भागवतके सप्तम स्कन्धमें नवधा या नव प्रकारकी भक्तिका उल्लेख करते हुए बताया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

[विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन—यह नव लक्षणवाली भक्ति मानी जाती है।] इनमेंसे एक-एक अंगका यज्ञ करनेवाला साधक भक्त कहलाता है। भक्तिरसामृतसिंधुके पूर्वभाग (२-१२९) में नवों प्रकारकी भक्ति करनेवाले अधिकारियोंका विवरण दिया गया है—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवत् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः।
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

[श्रवण-भक्तिमें परीक्षित, कीर्तन-भक्तिमें व्यासके पुत्र शुकदेव, स्मरण-भक्तिमें प्रह्लाद, चरणसेवन-भक्तिमें लक्ष्मी, पूजन-भक्तिमें राजा पृथु, वन्दन-भक्तिमें अक्रूर, दास्य-भक्तिमें हनुमान, सख्य-भक्तिमें अर्जुन और आत्म-निवेदन-भक्तिमें राजा बलिने प्रसिद्धि पाई।]

इस विवरणसे स्पष्ट है कि सख्य-भक्तिके लिये उसी प्रकार

भगवान्‌का साथ आवश्यक है जैसे अर्जुनका श्रीकृष्णके साथ था। सूरदासजीके संबंधमें इस प्रकारके सख्यकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। उनका वह दोहा स्वतः इस बातका साक्षी है कि भगवान् कृष्ण स्वयं उनके हृदयमें विराजमान थे यद्यपि प्रत्यक्षतः एक बार हाथमें आनेपर भी वे साथ छोड़कर निकल भागे थे और सूरको कहना पड़ा था—

बाँह छुड़ाए जात हौ, निबल जानिकै मोहिं।
हिरदै तैं जब जाउगे, मर्द बदौंगो तोहिं॥

तथ्य यह है कि जब महाप्रभु वल्लभाचार्यने उनको कीर्तनके लिये नियुक्त कर दिया तभीसे वे उत्तम भक्तके समान नवों प्रकारकी भक्तिका अवलम्ब लेकर अपने इष्टदेवसे अनुरागका निर्वाह करते रहे। उन्होंने जो राधा-कृष्ण-संबन्धी दाम्पत्य-क्रीडाओंका वर्णन किया है वह सख्य-भावका सूचक न माना जाकर लीला-कीर्तनका ही एक अंग मानना चाहिए। 'भक्तिरसामृतसिंधु' में भक्तोंके अनेक भेदोंमेंसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसके भक्तोंको श्रेष्ठ बताया गया है।

सख्य रसके भक्तोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—पुरसंबंधी और व्रजसंबंधी। इनमेंसे अर्जुन, भीम, द्रौपदी और श्रीदामा आदि तो सख्य रसके पुरसम्बन्धी भक्त कहलाते हैं। किन्तु व्रजस्थलके सख्य रसके भक्तोंकी चार श्रेणियाँ हैं—

सुहृत्, सखा, प्रिय सखा और प्रिय नर्म-सखा। व्रजमें जो

लोग श्रीकृष्णसे अवस्थामें कुछ अधिक थे, कुछ वात्सल्य प्रेम करते थे तथा शस्त्र द्वारा दुष्टोंसे श्रीकृष्णकी रक्षा करते थे वे श्रीकृष्णके सुहृत्सखा कहलाते थे जैसे सुभद्र, मंडलीभद्र, गोभट्ट, विजय और बलभद्र आदि।

जो श्रीकृष्णसे अवस्थामें कुछ कम थे और जिनकी मित्रता सेवा-मिश्रित थी और जो श्रीकृष्णकी सेवा करके सुख प्राप्त करनेकी इच्छा करते थे वे सखा कहलाते थे जैसे विशाल, बृषभ, मकरन्द और मणिबन्ध आदि। जिनकी मित्रता अत्यन्त शुद्ध थी अर्थात् जिनमें दास्य या वात्सल्य भावका लेश मात्र भी नहीं था वे समान अवस्थावाले मित्र ही प्रियसखा कहलाते थे जैसे श्रीदामा, सुदामा, भद्रसेन, पुण्डरीक आदि। ये प्रिय सखा अनेक प्रकारके खेल, बाहु-युद्ध और दण्ड-युद्ध आदि विनोदके द्वारा सदा श्रीकृष्णको आनंदित किया करते थे। किन्तु प्रिय सखासे भी सब प्रकारसे श्रेष्ठतर, सब रहस्य-पूर्ण कार्योंमें योग देनेवाले और विशेष स्नेह भाव रखनेवालेको प्रिय-नर्मसखा कहते हैं जैसे सुबल, अर्जुन और गोप आदि।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर भी सूरको हम चारों प्रकारके सखाओंमेंसे किसी एक प्रकारका भी नहीं मान सकते। सबसे अधिक इसके विरुद्ध महत्त्वपूर्ण प्रमाण तो उनके विनयके पद हैं जिनमें सूरने उसी प्रकार दास्यभावकी अभिव्यक्ति की है जैसी तुलसीदास-जैसे सेव्य-सेवकभाववाले कवियोंने। 'भक्तिरसामृतसिंधु'में चार प्रकारके दास्य भक्त बताए गए हैं—अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुग।

ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि तो अधिकृत दास-भक्त हैं। अतः इस श्रेणीमें भी सूर नहीं आते। आश्रित दास भक्तोंकी तीन श्रेणिय, मानी गई हैं—

शरणागत, ज्ञाननिष्ठ और सेवानिष्ठ। इनमेंसे कालियनाग और जरासन्धके कारागारमें बन्दी राजा तो सब शरणागत दास-भक्तकी श्रेणीमें आते हैं। मुक्तिकी इच्छा छोड़कर जिन्होंने केवल भगवान्‌का ही आश्रय लिया है वे ज्ञाननिष्ठ भक्त कहलाते हैं जैसे सनक आदि ऋषि। किन्तु जो पहलेसे ही भगवद्‌भजनमें आसक्त हैं वे ही सेवानिष्ठ दास-भक्त हैं। इनमेंसे शरणागत और सेवानिष्ठके अन्तर्गत सूरकी गणना की जा सकती है क्योंकि उन्होंने जिस 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्रसे दीक्षा ली वह स्वयं शरणागत दास-भक्तिका प्रमाण है और जिस प्रकार जीवन भर उन्होंने एकनिष्ठ होकर भगवद्‌भजन और कीर्तन किया वह उनकी सेवानिष्ठ भक्तिका परम लक्षण है।

पारिषद और अनुग दास भक्तोंमें उद्धव, दारुक और सात्यकि आदि तथा सुचन्द, स्तम्ब, चन्द्रहास और शारद आदिकी गणना होती है जो श्रीकृष्णके समयमें ही या तो उनके पारिषद थे या सदा उनके कार्यमें दत्तचित्त होकर सदा उनका अनुगमन करते थे। शान्त, वात्सल्य और मधुर रसके भक्तोंके अन्तर्गत तो सूरको रक्खा ही नहीं जा सकता। अतः, निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि सूरकी भक्ति शरणागति तथा सेवानिष्ठ दास भक्ति थी।

कृष्ण-भक्तके लक्षण

कृष्णके भक्त दो प्रकार के माने गए हैं–साधक और सिद्ध—

तद्भावभावितस्वान्ताः कृष्णभक्ताः :इतीरिताः।
ते साधकश्च सिद्धाश्च द्विविधाः परिकीर्तिताः॥

जो भक्त भक्तिकी साधना करते हैं और भक्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं वे साधक भक्त कहलाते हैं जैसे बिल्वमंगल ठाकुर; किन्तु जो किसी प्रकारके क्लेशको क्लेश नहीं मानते, जिनकी सारी क्रिया भगवान् कृष्णके निमित्त ही सदा होती है और जो सदा भगवान् कृष्णके प्रेमका आनन्द निरन्तर लेते रहते हैं वे सिद्ध भक्त कहलाते हैं।

११

एकादश अध्याय

जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण

अद्वैतवाद दर्शनकी ठीक व्याख्या समझनेके लिये भगवद्गीताका पारायण इसलिये आवश्यक है कि उसके प्रसिद्ध उपदेष्टा सोलह कलाओंसे युक्त पूर्ण अवतार भगवान् कृष्ण थे और इसीलिये, किसी साधारण व्यक्तिने नहीं वरन् स्वयं भगवान् बादरायण व्यासजीने उनके सम्बन्धमें कहा—

सर्वे चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

[और सब अवतार तो भगवान्के अंशावतार हैं किन्तु कृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं।] श्रीमद्भागवतमें 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या ही यह की गई है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
उत्पत्तिः प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

[जो सारे ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियोंकी गति, अगति, विद्या और अविद्याका ज्ञाता हो वही भगवान् होता है।] ये सभी गुण भगवान् श्रीकृष्णमें विद्यमान थे, इसीलिये उन्हें भगवान् कहा गया है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि वे जगद्गुरु भी थे। गुरुका लक्षण ही यह बताया गया है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

[अज्ञानके अन्धे बने हुएकी आँखोंमें ज्ञानके आँजनकी सलाई लगाकर जिसने आँखें खोल दी हैं, उस गुरुको प्रणाम है।] गुरुका धर्म ही है अपने शिष्यके अज्ञानको दूर करना। किन्तु जगद्गुरु तो सब गुरुओंका गुरु होता है। वह जो उपदेश देता है वह किसी एक शिष्यकी आँखें खोलनेके लिये नहीं देता। उसका उपदेश इतना व्यापक, दृढ, सत्य, त्रिकालाबाधित और देशकालाद्यनवच्छिन्न होता है कि सब युगों, कालों, जातियों, वर्गों तथा अवस्थाओंके लोग, यहाँ तक कि ज्ञानी लोग भी उसके प्रकाशसे नया प्रकाश, उसकी ज्योतिसे नवीन ज्योति प्राप्त करते हैं। उसके प्रकाशसे कुपन्थपर चलनेवाले लोग तो सुपन्थपर आ ही जाते हैं किन्तु सुपन्थपर चलनेवाले लोग भी अपने पन्थको और भी अधिक सूक्ष्मता तथा आलोकके साथ स्पष्ट देखने लगते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके जगद्गुरुत्वके दो पक्ष हैं—एक तो है स्वयं उनका जीवन और दूसरा है श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें उनका दिव्य उपदेश। उनके सम्बन्धमें अन्धे धृतराष्ट्रको कुरुक्षेत्रमें होनेवाले महायुद्धका प्रत्यक्ष विवरण देते हुए कृष्ण और अर्जुनका संवाद पूरा सुनाकर दिव्यचक्षु संजयने यही निष्कर्ष निकालकर कहा—

यत्र योगेश्वरःकृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

[जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और ध्रुव नीति है।] भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें कहा भी गया है—

यतो कृष्णस्ततो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।

[जहाँ कृष्ण हैं वहीं धर्म है, जहाँ धर्म है वहीं विजय है।]

योगेश्वर कृष्ण

सत् और असत्, कर्तव्य और अकर्तव्य, ग्राह्य और त्याज्यका विवेक ही वास्तवमें धर्म है। ऐसा ही विवेक आ जानेसे मनुष्य इस लोकमें समृद्धि और परलोकमें मुक्ति पाता है। भगवान् श्रीकृष्णका सारा जीवन इसी विवेकका चरम परिणाम है। धर्मराज युधिष्ठिर तो केवल यह समझे हुए थे कि बस जैसा ठीक देखा-सुना हो वैसा कह देना ही सत्य है। किन्तु वे सत्यका महातत्त्व नहीं जानते थे कि सत्य सदा मंगलकारी होता है। कभी अपना विनाश नहीं कराता। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि द्रोणाचार्यके हाथों पांडव-सेना विध्वस्त हुई जा रही है तब उन्होंने श्रेयस्कर सत्यका आश्रय लेकर अश्वत्थामा नामके हाथीकी मृत्युपर युधिष्ठिरसे कहला दिया—'अश्वत्थामा मृतः नरो वा कुंजरो वा' और इसीमें गुरु द्रोणाचार्यका वध करवा दिया। यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं भीष्मका बड़ा आदर करते थे और उस युगमें भीष्मके समान व्रती और वीर कोई दूसरा था नहीं किन्तु पांडवोंकी रक्षाके लिये उन्होंने शिखंडीका प्रयोग करके भीष्मको भी शरशय्यापर ला सुलाया। इतना ही नहीं, जब आवेगमें की हुई प्रतिज्ञाके फेरमें पड़कर अर्जुन दिनभरमें जयद्रथको नहीं मार पाया तब योगेश्वर मायापति श्रीकृष्णने अपनी योगमायासे संध्यासे पहले ही सूर्यास्त दिखाकर जयद्रथको उस छलसे अर्जुनके सम्मुख बुलाकर और सूर्य दिखाकर मरवा डाला। जो लोग सत्यका संकुचित अर्थ समझते हैं वे भगवान् श्रीकृष्णकी इस नीतिको कुटिल नीति और दुर्नीति कहते हैं किन्तु सत्यका वास्तविक मर्म समझनेवाले और सत्यके शिवरूपका रहस्य समझनेवाले विद्वान् भली-भाँ ति जानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णने जो कुछ किया वही उस स्थितिमें ठीक था और उन योगेश्वरकी उस परिभाषाके अनुकूल और भी अधिक ठीक था जिसमें उन्होंने कहा

था—'योगः कर्मसु कौशलम्' [कर्ममें कुशलता दिखानेका नाम ही योग है।]

भगवान् श्रीकृष्णका वह योगेश्वर रूप भी अत्यन्त समृद्ध है जिसके अनुसार योगी एकचित्त होकर ब्रह्मका साक्षात्कार करता है, त्रिकालदर्शी हो जाता है, सारे संसारको हस्तामलकवत् अपनी हथेलीपर देखता है और सर्वशक्तिमान् होकर जो चाहे वह कर सकता है।

उनकी परम शक्तिमत्ताका दूसरा अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण वह है जब कृष्णजीके गुरु सांदीपनि मुनिने गुरु-दक्षिणाके रूपमें अपने मृत पुत्रको माँगा और उन्होंने अपने योगबलसे यमलोकमें जाकर गुरुका पुत्र सशरीर लाकर समर्पित कर दिया। ऐसे अद्भुत और अलौकिक कृत्योंवाले दिव्यचरित भगवान् श्रीकृष्णने अपने दिव्य कार्योंसे लोक-मंगलका जो आदर्श स्थापित किया वह सम्पूर्ण विश्वके इतिहासमें देखनेको नहीं मिलता।

उससे भी विचित्र एक और घटनाका उल्लेख मिलता है। ज्योंही महाभारतका युद्ध समाप्त हुआ त्योंही श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'तुम तत्काल पहले इस रथसे उतर जाओ तब मैं उतरता हूँ।' इसपर अर्जुनने कहा—'क्यों ? पहले आप उतरिए तब मैं उतरूँगा।' श्रीकृष्ण-ने व्यग्रतापूर्वक कहा—'शीघ्रता करो, मैं कहता हूँ।' तत्काल अर्जुन रथसे कूद पड़े। उसके पश्चात् ज्योंही कृष्ण उतरे त्योंही देखते-देखते घोड़े-सहित वह रथ भभककर जल उठा और भस्म हो गया। अर्जुन आश्चर्य-चकित वह दृश्य देखने लगे। उनका समाधान करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'देख क्या रहे हो ? तुम्हारे जिस रथपर भीष्म और द्रोण जैसे पराक्रमी मंत्रसिद्ध महारथियोंने आग्नेय अस्त्र चलाए हों वह क्या अभी तक बचा रह सकता था। यह तो मेरी योग-शक्तिके कारण बचा हुआ था, अन्यथा कभीका भस्म हो चुका था।'

योगस्थ सृष्टि गीता

इस प्रकार यद्यपि उन्होंने अपने योगबल, चरित्र और जीवनादर्श-से अपना जगद्गुरुत्व सिद्ध कर दिया था तथापि उनके जगद्गुरुत्व-का सबसे प्रमुख प्रमाण है उनकी गीता जिसके सम्बन्धमें अत्यन्त निष्ठाके साथ कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

[और शास्त्रोंको पढ़नेसे क्या लाभ ? गीताको ही भलीभाँति मन लगाकर बार-बार पढ़ना चाहिए क्योंकि गीता तो स्वयं कमलकी नाभिवाले विष्णुके अवतार श्रीकृष्णके मुखसे निकली है।]

श्रीमद्भगवद्गीताके चमत्कारका कारण यही है कि भगवद्गीता कोरा उपदेश-ग्रंथ या नीति-ग्रंथ नहीं है जिसमें केवल विधि या निषेध मात्रका उल्लेख हो। यह वास्तवमें व्यवहारशास्त्र है जो वास्तविक परिस्थितिमें, युद्ध-क्षेत्रमें, अर्जुन—जैसे मनस्वीके आकस्मिक मनस्तापके अवसरपर उसे कर्मरत करानेके लिये सुनाया गया था। अर्जुन भी कोई साधारण शिष्य नहीं था। वह श्रीकृष्णकी कही हुई बात 'हाँ-हाँ' करके नहीं मानता जा रहा था। वह अपनी बुद्धिके अनुसार तर्क दे रहा था, शास्त्रार्थ कर रहा था, नम्रतापूर्ण विरोध कर रहा था, संशय प्रकट कर रहा था और भावी परिणामका निर्देश भी कर रहा था। कृष्ण भी चिढ़कर नहीं, अत्यन्त मनोयोगसे उसकी प्रत्येक शंकाका, प्रत्येक प्रश्नका, प्रत्येक जिज्ञासाका उचित समाधान करते जा रहे थे। वह कोई ऐसा उपदेश नहीं था जो श्रीकृष्णको पहलेसे कंठस्थ रहा हो, पुस्तकसे सीखा हुआ हो या सोचा हुआ हो। वे योगस्थ होकर प्रत्येक नई उठाई हुई समस्याका युक्तिपूर्वक समाधान करते जा रहे थे। यही कारण था कि महाभारत हो चुकनेपर जब निश्चिन्त होकर अर्जुनने उनसे पूछा—'भगवन्! युद्धक्षेत्रमें जिस

समय मुझे मोह हुआ था, उस समय जो आपने मुझको उपदेश दिया था, उसे कृपया फिरसे सुनाइए।' तब भगवान् श्रीकृष्णने हँसते हुए कहा था—'यह तुम क्या पूछ रहे हो अर्जुन! अब मुझे कहाँ स्मरण है कि मैंने क्या कहा था। वह तो मैंने योगस्थ होकर कहा था।'

अर्जुनको जो मोह हुआ था और धर्म-अधर्मकी जिस द्वन्द्वावस्थामें हुआ था वह प्रत्येक प्राणीके हृदयमें प्रतिपल होता रहता है। संसारमें, समाजमें जो अनेक नैतिक मानदण्ड स्थापित होते रहते हैं उनका ठीक-ठीक ज्ञान बहुत कम लोगोंका होता है और बहुत कम लोग जीवनमें उनका उपयोग कर पाते हैं क्योंकि उनका वास्तविक तत्त्व जाननेवाले संसारमें बहुत कम हैं, इसीलिये ज्ञानात्मक तर्क और प्रयोगात्मक व्यवहारके जितने पक्ष हो सकते हैं सबका विस्तृत व्याख्यात्मक विवरण देते हुए श्रीकृष्णने अर्जुनको सब मार्ग बताकर अन्तमें व्यवहार-मार्ग बताया और अपना विराट् स्वरूप भी प्रदर्शित कर दिया जिससे अर्जुनको यह प्रतीत हो जाय कि मैं ज्ञान देनेवाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं हूँ। शिष्यको विश्वास दिलानेके लिये यह परम आवश्यक है कि गुरु उसपर अपने ज्ञान, अनुभव और चमत्कारका आतङ्कपूर्ण प्रभाव जमा दे। भगवान् श्रीकृष्णके अकाट्य तर्कोंसे और उनकी दिव्य तेजस्वितासे पराभूत होकर अर्जुनने अन्तमें श्रीकृष्णको पूर्ण रूपसे अपना 'गुरु' मान लिया और उसने आँख मूँदकर हाथ जोड़कर कहा—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

[मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए मैं आपकी शरण हूँ।] और तब अर्जुन उनकी आज्ञा पालन करके युद्धमें रत हो गया।

यही कारण है कि संसारके प्रत्येक देशमें योगेश्वर कृष्ण और उनकी भगवद्गीताकी इतनी प्रतिष्ठा हुई, कि संसारके प्रत्येक सभ्य

देशमें भगवान् श्रीकृष्णका जगद्गुरुत्व स्वीकार कर लिया। उनकी गीताके सम्बन्धमें यह ठीक ही कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्॥

[सब उपनिषद् ही गौएँ हैं, श्रीकृष्णजी ही दूध दुहनेवाले ग्वाले हैं, अर्जुन ही उस उपनिषद्-रूपी गौको पेन्हानेवाले बछड़े हैं, अच्छी बुद्धिवाले समझदार लोग ही उस दूधको पीनेवाले हैं और गीताका अमृत ही दूध है।]

मनुष्य-जातिके इतिहासमें जितने महापुरुषोंकी कथाएँ संसारमें विदित हैं उनमें सबसे महान् भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तिका जितना समुन्नत विकास उनमें गोचर हुआ, उतना आजतक किसी दूसरे पुरुषमें नहीं हुआ। उन्होंने जैसा विमल ज्ञान और जैसी सात्त्विक नीतिका उपदेश गीतामें किया वैसा आजतक और किसीने नहीं किया। उनकी महिमाके विषयमें महामना मालवीयजी महाराजने दो श्लोकोंमें लिखा है कि—

सत्यव्रतौ महात्मानौ भीष्मव्यासौ सुविश्रुतौ।
उभाभ्यां पूजितः कृष्णः साक्षाद्विष्णुरितिह्यलम्॥
माहात्म्यं वासुदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
तमेव शरणं गच्छ यदि श्रेयोभिवाञ्छसि॥

[जिन भगवान् कृष्णने अपने प्रकट होनेके समयसे अन्तर्धान होनेके समयतक साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका दमन, न्याय और धर्मकी स्थापना आदि अनेक अद्भुत कर्म किए उनका माहात्म्य केवल इसी बातसे भली-भाँति विदित है कि भगवान् कृष्णके समकालीन और उनके गुणोंसे भली-भाँति परिचित, महाभारतके रचयिता श्रीवेदव्यास और सत्यव्रती भीष्मपितामह दोनों ही महात्माओंने भगवान् कृष्णको साक्षात् विष्णु मानकर पूजा है। इसलिये जो लोग अपना मङ्गल

चाहते हों उन्हें चाहिए कि भगवान् कृष्णकी शरणमें जायँ।] क्योंकि श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

[अन्य सब धर्मोंका भरोसा छोड़कर केवल मेरी शरणमें आओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। चिन्ता मत करो।]

भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंका विवेचन और मनन करनेसे प्रतीत होता है कि उनमें भगवान्‌के सब गुण विद्यमान थे। उनका रूप इतना मनोहर और हृदयहारी था कि व्यासजीने उन्हें 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' (साक्षात् कामदेवका भी मान-मर्दन करनेवाला) बताया है।

महाभारतके सभापर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी महत्ताका वर्णन करते हुए वैशम्पायनजीने कहा है कि 'जिस समय युधिष्ठिरका राजसूय-यज्ञ प्रारम्भ होनेवाला था उस समय सब देवर्षि, महर्षि, राजर्षि, आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक तथा अनन्त मानवीय महापुरुषोंकी सभामें युधिष्ठिरने पूछा कि सबसे पहले किसकी पूजा की जाय। तत्काल साक्षात् धर्मके स्वरूप भीष्म पितामहने पूर्ण रूपसे विचार करके कहा कि 'संसारमें सबसे अधिक पूजनीय श्रीकृष्ण हैं। सबसे पहले उन्हींकी पूजा होनी चाहिए, शिशुपालने यह सुना तो उसने शिष्टताकी सम्पूर्ण मर्यादा तोड़कर भीष्मपितामहके प्रस्तावका तीव्र विरोध किया। उस समय भीष्मपितामहने उसे समझाते हुए कहा—

'श्रीकृष्ण केवल हमारे ही लिये सबसे अधिक पूजनीय नहीं वरन् ये तो तीनों लोकसे पूजा पानेके योग्य हैं। मैंने जिन अनेक ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका सत्सङ्ग किया है उन्होंने एक स्वरसे भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंकी प्रशंसा की है। इतना ही नहीं, श्रीकृष्णने अपने जन्मसे ही जो अनेक अद्‌भुत कर्म किए हैं, उन्हें भी मैंने बार-बार लोगोंके मुँहसे अत्यन्त कृतज्ञताके साथ कहते सुना है। अतः, हे शिशुपाल! हम श्रीकृष्णकी इसलिये पूजा करते हैं कि उन्होंने सदा पृथ्वीके सब

प्राणियोंको सुख पहुँचानेका ही प्रयत्न किया है। उनका यश, वीरता और उनकी विजय-शक्ति ही देख-समझकर सत्पुरुषोंने उनकी पूजा की है, इसीलिये हम भी उनकी पूजा कर रहे हैं। ब्राह्मणोंमें जिनका ज्ञान अधिक हो, क्षत्रियोंमें जिसका बल अधिक हो, वैश्योंमें जो धन-धान्यसे सम्पन्न हो और शूद्रोंमें जिसका आचरण अच्छा हो उसीका मान किया जाता है। किन्तु श्रीकृष्णके पूजनीय होनेके तो दोनों ही कारण हैं। वे ज्ञानवान् भी हैं और सबसे अधिक बलवान् भी। संसारमें ऐसा कौन है जो श्रीकृष्णके समान गुण-सम्पन्न हो। वे दानशील, निपुण, शास्त्रके ज्ञाता, बलशाली, नम्र, यशस्वी, बुद्धिमान्, विनयी, श्रीसम्पन्न धैर्यशील, सन्तोषी और हृष्टपुष्ट हैं। केशवमें सब गुण स्वभावतः पाए जाते हैं। वे आचार्य-तुल्य हैं, पिता-तुल्य हैं, गुरु-तुल्य हैं, अर्घ्य पानेके योग्य हैं, पूजित हैं, पूजनीय हैं और लोकप्रिय हैं। इसीलिये हम भी इन्हें पूजाके योग्य मानते हैं।'

श्रीकृष्णका प्रथम गुण था धर्ममें दृढता। स्वयं भगवान्ने उद्योग पर्वमें कहा है—

नाहं कामान्न संरंभान्नद्वेषान्नार्थकारणात्।
न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथंचन॥

[मैं कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, धनके कारण, लोभसे, कलहके कारण या अन्य किसी प्रलोभनसे धर्मको कभी नहीं छोड़ सकता।]

राजा युधिष्ठिरने भी इस बातकी पुष्टि करते हुए भगवान् कृष्णके विषयमें कहा है—

यो वै न कामान्न भयान्न लोभान्नार्थकारणात्।
अन्याय्यमनुवर्त्तेत स्थिरबुद्धिरलोलुपः॥
धर्मज्ञो धृतिमान्प्राज्ञः सर्वभूतेषु केशवः।
ईश्वरः सर्वभूतानां देवदेवः सनातनः॥

[काम तथा धन आदिके कारण जो कभी अन्यायका अनुवर्त्तन

नहीं करते, जिनकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है और जिनमें लोभका लेश नहीं है, वे धर्मज्ञ, धृतिमान्, सब प्राणियोंमें बुद्धिमान् तथा सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ कृष्ण, देवताओंके देव और पूजनीय हैं।]

श्रीमद्भागवतमें कथा प्रसिद्ध है कि जन्मके समय अभिमन्युका पुत्र परीक्षित जब निष्प्राण उत्पन्न हुआ तो सारा पांडव-परिवार हाहाकार कर उठा। सुभद्राने कृष्णको बुलाकर रोते हुए कहा—'यह क्या हो गया भैया! क्या तुम्हारे रहते पांडव-कुल निर्वंश हो जायगा?' उस समय भगवान् कृष्णने उस बालककी ओर देखकर कहा—'यदि सत्य और धर्म सदा मुझमें प्रतिष्ठित रहते हों तो यह अभिमन्युका मरा हुआ पुत्र तत्काल जी उठे।' और तत्काल भगवान् श्रीकृष्णके योगबलसे वह बालक जी उठा।

भगवान्का दूसरा गुण सत्यसे प्रेम था। द्रौपदीके उत्तरमें भगवान् कृष्णने स्वयं उद्योग पर्वमें कहा है—

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा भवेत्।
द्यौः पतेत सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥

[चाहे हिमालय पर्वत चलने लगे, पृथ्वी सौ टूक हो जाय, आकाश नक्षत्रोंके साथ पृथ्वी-पर गिर पड़े किन्तु मेरा वचन कभी निष्फल नहीं हो सकता।]

इसीलिये उसी उद्योग-पर्वमें अर्जुनने कहा—

ततः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥

[जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ शील है और जहाँ ऋजुता (निष्कपटता) है, वहाँ गोविन्द हैं और जहाँ गोविन्द हैं वहीं विजय है।]

भगवान्का तीसरा गुण अक्रोध था। वे क्रोधको कभी पास नहीं फटकने देते थे। महाभारतमें लिखा है—

सत्कृतोऽसत्कृतो वाऽपि न क्रुध्येत जनार्दनः ।
नाऽलमेनमवज्ञातुं नावज्ञेयो हि केशवः ॥

[उनका कोई सत्कार करे या न करे किन्तु कृष्णको कभी क्रोध नहीं आता था । उनका अनादर कोई कर ही नहीं सकता था । उनका अनादर करना संभव ही नहीं था ।

कृष्णका चतुर्थ गुण उनका असीम धैर्य था । किसी अवस्थामें भी कृष्ण घबराते नहीं थे । वे चाहे जितने शत्रुओंके बीचमें क्यों न हों, कैसा भी संकट क्यों न आ पड़ा हो किन्तु उनका धैर्य कभी विचलित नहीं होता था । इसीलिये अर्जुनने कहा था--

अनन्ततेजो गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः ।
पुरुषः सनातनतमो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

[कृष्णके तेजका वारापार नहीं है । कितने ही शत्रुओंसे घिरे होनेपर भी उनके चित्तमें कभी घबराहट नहीं होती । वे सनातन पुरुष परमात्माके रूप हैं । जहाँ कृष्ण हैं वहाँ विजय निश्चय है ।]

दुर्योधन और अर्जुन दोनोंसे भगवान् श्रीकृष्णका सम्बन्ध था । जब यह निश्चय हो गया कि महाभारत होगा तब दुर्योधन और अर्जुन दोनोंने श्रीकृष्णजीसे सहायता माँगी । भगवान्‌ने कहा कि जो भी मुझे ले चले मैं चलनेको उद्यत हूँ किन्तु मैं लड़ाईमें शस्त्र नहीं उठाऊँगा । अतः, चाहे तुम मुझ निहत्थेको ले लो और चाहे मेरी एक लाख नारायणी सेनाको ले लो । दुर्योधनकी बुद्धि बिगड़ गई थी । उसने एक लाख योद्धा माँग लिए । किन्तु अर्जुन तो श्रीकृष्णका महत्त्व समझते थे । उन्होंने निहत्थे श्रीकृष्णको ही माँग लिया । भगवान् अपने भक्त अर्जुनके साथ युद्धमें सदा रहनेके लिये और उसे उत्साहित करनेके लिये उसके सारथि बने । जब महाभारतमें दोनों दलोंकी सेनाएँ आमने-सामने आ खड़ी हुईं और अपने सम्बन्धियों तथा मित्रोंको लड़ने-मरनेके लिये तैयार देखकर अर्जुनके मनमें विषाद हुआ तब भगवान् कृष्णने उसे वह दिव्य उपदेश दिया जो श्रीमद्भगवद्गीता-

के नामसे संसारको पवित्र कर रहा है। यह उसी उपदेशका फल था कि अर्जुनके हृदयका सब सन्देह मिट गया, वे लड़नेके लिये खड़े हो गए और उन्होंने विजय प्राप्त की। अर्जुन और कृष्णके इस सम्बन्धको और उसके लोकोत्तर फलको भगवान् वेदव्यासने गीतामें संजयके द्वारा एक श्लोकमें कहला दिया है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्रश्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

[जहाँ योगेश्वर कृष्ण हों, जहाँ गांडीवधारी अर्जुन हो (जहाँ मस्तिष्क-बल और बाहुबल एकत्र हों) वहीं लक्ष्मी आती है, वहीं विजय होता है, वहीं विभूति है और वहीं निश्चल नीति है, यही मेरा मत है।]

इन्हीं सब कारणोंसे व्यासजीने श्रीकृष्णजीको साक्षात् भगवान् कहा है—

सर्वे चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।

———

श्रीकृष्णका स्वरूप

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये प्रस्तुत बन्धु-बान्धवोंको देखकर व्याकुल और मोहग्रस्त हो उठनेवाले अर्जुनको आनन्दकन्द सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने जिस प्रकार गीतामृत पिलाकर स्वस्थ और मोहमुक्त किया था उसी प्रसंगमें उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा था—

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥

गीता १०।३५

[सामवेदके सब प्रकरणोंमें मैं सर्वश्रेष्ठ बृहत्साम प्रकरण हूँ, वेदके सात छन्दों (गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती) में मैं सबसे पवित्र गायत्री छन्द हूँ अथवा वेदकी समस्त ऋचाओंमें मैं सर्वाधिक पवित्र गायत्री ऋचा (ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भार्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्) हूँ, बारह मासों (चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्त्तिक, मार्गशीर्ष (आग्रहायण), पौष, माघ, फाल्गुन) में सर्व श्रेष्ठ मार्गशीर्ष (आग्रहायण या अगहन) मास हूँ और छहों ऋतुओं (वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, शिशिर, हेमन्त) में सर्वश्रेष्ठ कुसुमाकर (वसन्त) ऋतु हूँ।]

हम यह मान सकते हैं कि ग्रीष्म ऋतुमें प्रचण्ड लुएँ चलती हैं, सारी धरित्री तप जाती है, सूर्यकी किरणें असह्य हो जाती हैं, जल

सूख जाता है, वृक्ष मुरझा जाते हैं, जीव व्याकुल हो जाते हैं, इसलिये ग्रीष्म ऋतुकी सराहना नहीं की जा सकती। शिशिर और हेमन्तमें भी इतना जाड़ा-पाला पड़ता है कि लोग घरसे बाहर नहीं निकल पाते, शरीर ठिठुरने लगता है, खेतोंको, वृक्षोंको, कमलोंको पाला मार जाता है, सर्दीके मारे दाँत बजने लगते हैं, देह सुन्न हो जाती है, रातें बड़ी होकर और भी साँसत देने लगती हैं। अतः, ये दोनों ऋतुएँ भी प्रशंसनीय नहीं कही जा सकतीं।

पर वर्षामें तो गर्मीसे व्याकुल और प्यासी धरतीको जल मिलता है, वह हरी हो उठती है, प्रसन्न हो उठती है। यह ऋतु क्या अच्छी नहीं है? हाँ, सचमुच उतनी अच्छी नहीं है जितनी होनी चाहिए। यह अवश्य है कि वर्षा आते ही मोर नाच उठते हैं, वृक्ष मस्तीसे झूम उठते हैं, सब प्राणी सन्तोषकी साँस लेने लगते हैं। किन्तु इसी ऋतुमें मच्छर, डाँस, पिस्सू और असंख्य कीट-पतंग भी तो बैठना-उठना, सोना-लेटना, खाना-पीना सब दूभर कर देते हैं, साँप-बिच्छू-जैसे विषैले जीव निकल-निकलकर निर्द्वन्द्व घूमने लगते हैं, नदियोंमें बाढ़ आ जाती है, मार्ग बन्द हो जाते हैं। अतः, वर्षामें भी जहाँ कुछ थोड़ेसे गुण हैं, वहाँ अवगुण भी बहुत हैं।

किन्तु शरद्में तो वर्षा नहीं रहती, आकाश स्वच्छ हो जाता है, चन्द्रमा हँसने लगता है दिशाएँ खिल उठती हैं, मार्ग निष्पंक हो जाते हैं, सरोवरोंमें दिनको कमल और रातको कुमुद खिलने लगते हैं और इसी शरत्की पूर्णिमाके शुभ्र आलोकमें कालन्दीके कूलपर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने महारास भी तो रचाया था। फिर उन्होंने अपने लिये क्यों नहीं कह दिया 'ऋतूनां शारदी ऋतुः'?

यह ठीक है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने शरद्में रास रचाया था। यह भी ठीक है कि इस ऋतुमें स्वच्छ चन्द्रमा सम्पूर्ण आकाश और धरित्रीको अपनी निर्मल चन्द्रिकासे नहलाए रखता है। यह भी सत्य

है कि इस इस ऋतुमें सरोवरोंका प्रसन्न जल, कमलोंसे खिला पड़ता है। किन्तु क्या यही ऋतु सब रोगोंकी खान नहीं है ? 'वैद्यानां शारदी माता' क्यों प्रसिद्ध है ? क्योंकि वैद्य लोग शरद्में ही अत्यधिक व्यस्त हुए रहते हैं। राजा लोग भी शरत्की प्रतीक्षा करते रहते हैं और जहाँ शरद् ऋतु आई कि उन्होंने झट सेना सँभालकर पड़ोसी राज्योंपर चढ़ाई कर दी और फिर युद्ध तथा मारकाट। तो जिस ऋतुमें न तनको चैन न मनको शान्ति, उसकी प्रशंसा कैसे की जा सकती है ?

यद्यपि जहाँ 'वैद्यानां शारदी माता' कहा गया है वहींपर 'पिता च कुसुमाकरः' कहकर वसन्तको भी वैद्योंका पोषक पिता ही बताया गया है फिर भी वसन्त ऋतुमें अन्य ऋतुओंके समान उत्पात नहीं होते। सूर्य नारायण उत्तरायणकी ओर घूम जाते हैं। हिमके नीचे अपने मूलमें अपनी जीवन-शक्ति छिपाए पड़ी रहनेवाली वनस्पतियाँ हिमके पिघलते ही धरित्रीके विवरसे झाँकने लगती हैं, फिर अपने पत्ते, वृन्त और शाखाएँ फड़फड़ाकर बाहर निकलने लगती हैं और अपने तनपर फूलोंका शृङ्गार करके खिल उठती हैं। सरसोंके खेत वासन्ती फूलोंकी साड़ी पहन कर मस्तीसे झूम उठते हैं, आम बौरा उठते हैं, अशोक फूल उठते हैं और हिमके भयसे परदेश भागे हुए पक्षी पुनः अपने देशको लौटने लगते हैं—इस विश्वासके साथ कि अब सर्वपीडक हिमका आतंक समाप्त हो गया। वासन्ती पवनके झकोरोंमें झूमती हुई जौ और गेहूँकी बालियाँ, चनेकी ढोढ़ियाँ और मटरकी फलियाँ गदराने लगती हैं, किसान हर्षसे फूले नहीं समाते। उसी उन्मादमें पलाश भी अपने पत्र-रूपी वस्त्र उतारकर, सिरपर लाल टेसूकी टोकरी रक्खे हुए पवनके साथ हाथ-बाँधकर नग्न नृत्य करने लगता है। पंचम स्वरमें अपनी काकली साधकर कोयलकी कूक भी आमकी डालियोंमें गूँज उठती है। न जाने कहाँसे सैकड़ों प्रकारके पक्षी सूर्यकी सतरंगी (लाल, पीली, नीली, हरी, नारंगिया, बैंगनी, आकाशी)

किरणोंसे रंग छीन-छीनकर अपने चोले सजाकर, आकाशको अपने मधुर कलरवसे गुँजाने लगते हैं। ढोलक स्वयं बज उठती है, पैर स्वयं नाचनेके लिये थिरक उठते हैं, कंठ स्वयं गानेके लिये मचल उठता है, मानो प्रकृति-नटी स्वयं सूत्रधार बनकर प्रत्येक जलचर-थलचर-नभचरको, अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिजको उल्लाससे मग्न होकर नाच उठनेको, वेश बदलनेको प्रेरित करनेके लिये सजग हो उठी हो। तभी तो वृक्ष अपने पुराने जीर्ण पत्ते गिराकर नये कोमल किसलयसे अपना तन सँवारते जाते हैं क्योंकि—

रितु बसन्त जाचक भया, हरखि दिया द्रुम-पात।
ताते नव-पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात॥

(कबीर)

[वसन्त ऋतुने जब वृक्षोंके पास पहुँचकर भिक्षाकी झोली फैलाई तो वृक्षोंने प्रसन्न होकर अपना सर्वस्व, अपने पत्ते-पत्ते उसे दे डाले। उसीका परिणाम है कि वृक्षोंको नये, कोमल, सुन्दर, चमकीले पत्ते मिल रहे हैं। जो भी ऐसा दान देता है उसको ऐसा सुन्दर फल तत्काल मिलने लगता है।]

और फिर बसन्तमें कौए-कोयलकी पहचान भी ठीक-ठीक हो जाती है। कोयलका रंग भी काला और कौएका भी काला। फिर पहचान हो तो कैसे हो? दूर बैठे हों तो दोनोंका भेद करना कठिन हो जाय—

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्ते समुपायाते काकः काकः पिकः पिकः॥

[कौआ और कोयल दोनों ही काले हैं, तब उनमें भेद क्या रहा? क्यों नहीं भेद है? आने दो वसन्तको। जब कोयलका मधुर स्वर स्वर सुनाई पड़ेगा 'कू ऽ ऽ ऽ कू' और कौवा बोलेगा 'काँव काँव' तब समझमें आ जायगा कि कौन कोयल है और कौन कौआ।]

इस प्रकार वसन्तमें सारी सृष्टि उल्लास, हर्ष, समृद्धि और नव-जीवनसे ओतप्रोत हो जाती है। चिन्ता, व्यथा, शोक, हिम आतप अतिवृष्टि सबका भय और आतङ्क समाप्त हो जाता है। चारों ओर खिले हुए फूलोंकी मदिर सुगन्धि और उनका मधुर रूप लेकर जो वसन्त रूखेसे रूखे मुहर्रमीको भी मुस्करानेके लिये विवश कर देता है, उसकी समता कौन कर सकता है? यह अनुपम है, अद्वितीय है, आनन्दमय है। इसीलिये तो भगवान्‌ने कहा—'अहं ऋतूनां कुसुमाकरः'।

———

दुग्धं गीतामृतं महत्

आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्रने महाभारतके महायुद्धकी विषम परिस्थितिमें अपने सखा-शिष्य अर्जुनको जो कर्मका उपदेश दिया था वह विश्वके सम्पूर्ण इतिहासमें ज्ञान-दर्शन और व्यवहार-दर्शन दोनों दृष्टियोंसे अद्वितीय है। इसीलिये विश्वभरमें उनकी गीताका जितना आदर हुआ है उतना किसी ग्रन्थका नहीं हुआ क्योंकि उसके एक-एक अध्यायमें, एक-एक श्लोकमें, एक-एक पद और अक्षर-अक्षरमें दिव्य अमृत भरा हुआ है। गीता पढ़नेका यह माहात्म्य बताया गया है—

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादि-वर्जितः॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायाम-परस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्म-कृतानि च॥
मल-निर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीतांभसि स्नानं संसारमल-नाशनम्॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

[जो मनुष्य इस पवित्र गीता-शास्त्रको शुद्ध और पवित्र होकर पढ़ता है वह भय और शोकसे रहित होकर विष्णुलोक प्राप्त करता है। गीताका अध्ययन करनेवाला और प्राणायाम करनेवाला मनुष्य पूर्व जन्ममें किए हुए पापोंका फल नहीं भोगता। जो मनुष्य प्रतिदिन

जलमें स्नान करता है उसका तो बाहरी मल ही धुलता है किन्तु जो मनुष्य गीतारूपी जलमें एक बार भी स्नान कर लेता है उसके सब सांसारिक मल नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये सब शास्त्रोंको छोड़कर गीताका ही भली-भाँति पाठ करना चाहिए क्योंकि वह स्वयं भगवान् के मुखसे निकली है। यह गीता महाभारत-रूपी अमृतका सार है जो विष्णु भगवान्के मुँहसे निकली है इसीलिये इस गीतारूपी गंगाजलको पी लेनेपर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।]

जिस प्रकार अन्धकारमें दीपक हमें प्रकाश भी देता है, हमें ठीक मार्ग भी बताता है और आगे मार्गमें यदि कोई संकट हो तो उससे भी सावधान करता है, उसी प्रकार गीता भी हमें ज्ञान देती है, कर्तव्य और अकर्तव्यका बोध कराती है और इस प्रकार नैतिक विपत्तियोंसे हमारा उद्धार कराती है। हमारी विपत्तियाँ चाहे सांसारिक हों या आध्यात्मिक, उन सबके सम्बन्धमें गीता हमें ठीक मार्ग दिखाती है। बड़े-बड़े आचार्योंने गीताके अध्ययन-पठनका महत्त्व बताते हुए कहा है—

योऽष्टादश जपेन्नित्यं नरो निश्चल-मानसः।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम्॥
पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णं ततोऽर्द्धं पाठमाचरेत्।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः॥
एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्ति-संयुतः।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम्॥
अध्यायं श्लोक-पादं वा नित्यं यः पठते नरः।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरवसुन्धरे॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पंच चतुष्टयम्।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः॥
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम्।
गीतापाठ-समायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्॥

[जो मनुष्य एकचित्त होकर नित्य अठारह अध्यायका पाठ करता है वह ज्ञान-सिद्धि प्राप्त करता है और उसे परम पद भी मिल जाता है। जो पूरा पाठ न करके आधा ही करे उसे निःसन्देह गोदानका पुण्य मिलता है और जो नित्य भक्तिके साथ एक अध्याय भी पढ़ता है वह चिरकाल तक गण होकर रुद्रलोकमें निवास करता है। जो मनुष्य एक अध्याय या गीताके श्लोकका एक टुकड़ा भी पढ़ता है वह पृथ्वीपर मन्वंतर-पर्यन्त मनुष्य-शरीर धारण करता है। गीताके दस, सात, पाँच, चार, तीन, दो, एक या आधा श्लोक ही जो पढ़ता है वह निश्चय ही दस सहस्र वर्षतक चन्द्रलोकमें निवास करता है।]

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिसकी जितनी श्रद्धा हो और जिसके पास जितना अवकाश हो उतना उसे पाठ करना चाहिए।

यह गीता उस रणक्षेत्रमें कही गई जहाँ एक ओर ग्यारह अक्षौहिणी सेना खड़ी थी और दूसरी ओर सात अक्षौहिणी। उस युद्धके पहले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर दुर्योधनके पास पाँचों पाण्डवोंके लिये पाँच गाँव माँगने गए किन्तु दुर्योधनने स्पष्ट कह दिया कि 'बिना युद्ध किए मैं सुईकी नोकके बराबर भी पृथ्वी नहीं दूँगा।'

यह सन्देश कृष्णजीने अपनी बुआ कुन्तीको जा सुनाया। इसपर उन्होंने उत्तर दिया कि जाकर पांडवोंसे कह दीजिए कि जिस दिनके लिये क्षत्राणी अपने पुत्रको जन्म देती है वह दिन आ गया है। [यदर्थं क्षत्रिया सूते स कालोऽयमुपागतः।] और साथ-साथ कुन्तीने विदुलाकी कथा भी सुना दी। यह सन्देश लेकर कृष्णजी पांडवोंके पास गए और युद्धकी तैयारी हो गई। जब दोनों सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हो गईं और दोनों ओरसे गंभीर शंखनाद भी हुआ तब अर्जुनने अपने सामने अपने संबंधियों और गुरुजनोंको देखकर अपने शस्त्र डाल दिए। अर्जुनकी यह दुर्बलता देखकर भगवान्‌ने उसे डाँटते हुए कहा।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।
क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥

[यह कैसे कुअवसरपर तेरे मनमें दुर्बलता आ गई है ? तेरा यह कार्य अनार्योंके योग्य नरकमें ले जानेवाला और अपयश दिलानेवाला है । हे अर्जुन ! नपुंसकता छोड़कर और अपने हृदयकी यह क्षुद्र दुर्बलता छोड़कर युद्धके लिये तैयार हो जा ।]

इसके पश्चात् अर्जुन अपनी सब शंकाएँ करता गया और कृष्ण उनका समाधान करते गए । अन्तमें भगवान्का विराट् रूप देखकर जब अर्जुनको विश्वास हो गया और उसकी शंकाएँ निवृत्त हो गईं तब वह बोला—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

[हे अच्युत ! मेरा मोह नष्ट हो गया और आपकी कृपासे मुझे सारी स्मृति प्राप्त हो गई । अब मेरे मनमें कोई सन्देह नहीं रह गया ! अब जो आप कहेंगे वही मैं करूंगा ।]

आप लोगोंको स्मरण रखना चाहिए कि इस गीताको सुननेवाला वह अर्जुन था जिसके समान कृष्णको छोड़कर दूसरा वीर न था और जिसके सम्बन्धमें चित्ररथ गन्धर्वने भी कहा था—'अर्जुन ! केवल ब्रह्मचर्यके कारण ही तुमने मुझे हराया है !'

जिस समय कृष्णजी दूत बनकर दुर्योधनके पास जा रहे थे उस समय आँखोंमें आँसू भरकर द्रौपदीने कृष्णसे कहा था—'भइया ! जा तो रहे हो पर यह स्मरण रखना कि एक स्त्री थी जिसे बहुत-से दुष्ट बाल खींचकर सभामें लाए थे । तुम उन्हींसे संधि करने जा रहे हो । पर उस सन्धिमें मेरे इन खुले हुए बालोंको न भूलना ।' उस समय कृष्णने कहा था—'हे द्रौपदी ! चाहे हिमालय

पर्वत चलने लगे, पृथ्वी सौ टूक हो जाय, आकाश भी नक्षत्रोंके साथ गिर पड़े, किन्तु मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता। मैं तुझसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे पतिके सब शत्रु मारे जायँगे और तेरे पति श्रीयुक्त हो जायँगे ? तू आँसू न बहा।' ऐसे सत्यप्रतिज्ञ भगवान्‌के मुखसे ही इस गीताका प्रादुर्भाव हुआ। इसीलिये इसका इतना महत्त्व है। क्योंकि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीताऽमृतं महत्॥

[सब उपनिषद् ही गौएँ हैं। पार्थ ही प्रश्न पूछ-पूछकर पेन्हानेवाले बछड़े हैं, बुद्धिमान् लोग ही दूध पीनेवाले भक्त हैं और गीता ही अमृतमय दूध है।]

अतः गीताका तत्त्वज्ञान साक्षात् अमृत है और 'सुधी' लोगोंके लिये है क्योंकि शास्त्रके अध्ययनके जो अधिकारी पुरुष रहते हैं, उन्हींको शास्त्रसे लाभ होता है। शास्त्र-विद्याके अधिकारी कौन हैं, इस विषयमें एक श्लोक है :—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय, मह्यं मा वीर्यवती यथा स्याम्॥

[विद्याने ब्राह्मणके पास जाकर कहा कि मुझे तुम सँभालकर रक्खो और किसी द्वेषी, टेढ़े और खोटे व्यक्तिको न दे देना। ऐसा होनेपर ही मैं पुष्ट हो सकूँगी।]

इसलिये गीता शास्त्रके अध्ययनका अधिकारी वही हो सकता है जो अपने मनसे असूया या द्वेष उठा दे और सरल भावसे, प्रेमसे, श्रद्धासे गीताके सिद्धान्तका परिशीलन करे। साथ ही साथ उसे यत या संयमशील भी होना चाहिए क्योंकि अध्यात्मशास्त्रके केवल वे ही अधिकारी हो सकते हैं जिनके मनमें आस्तिक्य भावना हो और जो कुछ अंशोंमें शम-दम आदि साधन-संपद् प्राप्त कर चुके हों। अध्यात्म-

शास्त्र कोई गणित या विज्ञानके समान केवल बुद्धिग्राह्य विषय नहीं है। गीता-शास्त्रमें बहुत स्थानोंपर लिखा है—'ज्ञात्वा मां शान्ति-मृच्छति'। इसका यह अर्थ नहीं है कि परमेश्वरका बौद्धिक ज्ञान होनेसे ही मोक्ष प्राप्त हो जायगा।

'सर्वतः पाणिपादं च सर्वेन्द्रियगुणाभास' परमेश्वरको जाननेका अर्थ यह है कि परमेश्वर जिस प्रकार व्यवहार करता है उसी प्रकार हम भी व्यवहार करें। ऐसा होनेपर ही मोक्ष प्राप्त करना संभव होगा। इसलिये शास्त्रका अध्ययन प्रारम्भ करनेके समयसे ही संयमका अभ्यास करने लगना चाहिए। इसी बातको तो भगवान्‌ने कहा है कि—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

[जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं उसकी बुद्धि स्थिर है।]

जबतक परमेश्वरका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, तबतक संपूर्ण संयम प्राप्त नहीं होते तथापि प्रारम्भमें अल्प संयम करना सीखना बहुत कठिन नहीं है। इस संयमसे जो आध्यात्मिक उन्नति होगी और बढ़े हुए संयमसे फिर अधिक आध्यात्मिक प्रगति होगी उसीका आश्वासन श्रीकृष्ण भगवान्‌ने दिया है।

गीताके अध्ययनके लिये ऐतिहासिक दृष्टि भी नितान्त अपेक्षित है। आध्यात्मिक विषय इतना दुर्गम है कि प्रत्येक उपदेशकको दृष्टान्त या उदाहरण देकर अपना अभिप्राय व्यक्त करना आवश्यक होता है। ऐसी अवस्थामें जो दृष्टान्त दिए जाते हैं, वे उसके सम्बन्धमें ही दिए जा सकते हैं जिसपर लोगोंका विश्वास हो। अतः ऐतिहासिक दृष्टिका अवलम्बन करके उदाहरण छोड़कर मूल दृष्टान्तपर ही दृष्टि रखनी चाहिए। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि जब परमेश्वरने सृष्टि उत्पन्न की तब यज्ञको भी उत्पन्न किया और मनुष्योंको बताया कि इससे देवोंका आराधन करो

तो ये यज्ञ-हविके बदलेमें आप लोगोंके लिये पर्जन्य (बादल) भेज देंगे। यज्ञ-हवि और पर्जन्य (वर्षा), इन दोनोंका जो अन्योन्याश्रय संबंध दिखाया गया है, उसमें गीताकालीन लोग श्रद्धा रखते थे। जिन सज्जनोंको यह ज्ञात है कि पर्जन्य (वर्षा) किस भौतिक कारणसे होता है, वे पूछ सकते हैं कि यदि गीता साक्षात् भगवान्का उपदेश है, तब इसमें पर्जन्य (वर्षा) के विषयमें ऐसा पूर्णतः निराधार और अवैज्ञानिक वचन क्यों कहा गया है। अबिसीनियामें कभी किसीने वैदिक यज्ञ नहीं किया, फिर भी वहाँ बहुत पर्जन्य (वर्षा) होता है। यहाँ भारतमें अवर्षणके समयमें यज्ञ करनेसे भी बहुत बार पर्जन्य नहीं आते हैं। पर्जन्यका कारण मानसूनी हवाएँ हैं, उनका और यज्ञका कुछ भी कार्यकारण-भावात्मक सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु जिसकी दृष्टि ऐतिहासिक हो वह इस आक्षेपका तुरन्त खण्डन कर देगा। तीसरे अध्यायमें ८ से ७८ श्लोकोंमें भगवान्के कहनेका तात्पर्य यही है कि—

भुञ्जते ते त्वघं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्।

परमेश्वरने मनुष्यमात्रको अद्भुत शक्तियाँ और अनेक प्रकारके द्रव्य देकर अनुगृहीत किया है। इसलिये यह आवश्यक है कि वह परमेश्वरको कुछ भक्तिभाव अर्पण करे। इसी अर्पण-कर्मको यज्ञ बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्णका कहना यही है कि जो मनुष्य अपनी संपत्तिका उपभोग केवल स्वतःके लिये करे, वह अत्यन्त पापी है। पदार्थके उपयोगके लिये यज्ञ करना बतलाया गया है क्योंकि उस समय लोग वैदिक यागमें विश्वास करते थे। आजकल पदार्थका क्या करना चाहिए, इस विषयमें दूसरे काम बताए जा सकते हैं। श्रीमानोंको चाहिए कि वे दीन, दुर्बल, अन्ध, पंगु इत्यादिको सहायता दें, सार्वजनिक और लोकोपयोगी कार्योंको आर्थिक बल दें। ऐसा न करें कि केवल अपने उपभोगमें ही धन लगावें। यदि उन्होंने ऐसा

किया तो वे भयानक दुराचारके दोषी होंगे। आजकलके समाजवादी लोग भी तो यही कहते हैं और यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका भी भावार्थ यही था। अतः ऐतिहासिक दृष्टिका अवलम्बन करके हमें भी दृष्टान्त छोड़कर तत्त्वका अन्वेषण करना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीताके उपदेशको अमृत बतलाया गया है—दुग्धं गीतामृतं महत्। यह भी यथार्थ है। बड़े आत्मविश्वाससे गीता कहती है कि जो सज्जन निर्दिष्ट मार्गसे आध्यात्मिक उन्नतिका प्रयत्न करें, उन्हें इसी जन्ममें यह मर्त्य शरीर धारण करते हुए ही मोक्ष प्राप्त हो जायगा और अमर जीवन मिलेगा—

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

गीताका यह कहना नहीं है कि मृत्युके पश्चात् मोक्ष प्राप्त होगा। उसका कहना तो यह है कि इसी जन्ममें मोक्ष मिल सकता है। जीवन्मुक्तिमें गीताका पूर्ण विश्वास है—

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।'
'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।'

—आदि श्लोकोंमें गीताने जीवन्मुक्तका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है जिसे पढ़नेसे ज्ञात हो जायगा कि मनुष्यका आध्यात्मिक ध्येय क्या होना चाहिए।

गीताका दूसरा सिद्धान्त यह है कि जब मनुष्य स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त होता है, तब वह परमेश्वर-रूप ही हो जाता है। गीता-कालीन कुछ तत्त्ववेत्ता इस सिद्धान्तके विरुद्ध थे। उनका कहना था कि आत्माको परमात्माके समान मानना बड़ी धृष्टता है। यह एक आध्यात्मिक रोग है और बड़े अहंकारका फल है। कहाँ सर्वशक्तिमान् शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप परमात्मा और कहाँ अत्यल्प शक्तिमान् अशुद्ध,

अज्ञ और बद्ध जीवात्मा। उसको परमात्माके समान मानना सर्वथा असंगत है।

जीव और ईश्वरकी एकताके मतका विरोध जो इस समय और पीछे भी किया जाता था उसका कारण यह था कि उससे बहुत अनाचार उत्पन्न हो गए थे। प्रत्येक संन्यासी कहने लगा कि मैं परमेश्वर हूँ, मेरे सब कृत्य परमेश्वरके समान विधि-निषेधसे परे हैं। मैं जो कुछ बतलाऊँ वही धर्म है। बौद्धोंका भी आक्षेप ऐसा ही था।

अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त भली प्रकार ज्ञात न होनेसे ही उपरिनिर्दिष्ट आक्षेप हुए हैं। गीता कहती है कि नर भी नारायण हो सकता है, किन्तु प्रत्येग वैरागीका अपनेको परमेश्वर बतलाना केवल मूर्खोंके समाजमें ही शक्य होगा। परमेश्वर-प्राप्ति होना बड़े सौभाग्यकी बात है। कई जन्मोंतक महाप्रयत्न करनेसे ही यह शक्य होगा—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' किन्तु परमेश्वर अपने अन्तःकरणमें ही है। इसका प्रमाण यह है कि प्रत्येक कुकर्म करनेके समय प्रत्येक व्यक्तिको उसके हृदयमें अधिष्ठित अन्तःशक्ति कहती है कि यह मत करो, यह पाप है। इससे तुम्हारा नाश या अधःपात होगा। जैसे धूलसे भरे हुए दर्पणमें प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता, वैसे ही कामक्रोधादि विकारोंसे मलिन हुए हृदयमें परमेश्वर-तत्त्वका प्रकाश नहीं प्रतीत होता। जब मनको वशमें करके काम-क्रोधादिक हटा दिए जायँगे, तभी परमेश्वरका स्वरूप फिर प्रकाशमान होने लगेगा, और 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' की सत्यता प्रतीत होने लगेगी। गीता कहती है कि मैं परमेश्वरका अंश हूँ यह मानने या बतानेसे किसीको मोक्ष नहीं मिलता। ऐसा हो तो संसारमें सभी मुक्त हो जायँ। हृदयस्थित परमेश्वरका ज्ञान होना बड़े प्रयाससे ही शक्य होता है। ये प्रयास इतने हैं और यह कार्य इतना दुःसाध्य है कि अर्जुनको इसका फल मिलना असम्भव-सा ही प्रतीत हुआ। इसीसे वे प्रश्नपर प्रश्न करते गए।

परमेश्वर सबके हृदयमें सर्वदा वास करता है और सब लोग परमेश्वर-स्वरूप हैं या उनके समान स्वरूपवाले अंश हैं यह गीताका सिद्धान्त मानवोंके लिये अत्यन्त महत्त्वका और उपयोगी है। जब-जब लोगोंके मनमें कुवासनाएँ आया करती हैं और वे विवश होकर 'अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः' अकार्य करनेको प्रवृत्त होते हैं, तब-तब 'ईश्वर अपने हृदय-मन्दिरमें अखंड वास करता है' इस सिद्धान्तका स्मरण सब लोगोंको सदा करना ही चाहिए। परमेश्वरके अधिवाससे पवित्र हुए अन्तःकरणमें ऐसे दुर्विचारोंका आना कितना बड़ा पाप है, यह उससे लोगोंको तुरन्त ही ज्ञात हो जायगा और दुर्विचारोंको हटानेके लिये अधिक शक्ति उत्पन्न होगी।

इन्द्रियोंको वशमें रखकर जब मनुष्य काम-क्रोधादिसे विमुक्त होता है, तब वह परमेश्वर-स्वरूप बन जाता है, यह गीताका संदेश भी बड़ा उत्साहवर्धक है। गीता मनुष्य-मात्रको बताती है कि संसारमें अशक्य कुछ भी नहीं है। तुम भी परमेश्वर बन सकते हो, किन्तु प्रयत्न करो। उच्च और स्फूर्तिदायक ध्येय रहनेसे मनुष्यमें बड़ा उत्साह उत्पन्न होता है। इस उत्साहके कारण अशक्य कार्य भी उसके लिये प्रायः साध्य हो जाता है। गीताके उपदेशसे ब्रह्मचारियोंको यह ज्ञात हो जाय तो वे जो कुछ चाहें, कर सकते हैं। सच्छील, सदाचारी, आध्यात्मिक ठीक प्रकारसे कर्तव्य करनेवाले ब्रह्मचारियोंको हृदयस्थित परमेश्वर अवश्य सहायता देगा।

परमेश्वरको प्राप्तिके लिये भगवान् कृष्णने उपदेश दिया है कि चाहे आप ज्ञान-मार्गका अवलम्बन करें, चाहे कर्म-मार्गका, चाहे भक्ति-मार्गका, सबसे पहले आपको एकाग्र मन करना सीखना आवश्यक है और यह संभव है केवल आध्यात्मिक चिन्तनकी प्रक्रियाके अभ्याससे।

मनुष्यमात्रका मन प्रायः बहिःप्रवण होता है, इसे खींचकर अन्तःप्रवण बनाना चाहिए। इसलिये मनको एकाग्र करना अत्यन्त आव-

श्यक है। इस एकाग्रतासे संसारमें भी बहुत लाभ होता है। पढ़नेके समय लोग कुछ पढ़ते तो रहते हैं, किन्तु मनको सदा इधर-उधर घूमनेका ऐसा बुरा अभ्यास डाले रखते हैं कि पढ़नेमें चित्त नहीं लगता और क्या पढ़ा, इसमें क्या था, यह ठीक प्रकार कहा नहीं जा सकता। इससे अभ्यासका ठीक फल नहीं मिल पाता। ऐसे ही अन्य सब व्यवसायोंमें भी मनकी एकाग्रतासे ही पूरा फल मिल सकता है।

मन एकाग्र करना बड़ी कठिन बात है। अर्जुन इस बातको भली प्रकार जानता था। परन्तु गीता कहती है कि प्रयत्न करते चलो, सफलता मिले या न मिले। भगवान्‌ने सबसे पहले प्रत्येक मुमुक्षुको जो करनेको कहा है उसीकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वे कहते हैं—प्रयत्न करो, धीरे-धीरे तुम्हें यश मिलेगा। मनकी एकाग्रता साध्य करनेके लिये गीताने प्रत्येक व्यक्तिके लिये योगके अभ्यासकी व्यवस्था की है। प्रातः स्नान करके, पवित्र स्थानमें बैठकर, मनको बाह्य विषयोंसे खींचकर परमेश्वरके स्वरूपमें तल्लीन कर देना ही गीताका प्राथमिक उपदेश है। इसके बिना कुछ भी आध्यात्मिक प्रगति नहीं होगी। जितनी देरतक परमेश्वरका एकाग्र भजन, स्मरण या पूजन होगा उतने ही शीघ्र परमेश्वरकी प्राप्ति होगी, आत्माको शान्ति मिलेगी, सांसारिक सुख भी मिलेगा और मनुष्य जीवन्मुक्त हो जायगा।

मुक्तिका स्वरूप क्या है यह प्रश्न शाश्वत है। आजसे सैकड़ों वर्ष पहले जब यह प्रश्न किसी ऋषिसे पूछा गया तब उन्होंने समझाते हुए यही कहा था कि 'भाई! मोक्षका न कोई घर है न गाँव है। जिस दिन भी हृदयमें लगी हुई अज्ञानकी गाँठ खुल जाय उसी दिन मोक्षको अपनी मुट्ठीमें आया हुआ समझो।' इसी बातको समझाते हुए उन्होंने कहा था कि तुमने पिछले जन्ममें कोई बड़ा भारी पुण्य किया था कि तुम्हें यह

शरीर-रूपी नाव मिली है। इस नावके टूटनेसे पहले ही दुःखका समुद्र पार करके मुक्त हो जाओ। जैसे अपने देखे हुए स्वप्नका दुःख बिना जागे दूर नहीं होता वैसे ही ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानके बिना मुक्ति भी नहीं होती। इस मुक्तिके लिये कोई बहुत बड़ी साधना न करके थोड़ा मनको साधनेकी आवश्यकता है और वह तभी सध सकता है जब हम दो बातें अपने मनमें निश्चय कर लें—एक तो यह कि सब बातोंका कर्त्ता-धर्त्ता कोई परम शक्तिवाला ईश्वर है जिसके हाथकी हम कठ-पुतली हैं। वह जैसा हमें नचाता है वैसा ही नाच हमें नाचना पड़ता है। ऐसा विश्वास करनेसे मनुष्यका यह अहंकार दूर हो जाता है कि मैं भी कुछ हूँ। अभिमान दूर होते ही अविद्या भी दूर होने लगती है। दूसरी बात है विराग, अर्थात् संसारकी किसी वस्तुमें किसी प्रकारका मोह न रखना। विराग हो जानेसे मनुष्यके मोहकी ग्रन्थि खुल जाती है और उसकी त्यागकी भावना जाग उठती है। त्यागकी भावना जाग उठने से उसे बड़ी-से-बड़ी साधना करनेमें भी कोई अड़-चन नहीं होती। जब थोड़ी-सी वस्तुओंमें बँधे हुए मोहसे मन हट जाता है तब सारा संसार ही उसे अपना सगा जान पड़ने लगता है और वह सबको अपने जैसा जानकर, 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' मानकर, सब प्राणियोंका हित करनेमें लग जाता है। यही जीवन्मुक्तिकी सबसे पहली पहचान है।

ज्ञानका अर्थ यह नहीं है कि वेद, शास्त्र, पुराण घोट लिए जायँ। मनकी वृत्तिको इस प्रकार साधनेको ही ज्ञान कहते हैं जिसमें मनुष्य अविद्याको छोड़कर विद्या ग्रहण कर ले। 'मैं देह हूँ' यह समझना ही अविद्या है और 'मैं देह नहीं, आत्मा हूँ' यह समझना विद्या है। इनमेंसे अविद्या तो इस जन्म-मरणका कारण है और विद्या ही उस जन्म-मरणके बन्धनको तोड़ डालनेवाली शक्ति है। अतः, मोक्षकी इच्छा करनेवालेको सदा विद्याका ही अभ्यास करना चाहिए, अविद्या-का नहीं। यही बात अध्यात्म-रामायणमें विस्तारसे समझाई गई है —

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्त्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्त्तिका।
तस्माद्यत्नस्सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः॥

इस प्रकारकी बुद्धि बनानेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य घर-बार छोड़कर संन्यासी होकर निकल जाय या जटा बढ़ाकर, भभूत रमाकर पंचाग्नि तापने लगे। राजर्षि जनक अपना संपूर्ण राजकार्य करते हुए भी सबसे अलिप्त रहते थे। उनकी यही निर्लिप्तता ही वास्तविक आनन्दकी भावना या जीवन्मुक्तिका मूल स्रोत है।

जीवन्मुक्तिको बहुत लोगोंने हठयोगकी क्रियाओंके समान कठिन साधनासे प्राप्त होनेवाला मार्ग बताया है और इसी डरसे अधिकांश लोग हाथ-पैर समेटकर पड़ रहते हैं कि यह हमारे सामर्थ्यसे बाहरकी, शक्तिसे परेकी बात है। किन्तु ऐसी बात है नहीं। संभवतः सब प्रकारकी साधनाओंमें सबसे सरल साधना भक्ति है क्योंकि इसके लिये न जपकी आवश्यकता है न तपकी, न योगकी न अन्य किसी प्रकारकी साधना की। बस, केवल अपनी मानसिक वृत्तिको साधकर अपने इष्टको आत्मसमर्पण करना ही इसके लिये पर्याप्त है।

इस मानसिक वृत्तिको साधनेके लिये पहले अपने शरीरकी आवश्यकताओंमें कमी करनी चाहिए और वह भी इस भावके साथ करनी चाहिए कि लोग चाहे कुछ भी कहा करें, हमें उसकी चिन्ता नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आप अपना रहन-सहन या खानपान अनावश्यक रूपसे अभद्र बना लें। आपमें केवल यही निश्चिन्तता होनी चाहिए कि अमुक वस्तु नहीं है या अमुक वस्त्र नहीं है तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। जो है उसीमें मस्त रहना चाहिए। आपमें यह उदारता आ जानी चाहिए कि दूसरेको खिलाकर आप खाएँ, दूसरेको पहनाकर पहनें, अर्थात् आपको सब प्राणियोंका हित करनेमें लग जाना चाहिए। यही वृत्ति जीवन्मुक्तिकी विशिष्ट पहचान होती है।

यह अभ्यास न तो असंभव है न कठिन। अपनी गृहस्थी चलाते हुए, अपना व्यवसाय करते हुए, अपने कुटुम्बका पालन करते हुए, अपने सामाजिक सम्बन्धोंका निर्वाह करते हुए भी मनुष्य चाहे तो अपने मनको मोड़कर इस प्रकार साध सकता है कि उसे किसी वस्तुके खोनेका दुःख न हो, कुछ मिल जानेसे हर्ष न हो। जहाँ इतना मन सधा कि मनुष्य जीवन्मुक्त होने लगता है। ज्यों-ज्यों उसका राग और मोह कम होता चलता है त्यों-त्यों वह जीवन्मुक्त होने लगता है और जब पूर्ण रूपसे उसका मन विश्वसे निर्लिप्त हो जाता है तभी वह जीवन्मुक्त हो जाता है और यह जीवन्मुक्ति भक्तिके मार्गमें अत्यन्त सरलताके साथ अनुभूत होने लगती है और यही वास्तवमें योग है।

———

योगः कर्मसु कौशलम्

आज साधारणतया 'योग' शब्दसे लोग नेति, धौति, आसन आदि विशिष्ट क्रियाएँ अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधिसे युक्त अष्टांग योग समझते हैं, जिनका प्रयोग साधक लोग परमात्मज्ञानके लिये किया करते हैं। पर गीतामें योगका यह तात्पर्य नहीं है। गीतामें योगका अर्थ 'युक्ति' भी माना गया है। किसी कार्यको सम्पन्न करनेकी युक्ति या उसका कौशल ही योग है। योगका यह अर्थ गीतामें क्यों मान्य किया गया यह भी स्पष्ट है।

गीताका प्रादुर्भाव लोक-मंगलकी दृष्टिसे हुआ। लोक-भावना और व्यक्तिगत विकासमें बहुत अन्तर है। लोक-भावना लेकर चलनेवाले लोकसंग्रही व्यक्तियोंके लिये तो 'कर्म' की ही सबसे अधिक आवश्यकता है, पर जो व्यक्ति लोकसे परे होना चाहता है, विरक्त होना चाहता है, वह अपने कर्मका विस्तार कम करता चलता है। यों तो संसारमें बिना कर्म किए कोई रह ही नहीं सकता पर लौकिक जीवन व्यतीत करनेवालेके कर्मोंका क्षेत्र विस्तृत होता है और विरक्त लोगोंके कर्मोंका क्षेत्र बहुत सीमा-बद्ध। सांसारिक जीवनमें कर्मकी प्रधानता होती है और कर्म किए बिना मनुष्यका कार्य एक क्षणके लिये भी नहीं चल सकता। यहाँ भी कर्मका अर्थ मीमांसा-शास्त्रवाला केवल यज्ञ आदि कर्म ही नहीं है। कर्मके अन्तर्गत तो मनुष्यके दैनिक कृत्य खाना-पीना, सोना, उठना, बोलना-चालना आदि सब आ जाते हैं। लौकिक दृष्टिसे गीता इन दोनों शब्दोंका यही व्यापक अर्थ लेती है।

पर मनुष्यके कर्मोंके और भी अनेक विभाग हो सकते हैं। कुछ तो मनुष्यके व्यक्तिगत कर्म होते हैं जो उसके व्यक्तिगत जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं और कुछ कर्म उसके सामाजिक या सांसारिक जीवनके अंग होते हैं। मनुष्यका सामाजिक जीवन ही लोककी मर्यादाको बाँधता है। इसलिये गीतामें मनुष्यके उस लौकिक जीवनकी भी व्याख्या कर दी गई है जिसे वर्णाश्रमधर्म कहा गया है। लोककी मर्यादाके अनुकूल जबतक कर्मोंका चक्र रहेगा तबतक संघर्ष दबा रहेगा। इसी संघर्षको बचानेके लिये गुण (सत्त्व, रज, तम) तथा (प्राक्तन) कर्मके अनुसार सृष्टिका विभाजन कर दिया गया—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

गुण और कर्मके आधारपर वर्णभेदकी सृष्टिका तात्पर्य ही यह है कि गीतामें लौकिक या सामाजिक जीवनपर सबसे पहले दृष्टि रक्खी गई है, वैयक्तिक जीवनपर पीछे।

पर केवल 'कर्मका कौशल दिखलाओ' कह देनेसे ही तो काम चल नहीं सकता। इसलिये आगे चलकर गीतामें फिर 'योग' शब्दकी व्याख्या करनी पड़ी और भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'समत्वं योग उच्यते' [समत्वको ही योग कहते हैं]। संसारमें जो हम अनेक प्रकारके कर्म करते हैं उनमेंसे कुछके करनेसे हमें सफलता प्राप्त होती है और कुछ कर्मोंके करनेमें हम असफल रह जाते हैं। सफलतापर हमें हर्ष होता है और असफलतापर हमें ग्लानि होती है, शोक होता है। इसके सम्बन्धमें गीताका आदेश यही है कि 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'—सफलता-असफलतामें एक समान रहना चाहिए। जब हम सफल हों तो हर्षातिरेकसे फूलकर कुप्पे न हो जायँ और असफल हों तो कर्म ही छोड़कर न बैठ रहें। आजकल पत्रोंमें अनेक नवयुवकोंके आत्मघातके समाचार निकला करते हैं। उसका कारण यही है कि वे अपने जीवनकी अथवा अपने कार्यकी असफलतासे इतने विक्षुब्ध हो जाते हैं कि अपनेको सँभाल न सकनेके कारण आत्महत्या कर बैठते

हैं। गीताके इस सिद्धान्तके प्रचारके अभावका ही यह परिणाम है। गीताका यह बहुमूल्य उपदेश प्रत्येक नवयुवक क्या प्रत्येक मनुष्यके लिये गाँठ बाँधने योग्य है। सांसारिक कर्मके दो ही फल हैं—सफलता और असफलता। यदि सफलता नहीं मिलती तो असफलता मिलेगी ही। प्रयत्न तो सफलताके लिये ही करना चाहिए पर असफलता मिलनेपर विक्षुब्ध नहीं हो जाना चाहिए। किसी भी कार्यमें जहाँ प्रतिद्वन्द्विता होगी वहाँ एक पक्षकी जीत होगी और दूसरे पक्षकी हार होगी। यदि लोग हारसे विक्षुब्ध हो जाया करें तो फिर संसार चलना ही कठिन हो जाय। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि लोग हारको ही उत्तम समझने लगें। विजयके लिये सतत प्रयत्न तो करना चाहिए, किन्तु हार या जीतमें चित्तवृत्ति एक-सी बनाए रखनी चाहिए क्योंकि साम्यावस्थामें विकार आनेसे ही संसारमें अनेक प्रकारके विप्लव और उपद्रव हुआ करते हैं।

यहाँपर तुरन्त यह प्रश्न उठ सकता है कि समत्वकी जो शिक्षा गीतामें दी गई है वह संसारमें चल कैसे सकती है? गीताका कहना है कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

परिणामपर मनुष्यका कोई अधिकार नहीं है। कर्मपर मनुष्यका अधिकार है. न तो उसे कर्ममें फलका कारण बनना चाहिए और न अकर्मण्य होकर बैठ रहना चाहिए। किसी कर्मकी युक्ति, उपाय और साधन सब मनुष्यके ही हाथमें हैं। अतः जो अपने वशकी बात है उसीमें अपनी चतुराई दिखलानी चाहिए; जो अपने हाथमें नहीं है उसके लिये मन क्यों छोटा किया जाय!

समताका भाव मनुष्यमें किस प्रकार आवे इसपर भगवान्का उपदेश है कि 'मनुष्यको कर्मके फलकी ओरसे उदासीन हो जाना

चाहिए, अर्थात् उसे निष्काम कर्म करना चाहिए।' यदि लोग अपना कर्म करते समय फलकी भावना छोड़ दें, निष्काम भावसे कर्म करने लगें तो फिर सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष और विक्षोभका प्रश्न ही नहीं उठ सकता क्योंकि हर्ष और विषाद तो ऐसी ही परिस्थितिमें होंगे जब हम कर्मके फलपर आँख गड़ाए रहेंगे। यदि हम कर्मको कर्म समझकर करें, तो फिर हानि-लाभका प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है

गीताका यह निष्काम कर्मयोग संसारके लिये ऐसा दिव्य संदेश है जो आज अकेला संसारमें शान्ति और सुखकी स्थापना कर सकता है। गीता केवल भारतीयोंकी ही सम्पत्ति नहीं, वह संसारकी विभूति है। संसारके किसी भी धर्मके व्यक्तिके लिये गीताके इन दिव्य उपदेशोंका मनन और चिन्तन आवश्यक है। कुछ लोग कह दिया करते हैं कि फल-त्याग और समत्वकी बातें केवल सिद्धान्तकी बातें हैं, उनका लौकिक जीवनमें कोई उपयोग नहीं है। पर ऐसे लोगोंको स्मरण रखना चाहिए कि गीताके उपदेश लोकको ही दृष्टिमें रखकर दिए गए हैं, केवल व्यक्तिको दृष्टिमें रखकर नहीं। जिन लोगोंको इसकी व्यावहारिकतामें संदेह हो रहा है वे केवल संसारकी भौतिक विभूतियोंपर ही दृष्टि रखते हैं, इस सिद्धान्तको व्यवहारमें लानेका उद्योग नहीं करते। आरम्भसे ही लोगोंको इसकी शिक्षा दी जाय और इसका प्रचार हो तो हमारा दृढ विश्वास है कि यह पूर्ण व्यावहारिक सिद्ध होगा, संसारका इससे बहुत बड़ा कल्याण होगा और लोग हार-जीतके कुटिल दाव-पेंचसे हटकर उस कर्मके कौशलमें (कर्मसु कौशलम्) में प्रवृत्त होंगे—जो संसारके समस्त सुखका एकमात्र आधार है।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय !

प्रत्येक प्राणी पहले अपने लिए सुख चाहता है। भोजन और वस्त्र उसके सुखकी मूल सामग्रियाँ हैं। इसके पश्चात् वह अपने रहनेका स्थान ऐसा चाहता है जो स्वयं उसीका हो और जिसपर कोई भी अन्य प्राणी अधिकार न जता सके, वह वासस्थान चाहे गुफा, झाड़ी, बिल, झोपड़ी अथवा राजभवन कुछ भी क्यों न हो। यही आसक्ति ही मोहकी जननी है। 'यह मेरा है' की भावना जब उदय हो जाती है तभी दुःख प्रारंभ हो जाता है क्योंकि उस 'मेरी' वस्तुकी रक्षाके लिए प्राणी इतना सचेष्ट हो जाता है कि वह इस प्रयासमें अनेक उपायों और साधनोंका आश्रय लेता है, दूसरोंसे वैर ठानता है, लड़ाई-झगड़ा मोल लेता है। अतः, लड़ाई-झगड़ेकी जड़ भी हमारी आसक्ति ही है। फिर उस 'मेरी' वस्तुके खो जानेपर या विकृत हो जानेपर जो मनुष्यको दुःख होता है उसका कारण भी आसक्ति ही है। जब एक राजा दूसरे राजासे युद्ध करता है तब वह यह समझकर लड़ता है कि दूसरे राजाने 'मेरे' राज्यपर चढ़ाई की है। अपनी प्रजाके दुःख और कष्टकी अनुभूति न करके वह 'अपने' स्वार्थ, 'अपने' मान-अपमानका ध्यान करता है। यह स्वार्थ भी आसक्तिका ही फल है।

अतः यदि किसी भी प्रकार हम इस आसक्तिपर विजय प्राप्त कर लें तो सांसारिक द्वेष, कलह तथा मानसिक व्यथा आदिसे हम तत्काल मुक्त हो जायँ। किन्तु केवल संसारका त्याग करनेसे ही आसक्तिका त्याग नहीं होता। संन्यासी या साधु बन जानेपर भी चिमटा सोटा और दंड-कमंडलुमें भी आसक्ति हो जाती है। ऐसे लोग अपना आश्रम और वेश बदल लेनेपर भी लघुचेता ही रह जाते हैं—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

[यह मेरा है और यह पराया है, ऐसा विचार तो क्षुद्र मनुष्योंका होता है । जो उदार (अनासक्त) पुरुष होते हैं उनके लिये तो सारा संसार ही उनका कुटुम्बी है ।]

हम आजकल उसे ही उदार कह देते हैं जो दीनों, अनाथों और संस्थाओंको सहायता दे । किन्तु ऐसा करनेवालोंकी उदारता एकांगी होती है, परिमित होती है । उनका हृदय कोमल होनेके कारण दूसरों-के दुःखसे दुखी हो जाता है और उनका उदार हाथ सहायताके लिये आगे बढ़ जाता है । किन्तु जिसके पास धन न हो वह अपनी उदारताका परिचय कैसे दे ? यदि दान ही उदारताका एक मात्र लक्षण हो तो अगणित नर-नारी उदार कहलानेसे वंचित रह जायँ । अतः, केवल द्रव्य-दान ही उदारता नहीं है ।

उदारता वास्तवमें हृदयकी होती है । उदारचेता मनुष्य अपने सुख-दुःखकी चिन्ता न करके पराए आँसू पोछनेमें ही आनन्दका अनुभव करता है । वह केवल अपनी अंटीमें बँधे पैसोंसे ही सहायता नहीं करता वरन् अपने तन, मन, वाणी और कर्मको भी इस ओर प्रेरित करता है । किसी अबलापर अत्याचार होते देखकर वह दूरसे ही आँसू नहीं बहाता वरन् वह शत्रु-बलकी अवहेलना करके, जानपर खेलकर उस अबलाकी मुक्तिके लिये प्रयत्न करता है क्योंकि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्तके अनुसार वह जानता है कि वह नारी अपनी माता न होते हुए भी माता है, बहन न होते हुए भी बहन है, पुत्री न होते हुए भी पुत्री है क्योंकि उस व्यक्तिका हृदय अपने छोटेसे कुटुम्बतक ही परिमित नहीं है । वह विशाल है, इतना विशाल कि सम्पूर्ण सृष्टि उसमें समा सकती है । आप पूछ सकते हैं कि वह अत्याचार करनेवाला भी तो उसी विशाल कुटुम्बका सदस्य है । इसी प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् मनुने स्पष्ट कह दिया है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

[गुरु, बालक, वृद्ध, अथवा अत्यन्त विद्वान् ब्राह्मण भी यदि आततायी बनकर मारनेको आवे तो बिना विचार किए उनका वध कर डालना चाहिए ।] घरमें भी हम नित्य देखते हैं कि जब बड़ा भाई छोटे भाईको अन्यायपूर्वक मारता है तो माता-पिता उस बड़े भाईका अवश्य दंड देते हैं ।

अतः, हमारी उदारताका ध्येय यही होना चाहिए कि हम आसक्ति छोड़कर अपना कर्तव्य करते चलें, चाहे उस कर्तव्यके पालनमें हमें पिता, गुरु अथवा राजाका ही विरोध क्यों न करना पड़े । यह कोई साधारण साधना नहीं है । साधारण श्रेणीका मनुष्य इस परीक्षामें सफल नहीं हो सकता, क्योंकि संसारमें रहकर समाजमें पलकर, अपने आत्मीय स्वजनोंके विरुद्ध खड़े हो जाना कोई हँसी-खेल नहीं है, इसीलिये अपने सम्मुख, अपने गुरुजनोंको युद्धक्षेत्रमें देखकर अर्जुन-जैसा वीर भी व्याकुल हो गया । उसे कँप-कँपी छूटने लगी, गांडीव उसके हाथसे खिसकने लगा । यही अर्जुनका क्षुद्र हृदय-दौर्बल्य था जिसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उससे कह ही दिया—

क्षुद्रं हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप !

[हे परन्तप ! हे शत्रुओंको ताप देनेवाले अर्जुन ! अपने तुच्छ हृदय-दौर्बल्यको छोड़कर युद्धके लिये खड़े हो जाओ ।]

भगवान्‌के उस उपदेशने भारतीय जीवनमें ऐसा नवजीवन, स्फूर्ति और उल्लास भर दिया कि उसीकी प्रेरणासे अपनी आनपर मर-मिटने-वाले भारतीय वीरों और वीरांगनाओंने अपने प्राणकी कभी चिन्ता न की और भारतका इतिहास उनके उज्ज्वल चरित्रसे समृद्ध हो गया । शरणागत-वत्सलता तथा अन्याय और अत्याचारका प्रतिकार इसीलिये भारतीय जीवनका गौरव रहा कि उसने कर्त्तव्यको प्रधान समझा ।

किन्तु आज वह गौरव केवल इतिहासका विषय हो गया है। युद्धमें पीठ न दिखानेवाले, अपमान न सहनेवाले, प्रजाका पालन करनेवाले भारतीयोंके हृदयमेंसे वह आत्मगौरव, वह तेज, वह स्वाभिमान क्योंकर निकल गया यह आश्चर्यकी बात है।

भगवान् श्रीकृष्णका वह उपदेश केवल शत्रुसे युद्ध करनेके लिये ही नहीं था। उनका उपदेश तो शाश्वत है जो हमें अपने हृदयमें बैठे हुए शत्रुओंसे लड़नेके लिये भी उद्बोधन देता है। अनेक प्रकारके प्रलोभन, अनेक प्रकारकी वासनाएँ, लालसाएँ, द्वेष, मोह, मत्सर सब हमारे शत्रु ही तो हैं किन्तु हम ऐसे मोह और आसक्तिमें पड़ जाते हैं कि अपना कर्तव्य भी भूल जाते हैं। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा था कि अपने-पराएका भेद मिटाकर, स्वार्थ छोड़कर उठ खड़े हो—

'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः'।

[इसीलिये हे अर्जुन ! युद्ध करनेका निश्चय करके उठ खड़े हो।] किन्तु इसके लिये हरिकथा और ईश्वरमें विश्वास होना चाहिए जो भगवान्के अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है।

———

धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्

धार्मिक जीवन और व्यवहार केवल साधु-सन्तोंके लिये ही नहीं वरन् मानव-मात्रके लिये आवश्यक है। आज जब किसीसे धर्मकी बात कही जाती है तब वह अत्यन्त संकोचके साथ ऐसी मुख-मुद्रा बना लेता है मानो धर्मकी चर्चा मनुष्यके लिये अत्यन्त निरर्थक और व्यर्थ हो। हम आजकल पश्चिमी देशोंकी भौतिक संस्कृतिसे इतने अधिक प्रभावित हो गए हैं कि हमें भौतिक सुख-साधनोंकी प्राप्तिमें ही सबसे बड़ा आनन्द दिखाई पड़ता है। किन्तु वास्तवमें यही हमारा भयंकर अज्ञान है। इसी अज्ञानके कारण हममेंसे बहुतसे लोग वर्त्तमान जीवनके सब विलास-साधन पाकर भी तृप्त और तुष्ट नहीं हो पा रहे हैं, हमें सुख नहीं प्राप्त हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए बालूको चमकको जल (मृगतृष्णा) समझकर हरिण हर्ष और उल्लासके साथ उस ओर लपक जाता है किन्तु वहाँ पहुँचकर उसे केवल निराशा हाथ लगती है उसी प्रकार सांसारिक वैभवके चक्करमें पड़े हुए लोग उसकी चकाचौंधसे खिंचकर उधर दौड़ तो पड़ते हैं किन्तु वहाँ पहुँचनेपर उन्हें केवल दुःख ही हाथ लगता है। इसका कारण यही है कि उन्होंने जीवनका ठीक-ठीक अर्थ समझ नहीं पाया है। हमारे यहाँ कहा गया है—

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगिता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥

[विद्या, रूप, धन, शूरवीरता, कुलीनता, निरोगिता, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष ये सभी धर्मसे प्राप्त हो जाते हैं।] यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आजके लोग विद्या भी प्राप्त करना चाहते हैं, रूपवान् भी बनना चाहते हैं, स्वस्थ भी बनना चाहते हैं किन्तु चाहते हैं कि यह

सब बिना धर्मके हो हमें मिल जाय। इसलिये यह सब मिलते हुए भी उनके लिये व्यर्थ हो जाते हैं।

उपनिषदोंने स्पष्ट कह दिया है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदन्ति। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति।

[धर्म ही सारे जगत्‌की प्रतिष्ठा है, उसका आधार है। संसारमें लोग उसीके पास पहुँचते हैं जो धर्मशील हो क्योंकि धर्मसे सब पाप दूर हो जाते हैं। जो कुछ तत्त्व है वह सब धर्ममें ही है। इसलिये धर्मको सबसे बड़ा बतलाया गया है।]

श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धके ग्यारहवें अध्यायसे लेकर पन्द्रहवें अध्यायतकमें धर्मका बहुत सुन्दर विस्तृत विवरण दिया गया है जिसे पढ़नेके पश्चात् किसीको यह समझनेमें तनिक भी कठिनाई नहीं होगी कि सचमुच यदि संसारमें कोई ऐसी वस्तु है जिसके सहारे मनुष्य वास्तविक जीवन तथा जीवनका सब तत्त्व प्राप्त कर सकता है तो वह धर्म ही है। उसमें लिखा है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्म-विमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवता-बुद्धिः सुरतां नृषु पांडवः॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

[हे राजन्! तीस लक्षणवाला यह धर्म मनुष्यमात्रका परम धर्म है। इसका पालन करनेसे घट-घटमें व्याप्त परमात्मा प्रसन्न होते हैं। ये तीस लक्षण हैं— सत्य, दया, तप, पवित्रता, सहनशीलता, शान्ति, इन्द्रियदमन, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सीधापन, सन्तोष, सबसे समान व्यवहार, सेवा, बुरी बातोंसे दूर रहना, मौनता, आत्मचिंतन, सब प्राणियोंमें यथानुसार अन्न आदि बाँट देना, उनमें यह भाव रखना कि ये भी अपने समान हैं, भगवान्‌की कथाका श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, सेवा, हवन, उन्हें प्रणाम करना, उनकी दासता करना, उनसे मित्रता करना और उन्हें आत्म-समर्पण करना।]

महाभारतके अश्वमेध पर्वमें इनका भी मूल तत्त्व निकालकर कहा गया है—

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्॥

[अ० ६१, श्लोक ३२]

[सनातनधर्मका भी सनातन मूल, सब धर्मोंका तत्त्व यह है कि दान करो, सब प्राणियोंपर दया करो, ब्रह्मचर्य के साथ अपनी इन्द्रियोंको वशमें रक्खो, अपने व्यवहारमें सदा सच्चे रहो, सब प्राणियोंके दुःखमें सहानुभूति रक्खो, विपत्ति पड़नेपर विचलित मत हो और जो अपने साथ बुराई करे उसे क्षमा कर दो।]

संसारके सभी महात्माओं और महापुरुषोंने सब देशोंमें मानव-जीवनको सुखी रखनेके लिये, समाजको नष्ट होनेसे बचानेके लिये जो ये सिद्धान्त स्थापित किए और उपदेश दिए हैं उनमेंसे कोई ऐसा नहीं है जिसका कोई भी विरोध कर सके। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते हैं वे लोग आज कहते हैं कि सब प्राणियों को समान भावसे

देखना चाहिए, सबको सब वस्तुएँ समान मिलनी चाहिएँ किन्तु यही बात आजसे सहस्रों वर्ष पहले हमारे यहाँ कही जा चुकी है। आज जिस पंचशीलकी चर्चा अन्ताराष्ट्रिय मंचसे प्रचारित की जा रही है और जिसे युद्ध-लोलुप देशोंने भी ऊपरी मनसे स्वीकार कर लिया है उसके सब तत्त्व भी इन्हीं तेंतीस लक्षणोंके भीतर पूर्ण रूपसे समा जाते हैं। महात्मा ईसाने भी आजसे १९६० वर्ष पूर्व जन्म लेकर जिस अहिंसा और विश्व-प्रेमका सन्देश दिया था उसमें भी स्थान-स्थानपर इन्हीं तत्त्वोंका निर्देश मिलता है। ईसाई सम्प्रदायमें जो अनेक सन्त हुए उन्होंने भी समय-समयपर उन्हीं सब तत्त्वोंका उपदेश दिया जिनका निर्देश श्रीमद्भागवतमें किया गया है। इस्लाम धर्मके प्रवर्तक मुहम्मद साहबने भी अपने कुरानमें सत्य, दया, शान्ति, सन्तोष आदिका ही उपदेश दिया है। भगवान् बुद्ध और जैन तीर्थंकरोंने भी ये ही सब बातें विस्तारसे कही हैं। चीनके प्रसिद्ध दार्शनिक लाओत्से और कनफूचो तथा फारसके दार्शनिक जरथ्रुसने भी इन्हीं लक्षणोंका महत्त्व प्रतिपादित किया है। फिर भी यह क्या कम आश्चर्यकी बात है कि आजका सारा विश्व पागल होकर इस कल्याण, शान्ति और सुखके मार्गसे विचलित होकर अकल्याण, अशान्ति और दुःखकी ओर वेगसे बढ़ता चला जा रहा है।

हमारे यहाँ जब धर्मकी व्याख्या करते हुए अभ्युदय और निःश्रेयसकी बात कही गई तब यह स्वीकार कर लिया गया कि संसारमें रहकर मनुष्यको भौतिक सुख प्राप्त करनेका भी प्रयत्न करना चाहिए। हमारे चार पुरुषार्थोंमेंसे तीन तो शुद्ध रूपसे इस लोकके लिये ही थे। धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करना प्रत्येक व्यक्तिके लिये आवश्यक बताया गया था किन्तु साथ-साथ यह भी कहा गया था कि संग्रहमें त्यागकी भावना होनी चाहिए और भोगमें योगकी वृत्ति होनी चाहिए। इसका तात्पर्य ही यह था कि प्रत्येक मनुष्यमें धर्म-बुद्धि होनी चाहिए क्योंकि व्यासजीने स्पष्ट कहा

था—'भाई ! मैं हाथ उठाकर चिल्लाकर कह रहा हूँ पर कोई मेरी बात सुन नहीं रहा है कि धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है। इसलिये उसीका पालन क्यों नहीं करते ?'

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

जब तक मानव-जीवन संयत नहीं होगा, दूसरोंको सुख देनेकी भावना उसमें नहीं होगी, तबतक वह सुख और शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। वह जितना ही अधिक स्वार्थी बनता चला जायगा उतना ही अधिक वह विनाश और दुःखकी ओर बढ़ेगा और जितना ही वह परमार्थकी ओर चलेगा उतनी ही उसे शान्ति मिलेगी, सुख मिलेगा। इसलिये यह कहा गया है कि जीवनका जितना भी श्रेष्ठ तत्त्व है वह धर्ममें ही है--

धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।

यदि हम अपने नित्यके कार्यसे थोड़ासा मन हटाकर अपने चारों ओर दृष्टि डालें तो जान पड़ेगा कि चमकते हुए तारों और घूमते हुए ग्रहोंसे लेकर मक्खी और चींटी जैसे छोटेसे-छोटे जीव भी ईश्वरके विराट् यज्ञमें अपना-अपना योग देते चले जा रहे हैं। धूप और वर्षा, ठंढक और गर्मी, पुरवा और पछुआ पवन, सूर्यका उदय और अस्त ये सब एक दूसरेसे उलटे होते हुए भी ईश्वरके इस विश्व-यज्ञमें अपना-अपना कर्म करते ही रहते हैं, अपना-अपना धर्म निबाहते ही रहते हैं।

किसी फुलवारीका स्वामी अपनी फुलवारी बनानेके लिये चार सेवक लगा देता है और उन्हें अलग-अलग धरती जोतने, बोने, खाद डालने और फुलवारीकी सजावटका काम सौंप देता है। फिर भी वह फुलवारी तभी ठीक हो सकती है जब चारों अपना-अपना

काम ठीक ढंगसे करें। यदि उनमेंसे कोई अपना काम छोड़कर दूसरेका करने लगे तो उसका अपना काम या तो होगा नहीं या ढीला पड़ जायगा और फुलवारी बनानेका जो सपना फुलवारीवालेने मनमें सोच रक्खा है वह कभी पूरा नहीं होगा। इसीलिये कहा गया है कि यदि कोई भी अपना स्वधर्म, अपना काम, अपना कर्तव्य छोड़ दे तो वह पापी होता है क्योंकि उसकी ढिलाईसे सारा कार्य ही नष्ट हो जाता है। यदि खोदनेवाला सेवक धरती न खोदे तो बीज बोनेवाला बीज कैसे बो सकता है? यदि बीज बोनेवाला बीज बो भी दे और खाद न दी जाय तो उपज क्या होगी? यदि फुलवारी सजानेवाला नाप-जोखकर फूलोंके पौधे न लगाये तो सजावट कितनी बेढंगी हो जायगी! सबका एक दूसरेसे ऐसा घुला-मिला सम्बन्ध है कि एकके बिना दूसरेका काम अधूरा और अपूर्ण हो जाता है। जब सब अपना अपना धर्म करें, अपना काम छोड़कर दूसरेके काममें टाँग न अड़ावें, तभी काम सुचारु रूपसे सम्पन्न हो सकेगा क्योंकि यदि खोदनेवाला बीज बोने लगे तो उस काममें उसका अनुभव न होनेसे वह काम ठीक ढंगसे नहीं हो पावेगा। इसीलिये आवश्यक है कि सब अपना-अपना धर्म करें, दूसरेके धर्मके फेरमें न पड़ें। यह धर्म प्रत्येक व्यक्तिकी योग्यता, शक्ति, परम्परा, साधन, संस्कार और परिस्थितिपर निर्भर होते हैं।

जब भीष्म पितामह भीषण युद्ध करते हुए पांडवोंकी सेनापर टूट पड़े और घमासान लड़ाई करके पांडवोंकी सेनाको मार-मारकर तितर-बितर करने लगे, उस समय अर्जुनका उतरा हुआ मुँह और युद्ध करनेकी ढिलाई देखकर श्रीकृष्णने कहा था—

अद्य युद्धं करिष्यामि पांडवार्थाय दंशितः।
अद्य राज्येऽभिषेच्यामि युधिष्ठिरमहं पुनः॥

[आज मुझे ऐसी टीस हुई है कि मैं पांडवोंके लिये युद्ध करूँगा और फिर युधिष्ठिरको राजगद्दीपर बैठाऊँगा।]

जिन श्रीकृष्ण भगवान्‌ने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं युद्धमें शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा', वे ही कृष्ण भगवान् सुनाभ चक्र लेकर अर्जुनके रथसे कूदकर उतर पड़े और भीष्म पितामहपर टूट पड़े। उस समय भीष्मने तो हाथ जोड़कर उनका स्वागत किया पर अर्जुनका मुँह लज्जासे लाल हो गया क्योंकि भीष्म-जैसे पराक्रमीके सम्मुख उनको जिस पराक्रमके साथ युद्ध करना चाहिए था वैसा युद्ध वे कर नहीं रहे थे। इसीलिये अर्जुनको कर्तव्यका उपदेश देनेके लिये ही वे रथका पहिया लेकर लड़नेके लिये खड़े हो गए थे।

महाभारत युद्धके समय अर्जुनको ऐसा मोह हुआ कि क्षत्रियके लिये उचित समझे जानेवाले युद्धमें भी उसे पाप दिखाई देने लगा। उसने भगवान्‌से कहा—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।

[ओहो ! हम तो बड़ा भारी पाप करनेके लिये आ जुटे हैं।] यह सुनकर भगवान्‌से न रहा गया और उन्होंने अर्जुनको डाँटते हुए, तथा पाप और पुण्य समझाते हुए कहा—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

[अपने धर्ममें प्राण दे देना अच्छा होता है पर दूसरेका धर्म ग्रहण करना बड़ा भयानक होता है।] तुम क्षत्रिय हो। तुम्हारा धर्म है युद्ध करना। यदि तुम क्षत्रिय होकर युद्ध न करोगे तभी तुम्हें पाप लगेगा। पर तुम्हें इतना ही करना है कि तुम सुख और दुःख दोनोंको समान समझकर लड़ो। यह न समझो कि लड़नेवाले हो, तुम्हीं कर्त्ता और भोक्ता हो। सुख और दुःखको, लाभ और हानिको, जीत और हारको समान समझकर तुम युद्धमें जुट जाओ तो तुम्हें पाप नहीं लगेगा किन्तु—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

[यदि तुम इस अपनी धर्मकी लड़ाईसे मुँह मोड़कर भागोगे तो तुम्हारे धर्मका भी नाश होगा, तुम्हारा यश भी मिट जायगा और तुम्हें पाप भी लगेगा।]

पर यह सब सुनकर भी अर्जुनकी समझमें नहीं आया कि सुख और दुःखको बराबर मान कैसे लें। यह हमारा मन इतना चंचल है कि इसे बाँधकर रक्खा कैसे जा सकता है? इसे किस प्रकार दुःख और सुख दोनोंमें स्थिर किया जा सकता है? इसपर भगवान कृष्णने उपाय बताया कि मनको हम जैसा अभ्यास डलवा दें, मन वैसा ही बन जाता है। हमारा सारा शरीर अभ्यासपर ही तो निर्भर है। अतः, मनको अभ्यास और वैराग्यके द्वारा निश्चल कर लेना चाहिए। पर प्रश्न यह है कि अभ्यास और वैराग्य तो तभी आ सकता है जब सुख-दुःखके कारण दूर हो जायँ।

इस सुख-दुःखका कारण हमारा अज्ञान है। बहुतसे दुःख तो हम लोग व्यर्थमें अपने आप अपने सिर ढोते चलते हैं। गाड़ी निकल गई, इसीपर लोग रोने-धोने लगते हैं। बटन टूट जाने पर लोग अपने सारे घरवालोंको कोसने लगते हैं और दुखी होकर हाथ बाँधकर बैठ जाते हैं। ये सब दुःख तो केवल थोड़ी-सी मानसिक स्थिरतासे दूर हो सकते हैं। किन्तु शारीरिक कष्ट भी तितिक्षा या शरीरको साधनेसे दूर हो सकते हैं। अनेक महात्मा हिमालयमें जाड़ेमें पड़े रहते हैं किन्तु उन्हें शीत नहीं सताता। पर ऐसे बहुतसे लोग हैं जो तनिक-सी ठंडकमें छींकते-छींकते दुखी हो जाते हैं। बात यह है कि जीव अपने कर्मसे, अपने पुण्य और पापसे सुख और दुःख पाता है। इस पुण्य और पापसे मनुष्य तभी छूट सकता है जब वह बुद्धियोगसे अपनी बुद्धिको साध ले। यह बुद्धियोग प्राप्त होता है सत्संगसे, अच्छे ग्रन्थ पढ़नेसे, साधुओं और महात्माओंका उपदेश सुननेसे और यह भी तब होता है जब भगवान्‌की कृपा हो जाय। भगवान्‌की

कृपा के बिना इनमेंसे कोई कार्य नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

बिना सत्संगके विवेक नहीं होता किन्तु रामकी कृपाके बिना वह भी सुलभ नहीं है पर जो राम-कृपा चाहे उसे रामकी कृपा मिल भी जाती है। इसके लिये अत्यन्त श्रद्धाकी आवश्यकता है। श्रद्धा और विश्वासके बिना वह कार्य पूरा नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

[जो हवन, दान, तप आदि बिना श्रद्धाके किए जाते हैं उनका होना न होना बराबर है क्योंकि उनसे न तो इस लोकमें फल मिलता है न परलोकमें।] अतः, सब प्रकारके कार्योंका ठीक फल तभी मिल सकता है जब वह श्रद्धासे युक्त हो। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परं च परां गतिम्।' इसलिये संसारमें जो लोग सुख चाहें उनके लिये यह आवश्यक है कि वे श्रद्धाके साथ अपना मन शुद्ध करके सत्संग करें और सुख-दुःख समान मानकर अपने धर्म का निर्वाह करते चले जायँ, दूसरेका धर्म ग्रहण करने या उसकी ओर जानेका लोभ न करें, क्योंकि—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

यह धर्मकी भावना भगवान्‌के प्रसादसे दिव्य ज्योति मिलनेपर ही उदित होती है।

———

तमसो मा ज्योतिर्गमय

जब सृष्टि नहीं थी उस प्रलयकी वेलामें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था। किसी तत्त्व, किसी जीव, किसी अणु-परमाणु किसीका अस्तित्व नहीं था और इसलिये न कोई रूप था न कोई नाम। उस नाम और रूपहीन अन्धकारमयी सृष्टिमें सबसे पहले स्वर्णके समान प्रज्वलित तेजःपुंज हिरण्यगर्भका आविर्भाव हुआ। यही ब्रह्मकी ज्योति थी और इसीके सम्बन्धमें वेदोंने कहा है—

'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे।'

[सबसे पहले हिरण्यगर्भ हुआ।] यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मकी उस परम ज्योतिका प्रतीक है जो सब प्रकाशोंका प्रकाश, सब शक्तियोंकी शक्ति, सब ऐश्वर्योंका ऐश्वर्य है। तब उस सर्वमय ब्रह्मने संकल्प किया--"एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।" मैं एक हूँ, मैं बहुत रूपवाला हो जाऊँ और झट यह सम्पूर्ण चर, अचर और ग्रह-नक्षत्रसे पूर्ण सृष्टि अँगड़ाई लेकर जाग उठी। इसमें चैतन्य आ गया और जड प्रकृति भी नवीन चेतनता लेकर उठ खड़ी हुई।

इसे दूसरे प्रकारसे भी समझा जा सकता है। रातको विशेषतः अँधेरी रातमें जब चारों ओर घना अँधेरा छाया रहता है, हाथको हाथ नहीं सूझता, उस समय सारी सृष्टि ऐसी प्रतीत होती है मानो कहीं कुछ न हो। अँधेरेके अतिरिक्त किसीको कुछ भान ही नहीं होता। ऐसी अँधेरी रातमें यदि कोई यात्री घूमनेका विचार करके आगे बढ़ा चला जाता हो और उसे न मार्ग ही ज्ञात हो न उसके पास मार्ग जानने का कोई साधन ही तो तब वह ऐसा प्रकाश ढूँढता है, जिसके सहारे वह अपना ऐसा ठीक पथ ढूँढ सके, जो उसे गन्तव्य स्थान-तक पहुँचा दे।

उसी अँधेरी रातमें यदि कोई मनुष्य अपने घरमें हो और उसे किसी प्रकारकी आहट लगे और वह जानना चाहे कि यह आहट किस वस्तुकी है तब भी उसे चोरसे सावधान होनेके लिये, सर्प आदि विषैले जीव-जन्तुओंसे बचनेके लिये प्रकाशकी आवश्यकता होती है। यदि उसे कोई रक्खी हुई वस्तु खोजनी हो तो वह उसके लिये भी प्रकाश ही ढूँढता है। बिना प्रकाशके उसका सम्पूर्ण ज्ञान, उसकी सम्पूर्ण चेतना, उसका सम्पूर्ण प्रयास निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार इस संसारमें जो कुछ है उसे ढूँढने और जाननेके लिये प्रकाश अपेक्षित है। जबतक हमें ज्ञानका प्रकाश नहीं मिलता तबतक हम अपना ठीक पथ नहीं ढूँढ़ सकते अर्थात् जिस परमात्मासे हमारा यह आत्मा मिलना चाहता है उसे प्राप्त करनेका हम ठीक पन्थ नहीं जान सकते; कर्तव्य और अकर्तव्य, क्या करना या नहीं करना चाहिए यह नहीं पहचान सकते। हमारे चारों ओर चोरों तथा विषैले सर्प आदि जीवोंके समान अनेक प्रपंच फैले हुए हैं। स्वयं हमारे मानसमें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि घातक शत्रु हमारे मानसको लूटने और नष्ट करनेको उतारू बैठे हैं। वहाँ उन सबसे बचनेके लिये हमें प्रकाशकी नितान्त आवश्यकता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सामने एक बिरवा खड़ा है, हम उसके पत्ते तोड़ते हैं नोचकर फेंक देते हैं किन्तु ज्ञानके प्रकाश बिना हम यह नहीं जानते कि वही बिरवा, उसी बिरवेका पत्ता हमारे किसी रोगकी एक मात्र अचूक औषधि है। जीवनके जिस क्षेत्रमें भी हम पदार्पण करें, मानव-जीवनसे सम्बद्ध कोई भी कार्य करें, ज्ञान-विज्ञानके जिस भी क्षेत्रमें प्रवेश करें, सदा और सर्वत्र हमें उस ज्योतिकी आवश्यकता पड़ेगी और पड़ती है जो हमें गूढ़ तत्त्वका परिचय करावे, रहस्य बतावे, भली प्रकार जान लेनेकी प्रेरणा दे और निरन्तर मार्ग दिखावे। ऐसी परिस्थितिमें क्या यह स्पष्ट नहीं है कि हमारे चारों ओर भयंकर अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त है?

कोई व्यापारी, जो नया व्यापार करना चाहता है, व्यापार करनेसे पूर्व उस व्यापारके सम्बन्धमें हानि-लाभ, सामग्री प्राप्त होनेके स्थान तथा अन्य सभी बातोंका विस्तृत सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर लेता है और भली-भाँति आश्वस्त होकर उसकी ओर पग बढ़ाता है। कोई विद्यार्थी जब किसी परीक्षामें बैठता है और परीक्षामें ससम्मान उत्तीर्ण होना चाहता है तब वह उस विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थोंका अध्ययन करता है, विद्वानोंसे सम्पर्क स्थापित करता है और उन सब प्रश्नोंकी स्वतः कल्पना करता है जो उस विषयके सम्बन्धमें पूछे जा सकते हैं। किन्तु यह विचित्र घटना है कि हम इस संसारमें आकर भी स्वयं अपने हृदय, अपनी बुद्धि और अपने मनके सम्बन्धमें, अपने स्वरूपके विषयमें, अपने स्रष्टाके विषयमें न कुछ जानते हैं, न जाननेका प्रयास ही करते हैं।

इतने बड़े जिस संसारमें हम नित्य दस व्यक्तियोंसे मित्रता और दससे शत्रुता करते हैं उसमें हम यह जाननेका प्रयत्न ही नहीं करते कि वास्तवमें वह सबसे बड़ा मित्र कौन है जो हमें इस संसारमें ठीक मार्गपर ले चल सके, जो हमारा ठीक पथ-प्रदर्शन कर सके, जो हमें उस परम ज्योतिके दर्शन करा सके जिसका साक्षात्कार कर लेनेपर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता।

उपनिषदोंमें स्थान-स्थानपर ज्ञान-ज्योतिकी बड़ी चर्चा हुई है। योगशास्त्रमें योगियोंने उस परम ज्योतिका दर्शन करनेके लिये अनेक साधनाओंका विधान किया है और उस परम ज्योतिका साक्षात्कार करके न जाने कितने महापुरुष त्रिकालज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दिव्य-चक्षु हो गए हैं। किन्तु क्या यह कम आश्चर्यकी बात है कि हममेंसे कोई इस विकट अन्धकारसे पार करने या पार होनेका प्रयत्न न तो करता और न उस परम ज्योतिको ढूँढ़नेका ही कोई उपाय करता है।

अध्यात्मके क्षेत्रको जाने दीजिए, साधारण जीवनमें भी प्रकाशकी जो महत्ता है वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो लोग चित्रकलासे

अभिज्ञ होंगे वे जानते होंगे कि केवल अन्धकार या काला रंग वह है जिसमें सब रंग मर जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं किन्तु प्रकाशका ही रंग ऐसा है जिसमें सातों रंग (बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगिया और लाल) सब विद्यमान रहते हैं, जीवित रहते हैं, भासमान रहते हैं। प्रकाशके इन्हीं रंगोंसे सृष्टि पलती है। मनुष्य-जीवन तथा वनस्पतिमें इसी प्रकाशसे तेज आता है, स्फूर्ति आती है, नवजीवनका संचार होता है, रस आता है और इसीसे उनकी वृद्धि होती है। किन्तु अन्धकारमें रहनेसे रंग भी नष्ट हो जाता है, जीवन भी समाप्त हो जाता है, चेतना भी जाती रहती है और वृद्धिकी गति भी रुक जाती है। यह क्या कम आश्चर्यकी बात है कि इतना सब जानते हुए भी, प्रत्यक्ष रूपसे अन्धकारका यह कुप्रभाव देखते हुए भी, हम अन्धकारको छोड़कर प्रकाशमें आनेका यत्न नहीं करते।

भारतीय ऋषियोंने प्रकाशका यह महत्त्व आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व भली-भाँति समझ लिया था। उन्होंने उस प्रकाशको या यों कहिए कि उस प्रकाशके प्रकाश महाज्योतिको अपने हृदयमें, अपने भीतर ढूँढ लिया और उसके आलोकसे उन्होंने सृष्टिके भीतर ही भीतर चेतना प्रदान करनेवाली, जीवनका संचार करनेवाली महाशक्तिका तो दर्शन किया ही, साथ ही उन्होंने उस परमानन्दको भी खोज निकाला जो आध्यात्मिक प्रकाशसे ही प्राप्त हो सकता है। और इसीलिये उन्होंने जहाँ यह कहा—'असतो मा सद्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय' [हमें असत्से सत्में ले जाओ, मृत्युसे अमरत्वमें ले चलो], वहीं उन्होंने यह भी कहा—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' [अन्धकारसे हमें प्रकाशमें ले चलो।]

इसी महाज्योतिका साक्षात्कार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने परब्रह्म आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके रूपमें कराकर असत्से सत्, मृत्युसे अमृत और अन्धकारसे प्रकाशमें पहुँचानेका मर्म बताया है।

———

अठारहवाँ अध्याय

श्रीकृष्ण और अर्जुन : समाधान

कुछ दिनों पूर्व हिन्दीकी एक कुख्यात पत्रिकामें 'आजकी कसौटी पर गीता' शीर्षक एक लेख छपा था जिसमें लेखकको अपने परिमित ज्ञानके अनुसार ऐसा मिथ्याभास हुआ कि गीतामें श्रीकृष्णजीने अर्जुनको सांसारिक समस्याओंसे हटाकर आत्मा और परलोकके झमेलेमें ले जा उलझाया; हिन्दू समाजमें प्रचलित सभी कुरीतियों और हानिकारक प्रथाओंका समर्थन गीतामें मिलता है; और कृष्णने अर्जुनकी इस बातका कोई उत्तर नहीं दिया है कि युद्धमें पुरुषोंके मारे जानेपर उनकी पत्नियोंका भ्रष्ट होना और वर्णसंकर बच्चे पैदा होना अनिवार्य है।

उस पत्रिकामें जिन सज्जनने आजकी कसौटीपर गीताको कसनेका असफल प्रयास किया है उनका उत्तर स्वयं भगवान् कृष्णने गीताके १८वें अध्यायमें दे दिया है —

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ [१८ : ६७

[मेरा यह उपदेश (गीताका रहस्य) किसी भी दशामें न तो तप-रहित मनुष्यको बताना, न भक्ति-रहितको, न सुननेकी इच्छा न करनेवालेको और न मेरी निन्दा करनेवालोंको।] क्योंकि ऐसे लोगोंको उसका रहस्य समझमें ही नहीं आ सकता। संभवतः यही कारण है कि विद्वान् लेखक वहाँतक नहीं पहुँच पाए और इसलिये उन्हें दोष देना भी दोष ही होगा।

लेखकने उस लेखमें बताया है कि अर्जुनको वंश समाप्त होने, कुल-धर्म नष्ट होने, नारियोंके दूषित होने, वर्ण-संकर उत्पन्न होने और फिर उनसे कुल-धर्म और जाति नष्ट होनेका भय था। उसीका समाधान वे कृष्णसे कराना चाहते थे। लेखकने अत्यन्त उदारतापूर्वक यह भी कहा है कि कृष्णको केवल इतना ही कहकर रुक जाना चाहिए था कि—"हे अर्जुन! इस युद्धस्थलमें यह अज्ञान कहाँसे आ गया जो बुरे मनुष्योंकी आदत है, स्वर्गप्राप्तिमें बाधक है और कीर्ति नष्ट करनेवाला है। तुम नपुंसकता छोड़ो। यह तुम्हें अच्छी नहीं लगती। हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको छोड़कर उठ बैठो आदि"। उस लेखकके मतसे 'अर्जुनकी आवश्यकताको देखते हुए शेष सारी गीता व्यर्थ है'। किन्तु क्या अर्जुनकी आवश्यकता केवल इतनी ही थी? अर्जुन स्वयं अत्यन्त बुद्धिमान्, चतुर, विद्वान् और और दार्शनिक था। उसे साधारण रूपसे डाटकर या फुसलाकर नहीं समझाया जा सकता था। वह पूर्ण रूपसे अर्थात् लौकिक और पारमार्थिक या आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे सन्तुष्ट हो जाना चाहता था। कृष्णके समान योगेश्वरके प्राप्त होनेपर और उनके ज्ञान-सागरका लाभ सुलभ होनेपर अर्जुन ही नहीं, कोई भी विवेकशील पुरुष उस अवसरसे लाभ उठाकर ज्ञान-गंगामें निमज्जित होनेका आनन्द प्राप्त करनेके लोभका संवरण नहीं कर सकता था। वह यह भी जान लेना चाहता था कि ये बिना अस्त्र-शस्त्रके मेरे सारथि श्रीकृष्ण किस प्रकार इस युद्धमें मेरी और अपनी रक्षा कर सकेंगे। इसलिये उसने श्रीकृष्णका तबतक पिण्ड नहीं छोड़ा, जबतक उन्होंने अपना विराट् रूप दिखाकर अपनी योगशक्तिका विश्वास नहीं दिला दिया।

उपदेश तीन प्रकारके होते हैं—गुरु-सम्मित उपदेश, सुहृत्-सम्मित उपदेश और कान्ता-सम्मित उपदेश। श्रीकृष्ण तो अर्जुनके सखा थे इसलिये स्वभावतः मित्र के साथ तर्क-वितर्क करना अनिवार्य होता है। इस बातको स्वयं अर्जुनने कहा भी है कि—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥
[११ : ४१

[मैंने आपको मित्र मानकर और आपकी महिमा न जानकर ही प्रमाद और स्नेहके कारण माधव और यादव आदि शब्द कहे हैं ।] अर्जुन वास्तवमें जानता ही नहीं था श्रीकृष्णको दिव्य शक्तिको । वास्तवमें अर्जुनके मनमें तीन मानसिक विक्षोभ उत्पन्न हो गए थे—एक मोह या अज्ञान, दूसरे स्मृति-भ्रंश और तीसरे सन्देह । इन तीनोंको दूर करनेके लिये श्रीकृष्णको ज्ञानका उपदेश देकर मोह हटाना पड़ा, क्षत्रियके धर्मका स्मरण दिलाकर उसकी स्मृति शुद्ध करनी पड़ी और अपना विराट् रूप दिखलाकर उसके सन्देहका निवारण करना पड़ा । इसीलिये गीता सुननेके पश्चात् अन्तमें अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

[आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे स्मृति प्राप्त हो गई है और मेरा सन्देह भी दूर हो गया है और अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।]

जब मनुष्यको यह अभिमान हो जाता है कि मैं बहुत कुछ जानता हूँ तभी उसके अज्ञानका प्रारम्भ हो जाता है और जब वह समझता है कि मैं कुछ नहीं जानता हूँ तभी उसके ज्ञानका स्फुरण होता है । अतः, अर्जुनने भी ठीक उसी प्रकार मोहाविष्ट होकर धर्मके लोप आदिकी बातचीत की जैसी लेखकने की है । इसीलिये श्रीकृष्णने अर्जुनको डाटते हुए कहा था कि 'यह तेरा व्यवहार अनार्योंके समान है, अस्वर्ग्य है और अकीर्तिकर है । तू इस नपुंसकताको छोड़कर उठ खड़ा हो ।' तब अर्जुनने ही स्वयं दूसरी बात छेड़ दी कि 'मैं गुरुओंको मारकर राज्य नहीं चाहता । मैं भीख माँगना अच्छा

समझता हूँ।' तब कृष्णने उससे कहा कि 'जिनका शोक नहीं करना चाहिए उनका तू शोक करता है और पण्डितोंके समान बातें करता है।' उसके पश्चात् पहला उपदेश उन्होंने यही दिया कि 'इस समय तेरा धर्म युद्ध करना है। कोई किसीके मारनेसे नहीं मरता है, क्योंकि आत्मा अजर-अमर है।' इसी प्रसंगमें उन्होंने कर्मयोग और स्थितप्रज्ञताका उपदेश दिया, सांख्ययोगका महत्त्व बतलाया, कामना, अहन्ता और ममताके त्यागसे परम शान्तिकी प्राप्तिका उपाय बताया।

किन्तु अर्जुन इतनी शीघ्रतासे माननेवाला व्यक्ति नहीं था। वह प्रश्न करता गया, युद्ध करनेसे पूर्व वह भौतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियोंसे अपने कर्तव्यकी शुद्धि कर लेना चाहता था। उसने स्वयं श्रीकृष्णसे समाधिस्थ स्थितप्रज्ञकी परिभाषा पूछी। जब श्रीकृष्णने ज्ञानका महत्त्व बतलाया तब अर्जुनने स्वयं वही प्रश्न पूछा जो लेखकने कहा है—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ [३ : १

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ [३ : २

[हे जनार्दन! यदि आप कर्मकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं तो मुझे क्यों कर्ममें प्रवृत्त करते हैं। आपकी इन मिली हुई बातोंसे मुझे भ्रम होता है इसलिये आप स्पष्ट निश्चित बात कहिए।] इसपर भगवान्‌ने उसे कर्मका उपदेश दिया। इस प्रकार एकके पश्चात् एक प्रश्न अर्जुन करता गया, कृष्ण उसे समझाते गए और अन्तमें सब प्रकारसे सन्तुष्ट होनेपर ही अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

[हे कृष्ण ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, स्मृति प्राप्त हुई और सन्देह दूर हो गया। अब आप जैसा कहेंगे वैसा ही मैं करूँगा।]

इस प्रसंगमें एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाका उल्लेख करना असंगत न होगा। जब महाभारतका युद्ध समाप्त हुआ तब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि शीघ्र रथसे कूद पड़ो। अर्जुनने कहा—'भगवन् ! पहले आप उतरिए।' इसपर कृष्णने आदेश दिया—'मैं कहता हूँ कूद पड़ो।' अर्जुन झट कूद पड़ा और उसके पश्चात् ज्यों ही श्रीकृष्ण रथसे कूदे त्योंही वह रथ घोड़ोंके सहित क्षण भरमें जलकर भस्म हो गया। अर्जुन यह दृश्य देखकर स्तम्भित रह गया। उसकी समझमें नहीं आया कि यह हो क्या गया। इसपर श्रीकृष्णने कहा—'अर्जुन ! जिस रथ-पर भीष्म और द्रोण-जैसे महारथियोंने दिव्यास्त्र चलाए हों, वह क्या अबतक बचा रह सकता था। यह तो मेरे योगबलसे खड़ा था।' इसीलिये गीताके अन्तमें संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

[जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हों और धनुर्धर अर्जुन हों वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति रहती है, यही मेरा मत है।]

महाभारत हो चुकनेके बहुत दिनोंके पश्चात् एक बार अर्जुनने निश्चिन्त बैठे हुए श्रीकृष्णसे कहा कि—'भगवन् ! वह जो आपने युद्ध-क्षेत्रमें मुझे उपदेश दिया था, फिरसे सुनाइए।' इसपर श्रीकृष्णने कहा—'मैं कोई तैयार करके भाषण नहीं ले गया था। वह तो अवसरके अनुरूप योगयुक्त होकर मैंने तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दिया था। मुझे तो अब स्मरण भी नहीं है कि मैंने क्या कहा था। अतः, यह कहना नितांत भ्रामक है कि गीताके कुल आठ श्लोक ही कामके हैं और शेष सब व्यर्थ हैं। वास्तवमें उन आठ श्लोकोंमें दी हुई प्रेरणाको क्रिया-

न्वित करानेके लिये ही कृष्णको अर्जुनका मोह दूर करने, उसकी स्मृति-को प्रबुद्ध करने और उसका सन्देह दूर करनेके लिये गीताका उपदेश करना पड़ा था।

जहाँतक गीतामें श्राद्ध, तर्पण, पुनर्जन्म और वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी बात है वह लेखकके मतसे हानिकर हो सकती है, किन्तु अधिक विचारवान् पुरुषोंकी दृष्टिसे इन्हीं सुरीतियों और विश्वासोंके कारण ही भारतीय संस्कृति अभीतक जीवित है और इनमेंसे कुछ विषय (जैसे पुनर्जन्म) ऐसे हैं जिनके अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण मिल चुके हैं। रही श्राद्ध-तर्पणकी बात, उसके कर्मकाण्डमें भेद माना जा सकता है किन्तु पुण्य-तिथियों और जयन्तियोंके रूपमें आज वह समाज भी श्राद्ध और तर्पण कर रहा है जो श्राद्ध-तर्पणके रूढ़ कर्मकाण्डमें विश्वास नहीं करता। यही जादू है जो सिरपर चढ़कर बोल रहा है।

सबको अपने मनसे यह भ्रम दूर कर देना चाहिए कि सब लोग बन्द आँखोंसे गीता पढ़ते हैं। जिन्होंने खुली आँखोंसे गीता पढ़ी है वे न इसे 'भानुमतीका पिटारा' समझते हैं न गोरखधन्धा, वरन् ऐसा राजमार्ग समझते हैं जो किसी पथभ्रष्टको भी ठीक मार्गपर ले चलते हुए उसे जीवनके सब तत्त्वोंका प्रत्यक्ष दर्शन करा देता है, मनको शान्ति प्रदान करता है और सब प्रकारके अज्ञानका हरण कर लेता है।

———

उन्नीसवाँ अध्याय

श्रीकृष्णः शरणं मम

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके पुष्टिमार्गमें जो वैष्णव दीक्षित होते हैं उन्हें दो मंत्र दीक्षाके रूपमें दिए जाते हैं। इनमेंसे एक है 'नाम-स्मरण' अष्टाक्षर महामन्त्र—'श्रीकृष्णः शरणं मम' और दूसरा है गद्य-सहित पंचाक्षर 'निवदन' मंत्र–'श्रीकृष्णाय नमः। सहस्रपरिवत्सरमितकालजात-कृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्द-तिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय (गोपी-जनवल्लभाय) देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्माश्च दारागारपुत्रेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।' अंतिम पाँच अक्षर ही पंचाक्षर मन्त्र है। यह गद्यात्मक समर्पण-मन्त्र ब्रह्मसम्बन्धके दिन आचार्यवर्य अपने वैष्णव शिष्यको तुलसी देकर श्रीनाथजीके चरणोंमें अर्पण करा देते हैं। अष्टाक्षर महामंत्रकी नामदीक्षा पुष्टि-मार्गीय वैष्णव बालकोंको छोटी अवस्थामें दे दी जाती है। इस दीक्षाका विधान यह है कि किसी मंगल मुहूर्त्तमें कोई वैष्णव गुरु अपने हाथमें तुलसीकी कंठी लेकर इस महामन्त्रका तीन बार उच्चारण करके और नवदीक्षा धारण करनेवाले शिष्यसे तीन बार मंत्रका उच्चारण कराकर उसके गलेमें तुलसीकी कंठी बाँध देते हैं। इस प्रकार दीक्षा लेकर वैष्णव बालक (बालिकाएँ भी) सदा अपने कंठमें तुलसीकी माला धारण करते हैं, ऊर्ध्वपुंड्र तिलक लगाते हैं और नियमित रूपसे इस अष्टाक्षर मंत्रका जप करते हैं।

इस अष्टाक्षर महामंत्रके साथ जिस प्रकारका सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेका व्रत पुष्टि-मार्गीय बालक लेते हैं उसका महत्त्व नैतिक और सामाजिक दृष्टिसे अवर्णनीय है। कंठी धारण करके और मन्त्र-दीक्षा ले चुकनेपर प्रत्येक दीक्षित बालक अपना धर्म

समझता है कि मैं कभी असत्य भाषण न करूँ, किसीको दुर्वचन न कहूँ, किसीकी निन्दा न करूँ, किसी प्रकारका कायिक, मानसिक और वाचिक दुष्कृत न करूँ, अपना खान-पान, रहन-सहन, जीविका-वृत्ति सबका सद्वृत्तिके साथ निर्वाह करूँ और जो कुछ करूँ सब भगवान्‌को अर्पण कर दूँ। श्रीमद्भगवद्गीतामें आनन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्रका आदेश भी यही है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

[हे कुंतीके पुत्र अर्जुन! तुम जो कुछ भी काम करो, जो कुछ भी अग्निमें आहुति दो, जो कुछ भी दान करो और जो कुछ भी तपस्या करो वह सब कुछ तुम मुझे अर्पित कर दो।]

इस प्रकारके भगवदर्पणसे प्राणी सब प्रकारके दोषोंसे मुक्त हो जाता है और उसे कर्मका फल भोगनेको विवश नहीं होना पड़ता। इस दृष्टिसे इस अष्टाक्षर महामंत्रकी दीक्षा लेनेका वास्तविक फल उसे ही प्राप्त होता है जो पूर्ण सत्यनिष्ठाके साथ इस महामंत्रको ग्रहण करके सात्त्विक जीवन व्यतीत करता है। यदि इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण समाज निश्छल भावसे सात्त्विक जीवन व्यतीत करनेका व्रत ले ले तो आज हमारे राष्ट्रीय जीवनमें व्याप्त सम्पूर्ण भ्रष्टाचार सदाके लिये समाप्त हो जाय, पारस्परिक अविश्वास और कलह समाप्त हो जाय और स्वार्थ-साधनकी भावनाका अन्त हो जाय। राष्ट्रीय नैतिकताकी दृष्टिसे इस अष्टाक्षर मंत्रका बड़ा महत्त्व है जो सम्प्रदायगत हो जानेके कारण कुछ संकुचित हो गया है।

श्रीमद्गोस्वामी विट्ठलनाथजीने अपने 'अष्टाक्षरार्थ' नामक ग्रंथमें इस महामंत्रके प्रत्येक अक्षरकी व्याख्या करके इसका माहात्म्य बताते हुए लिखा है—

श्रीकृष्णः कृष्ण कृष्णेति कृष्णनाम सदा जपेत्।
आनन्दः परमानन्दो वैकुंठं तस्य निश्चितम्॥

[जो व्यक्ति निरंतर भगवान् श्रीकृष्णका नाम जपता रहता है उसे इस लोकमें आनन्द और परमानन्द प्राप्त होता है और अन्तमें निश्चय ही उसे वैकुंठधाम प्राप्त होता है।] श्रीमद्गोस्वामी विट्ठलनाथजीने इस अष्टाक्षर महामंत्रके आठों अक्षरोंका अर्थ बताते हुए लिखा है—

श्री—अक्षर सौभाग्य प्रदान करता है, धनवान् बनाता है और राजप्रिय बनाए रखता है।

कृ—अक्षर सब प्रकारके पापोंका शोषण और शमन करता है।

ष्ण—अक्षर जीवनके समस्त आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकारके तापोंका हरण कर लेता है।

श—अक्षर समस्त जन्म-मरण और आवागमनके दुःख समाप्त कर देता है।

र—अक्षर अपने इष्टदेव अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके साथ एकात्मता स्थापित करनेका संपूर्ण ज्ञान प्रदान करता है।

ण—अक्षर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें अत्यन्त दृढ भक्ति उत्पन्न करता है।

म—अक्षर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्की सेवा करनेका उपदेश देनेवाले गुरुदेवके प्रति प्रीति उत्पन्न करता है।

म—अक्षर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके साथ सायुज्य स्थापित करा देता है जिससे जीवको फिर इस संसारमें जन्म लेनेका कष्ट नहीं भोगना पड़ता।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने नवरत्न ग्रंथमें आदेश दिया है—

तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥

[इसलिये अत्यन्त मनोयोगके साथ 'श्रीकृष्णः शरणं मम' जपते रहना चाहिए अथवा निरन्तर उन लोगोंके साथ सत्संग करना चाहिए जो अष्टाक्षर मन्त्रका जप करते हैं, यही मेरी सम्मति है।] पुष्टिमार्गीय सम्प्रदायमें इस महामन्त्रके जपका बड़ा माहात्म्य और विधान है। जिस प्रकार अन्य प्रकारके जप-विधानमें शारीरिक और मानसिक शुद्धि अपेक्षित है उसी प्रकार इस महामन्त्रके जपके लिये भी कायिक शुद्धि तथा मानसिक एकाग्रता आवश्यक है फिर भी इतनी छूट अवश्य दी गई है कि इस मन्त्रके जपते समय न तो अपरसकी ही कोई बाधा है और न समयका ही कोई बन्धन है। जिस व्यक्तिको जिस समय भी जितना अवसर मिले उसमें निष्ठा-पूर्वक उतना जप करता रह सकता है। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जबतक माला पूर्ण न हो तबतक न तो कोई दूसरा कार्य करे और न किसीसे अन्य किसी प्रकारकी बातचीत ही करे। अशौच (जन्ममरण) के दिनोंमें भी इस महामंत्रका जप करनेमें कोई बाधा नहीं है किन्तु इस अवस्थामें जितना जप किया जाय उसकी न तो संख्या गिनी जाय न कहीं अंकित की जाय। इसी प्रकार प्रसव तथा रजस्वलाकी अवस्थामें स्त्रियाँ जितना जप किया करें उसे न तो अंकित करें, न उसकी गणना करें। कलियुगमें भगवान्‌के नामके जपसे बढ़कर कोई दूसरा मुक्तिका मार्ग नहीं है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

[हरिका नाम ही, हरिका नाम ही, हरिका नाम ही केवल कलियुगमें उद्धार कर सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है, कोई उपाय नहीं है, कोई उपाय नहीं है।]

इस महामंत्रकी महत्ताका बोध करानेके लिये श्रीकृष्ण-शरणाष्टकके आठ श्लोकोंकी व्याख्या दी जाती है जिससे इसका माहात्म्य और भी स्पष्ट हो जायगा—

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः।
पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ १ ॥
संसारसुखसंप्राप्तिसन्मुखस्य विशेषतः।
बहिर्मुखस्य सततं श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ २ ॥
सदा विषयकामस्य देहारामस्य सर्वथा।
दुष्टस्वभाववामस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ३ ॥
संसारसर्पदष्टस्य मर्मभ्रष्टस्य दुर्मते।
लौकिकप्राप्तिकामस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ४ ॥
विस्मृतस्वीयधर्मस्य कर्ममोहितचेतसः।
स्वरूपज्ञानशून्यस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ५ ॥
संसारसिन्धुमग्नस्य भग्नभावस्य दुष्कृतेः।
दुर्भावलग्नमनसः श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ६ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य निरन्तरम्।
विरुद्धकरणाशक्तेः श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ७ ॥
विषयाक्रान्तदेहस्य वैमुख्यहृतसन्मते।
इन्द्रियाश्वगृहीतस्य श्रीकृष्णः शरणं मम ॥ ८ ॥
एतदष्टकपाठेन ह्येतदुक्तार्थभावनात्।
निजाचार्यपदांभोजसेवको दैन्यमाप्नुयात् ॥ ९ ॥

[मैं सब साधनोंसे हीन हूँ, सब प्रकारसे पराधीन हूँ, अनेक प्रकारके पापोंसे भरा हुआ हूँ। ऐसे मुझ दीन और साधनहीनका उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ही एक मात्र मेरे शरण-दाता हैं ॥ १ ॥

मैं विशेष रूपसे संसारका सुख प्राप्त करनेके लिये ही सचेष्ट रहा हूँ और सदा बाहरी प्रपंचोंमें लगा रहा हूँ। ऐसे मुझ साधनहीन दीन जीवके उद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण ही एक मात्र मेरे शरण-दाता हैं ॥ २ ॥

सदा सांसारिक विषय-भोगमें मन लगाए रखनेवाले, सदा शारीरिक सुखमें ही आनंद माननेवाले और दुष्ट स्वभावके कारण सदा उलटा आचरण करनेवाले मुझ साधनहीनोंका उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे शरण देनेवाले हैं ॥ ३ ॥

संसार-रूपी सर्पसे डसे हुए, धर्मभ्रष्ट, दुर्मति और अनेक प्रकारके पदार्थोंकी कामना करनेवाले सर्व-साधनहीन मुझ दीनके समुद्धारक श्रीकृष्ण ही हैं ॥ ४ ॥

अपने धर्मको भूल जानेवाले, अपने कर्मजालके कारण किंकर्त्तव्य-विमूढ रहनेवाले, अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान न रखनेवाले मुझ दीन और साधनहीनका उद्धार करनेवाले श्रीकृष्ण ही एक मात्र शरण देनेवाले हैं ॥ ५ ॥

इस संसार-रूपी समुद्रमें डूबते हुए, भावहीन, पापी, बुरी बातोंमें मन लगाए रहनेवाले मुझ दीन साधनहीनका उद्धार करनेवाले श्रीकृष्ण ही एक मात्र शरण देनेवाले हैं ॥ ६ ॥

विवेक, धैर्य और भक्ति आदिसे निरन्तर दूर रहनेवाले, सदा उलटे कामोंमें लगे रहनेवाले मुझ दीन साधनहीनका उद्धार करनेवाले श्रीकृष्ण ही एक मात्र शरण देनेवाले हैं ॥ ७ ॥

सांसारिक विषयोंसे पीडित शरीरवाले, भगवान्‌से विमुख होनेके कारण सन्मतिहीन, इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंके फेरमें पड़े हुए मुझ दीन साधनहीनका उद्धार करनेवाले श्रीकृष्ण ही एक मात्र शरणदाता हैं ॥ ८ ॥

जो इन ऊपर कहे आठ श्लोकोंका पाठ करता है, इनके अर्थोंका भलो प्रकार मनन करता है और अपने आचार्य महाप्रभुके चरण-कमलकी सेवा करता है वह भगवान्‌की शरणमें पहुँचानेवाली दीनताका भाव प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार इस अष्टाक्षर मन्त्रका बड़ा माहात्म्य पुष्टिमार्गमें बताया गया है। जिन भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रको साक्षात्, भगवान् बताया गया है—

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'

उनका नाम जपनेसे, उनकी शरणमें जानेसे, उन्हें आत्म-समर्पण करनेसे निश्चय ही कल्याण होगा।

———

बीसवाँ अध्याय

व्रज और व्रजांगना

व्रजबल्लभ आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे एक बार मुक्तिने पूछा कि मैं तो सबको मुक्ति बाँटती फिरती हूँ किन्तु मेरी मुक्ति कैसे होगी। भगवान् श्रीकृष्णने तत्काल उसे सान्त्वना देकर समझाते हुए कहा कि तुम्हारी मुक्ति तो अत्यन्त सरलतासे होगी। जहाँ व्रजकी रज उड़कर तुम्हारे शरीर में लगी कि बस तुम मुक्त हुई—

मुक्ति कहै गोपाल सों, मेरी मुक्ति बताय।
व्रज-रज उड़ि मस्तक लगे, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥

किन्तु व्रजकी रजको यह महत्त्व प्रदान तो किया भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने ही उस पुण्यभूमिमें अवतार लेकर, बाल-लीलाएँ करके, गो-गोपीजन-वल्लभ बनकर और विचित्र बात यह है कि उन्होंने अपना महत्त्व कम करके भी व्रजका और व्रजांगनाओंका ही महत्त्व अधिक बताकर व्रजकी महिमा बढ़ा दी। शकटासुर, अघासुर, बकासुर, पूतना, तृणावर्त्त, धेनुकासुर, चाणूर, मुष्टिक आदि न जाने कितने दुष्टों, दैत्यों और राक्षसोंका वध करके प्रलयंकरी वर्षामें गोवर्धन पर्वत धारण किया और इस प्रकार सम्पूर्ण व्रज और व्रजवासियोंको उन्होंने कृतज्ञताके भारसे दबा दिया, फिर भी वे अपने मनमें यही समझते रहे कि व्रजकी गोपियों और गोपोंने मेरे प्रति जो स्नेह व्यक्त किया है उसका मैं कोई प्रतिस्नेह नहीं प्रदान कर सका।

श्रीकृष्णजी सब गोपिकाओंके घर जाकर उनकी मटकियाँ फोड़ते थे, दही-दूध गिराते थे, मक्खन चुराकर भागते थे और गोपियाँ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनेके लिये, ऐसे अवसर प्रदान करनेके लिये उत्सुक रहती थीं कि कृष्ण आवें, हमारे बर्त्तन-भाँड़े गिरावें और हम उन्हें अपने अंकमें भर लें—इसलिये नहीं कि वे माखन-चोर हैं

यह महिमा है ब्रजकी और उसको महिमामय बनानेका श्रेय है ब्रजांगनाओंको जो श्रीकृष्णपर, उनकी वंशीपर, उनकी प्रत्येक भावभंगीपर मुग्ध हैं। अपने इस स्नेहको वे किस प्रकार व्यक्त करती हैं इसका एक सुन्दर उदाहरण है—

लालन एक बिनै सुनिए, नित मेरी गलीनमें आइयो ना।
आइयो तो चुपके चले जाइयो, बंशी बजाइयो, गाइयो ना।
गाइयो तो कबहूँक कृपा करि द्वारहिं शब्द सुनाइयो ना।
सुनाइयो तो अपनाइयो न, अपनाइयो तो कहूँ जाइयो ना।

[तात्पर्य यह है कि उनकी 'नहीं'में 'हाँ' भरा हुआ है। वे यही चाहती हैं कि आप नित्य हमारी गलीमें आइए, चुपके चले न जाइए, वंशी बजाइए, गाइए, द्वारपर अलापिए, और इस प्रकार हमें अपनाकर कहीं छोड़कर न जाइएगा।] ब्रजांगनाओंकी इस निष्ठापर कौन नहीं लट्टू हो जायगा, कौन सर्वस्व न्यौछावर न कर देगा।

इस प्रेममय ब्रजका आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब कोई तन्मय होकर गोकुल, वृन्दावन, मथुरा, गोवर्धन और ब्रजभूमिमें विचरण करे और ब्रजरजसे पवित्र होकर जीवन्मुक्ति सिद्ध कर ले। गोपियों ने यही सिद्धि प्राप्त कर ली थी। वे श्रीकृष्णसे इसलिये नहीं प्रेम करती थीं कि वे स्वयं भगवान्, चराचर के प्रभु थे वरन् इसलिये कि चित-चोर थे। वे श्रीकृष्णको इतनी निष्ठा, विह्वलता और एकात्मभावसे स्नेह करती थीं कि श्रीकृष्णजीके ब्रह्मवादी सखा उद्धवजी तक यही कामना करते हैं कि मैं वृन्दावनमें कहीं कोई लता-गुल्म बनकर पड़ा रहूँ और उन ब्रजांगनाओंकी चरण-रज छूकर पवित्र हो जाऊँ जिन्होंने अत्यन्त दुस्त्यज स्वजनों और आर्य-पंथको छोड़कर उस मुकुन्द पदवीको प्राप्त कर लिया जिसे वेद भी खोजते फिरते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

बिहारीने एक दोहा कहा है—

किती न गोकुल कुल-बधू, किहि न काहि सिख दीन।
कौने तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥

निश्चय ही गोकुलमें सभी वधुएँ कुल-वधुएँ थीं और सभी एक दूसरेको यह शिक्षा भी देती थीं कि श्रीकृष्णके फेरमें न पड़ना। फिर भी उनमें ऐसी कोई नहीं निकली जो मुरलीके सुरमें लीन होकर कुलकी गली, अपने कुलकी मर्यादा छोड़कर न चल दी और जिसने भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके शब्दोंमें ने ललकार कर यह न कह दिया हो—

आओ सबै जुरिके ब्रजगाँबके देखनेको जो रहे अकुलात हैं।
चार चवाइनै लै दुरवीनन, धाओ न आज तमासे लखात हैं ॥
सास, जेठानी सखी सँगको, हरिचन्द करौ मिलि भेदको बात हैं।
घूँघट टारि निवारि भई, पियको हम आज निवारन जात हैं ॥

और ये ब्रजांगनाएँ किस प्रकार भगवान् कृष्णको आत्मसात् किए हुए थीं—

तं कांचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्वा निमील्य च।
पुलकांग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता ॥

[कोई गोपी भगवान्के रूपको नेत्रके द्वारा हृदयमें पहुँचाकर, आँखें मूँदकर वैसी ही पुलकायमान होकर आनन्दमग्न हो रही थी जैसे निर्विकल्प समाधिमें परमानन्दका अनुभव करतेवाला योगी। इसीलिये किसी भक्तने भगवान् श्रीकृष्णको जय-जयकार करते हुए कहा—

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरंजनमुरसी महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥

[उन भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो जो ब्रजांगनाओंके कानोंके कुवलय, आँखोंके अंजन और हृदयपर विराजमान नीलमणि हैं, यहाँ तक कि उनके सब कुछ शृङ्गार वे ही हैं।] और ये ब्रजांगनाएँ, जिनके संपूर्ण शृङ्गार श्रीकृष्ण ही थे, वे भगवान् कृष्णको चोर बनाकर उन्हें पकड़नेके लिये सौ-सौ उपाय करती हैं और वे भी क्या सहजमें किसीकी पकड़में आनेवाले हैं ? वे ही नटवर मक्खन चुराकर नाट्य करते हैं भयसे भागनेका। जो स्वयं भयानांभयं हैं वे भयभीत होकर दौड़ते हैं छिपनेके लिये और उनकी इस कला पर मुग्ध होकर एक भक्त धीरेसे कहता है—

क्षीर सारमपहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि पलायने त्वया।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे ॥

[मक्खन चुराकर यदि आप भयसे भागना ही चाहते हैं तो आप अत्यन्त अन्धकारपूर्ण मेरे मानसमें आकर क्यों नहीं आ छिप बैठते। यहाँ इतना अन्धकार है कि कोई आपको कभी खोजने भी निकले तो ढूँढे न पा सके]

———

इक्कीसवाँ अध्याय

पुष्टिमार्गीय सेवाका स्वरूप

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणमें लिखा है कि वृन्दावनवासी गोपाल श्रीकृष्णके किशोर रूपसे ही इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति हुई है। इनके दक्षिण पार्श्वसे नारायण, वामसे महादेव, नाभिपद्मसे ब्रह्मा, वक्षःस्थलसे धर्म, मुखसे सरस्वती, मनसे लक्ष्मी, बुद्धिसे दुर्गा, जिह्वासे सावित्री, मानससे कामदेव तथा वामांगसे रति और राधिकाजीकी उत्पत्ति हुई। श्रीराधिकाजीके रोमकूपोंसे ही तीस कोटि गोपांगनाएँ और श्रीकृष्णके रोमकूपसे तीन सौ कोटि गोपोंने जन्म लिया। पहले गोलोकवासी गाय और बछड़े तथा पीछे वृन्दावनवासी गाय और बछड़ेतक सब इन्हीं श्रीकृष्णजीके रोमकूपसे उत्पन्न हुए।

इन्हीं श्रीकृष्णजीकी सेवा करना ही श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने प्रत्येक वैष्णवका धर्म बताया है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके मतानुसार श्रीकृष्णकी उपासनाके लिये उपवास करना, अन्न-वस्त्रका त्याग करके क्लेश सहना अथवा वनमें जाकर कठोर तपस्या करके शरीर सुखाना आवश्यक नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करते हुए उनके प्रसाद-स्वरूप अन्न-वस्त्र आदि सभी वस्तुओंका भोग करना पुष्टिमार्गमें विहित है।

इनके सम्प्रदायमें गोपाल या राधा-कृष्णकी मूर्ति प्रस्तर या धातुकी होती है जिनकी सेवा दिनमें आठ बार की जाती है—

१. मंगला : सूर्योदयके आध घंटे पश्चात् श्रीकृष्णजीको शय्यासे जगा और उठाकर आसनपर बिठाते हैं और उनके आगे ताम्बूलसे युक्त जलपानकी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इस समय वहाँ दीप भी रक्खा जाता है।

२. शृंगार : दिनके चौथे दंडमें श्रीकृष्णजीको तैल, चन्दन और कर्पूर-द्वारा सुगन्धित पदार्थों तथा वस्त्रालंकारोंसे विभूषित करते हैं।

३. ग्वालवेष : छठे दंडमें श्रीकृष्णजीको ऐसे सजाते हैं मानो वे गाय चराने जा रहे हों।

४. राजभोग : मध्याह्नकालमें देवालयके परिचारकगण विग्रहके सामने नाना प्रकारके मिष्टान्न तथा अन्यान्य सुस्वादु खाद्य-सामग्री रखते हैं मानो श्रीकृष्णजी गोष्ठसे घर लौटकर भोजन कर रहे हों। ऐसा समझकर भोग समाप्त होनेपर प्रसाद, द्रव्य और अन्यान्य सामग्री सेवकोंको बाँट दी जाती है। यह प्रसाद शिष्योंके यहाँ भी भेज दिया जाता है। गृहस्थ लोग भोग लगानेके पश्चात् प्रसाद-रूपसे ही भोजन ग्रहण करते हैं।

५. उत्थापन : भोगके पश्चात् विग्रहको विश्राम कराया जाता है फिर छह दण्डपर उन्हें जगाया जाता है।

६. भोग : उत्थापनके आध घण्टे पश्चात् वैकेलिक भोग (ब्यालू) होता है।

७. संध्या : सूर्यास्तके समय श्रीकृष्णजीकी सायंकालिक सेवा होती है। इस समय दिनमें पहने हुए सभी अलंकार उतारकर पुनः तैल-गन्ध-द्रव्य आदिके द्वारा अङ्ग-सेवा की जाती है।

८. शयन : छह दण्ड रात्रिके समय विग्रहको शय्यापर स्थापित करके उनके समीप पानीय जल, तांबूलाधार तथा अन्यान्य श्रान्तिहर द्रव्य रखकर परिचारकगण देवालयका द्वार बन्द करके चले जाते हैं।

इन सभी समयोंमें प्रायः एक ही प्रकारकी सेवा होती है जैसे—पुष्प, गन्ध और भोगदान तथा स्तोत्रपाठ और साष्टांग प्रणाम। विग्रह-सेवक तथा अन्य लोग भी इन सभी प्रकारकी सेवाओंका

अनुष्ठान करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण-स्तोत्रका पाठ प्रायः सेवकगण ही किया करते हैं।

इस प्रकारकी सेवाके अतिरिक्त कुछ सांवत्सरिक महोत्सव भी होते हैं। काशी-धाम और पश्चिमप्रदेशीय अन्यान्य स्थानोंमें जन्माष्टमी और रास-यात्राके उत्सवमें बहुत आमोद-प्रमोद होता है। किसी चौतरेपर बड़ी धूमधामसे रासयात्रा मनाई जाती है। अनेक व्यक्ति रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्र पहन-पहनकर ठाट-बाटसे रास-भूमिमें इकट्ठे होते हैं। अनेक प्रकारका मनोहर नृत्य, गीत और वाद्य चलता है तथा भगवान् श्याम-सुन्दरकी अनेक सुललित लीलाओंका प्रदर्शन किया जाता है। सावनमें झूला, जन्माष्टमीपर दधिकान्दो तथा होलीपर रंगकी बहार देखते ही बनती है।

तीन प्रकारकी सेवा

सेवा तीन प्रकारकी बताई गई है—तनुजा, वित्तजा और मानसी। इन तीनों प्रकारकी सेवाओंमें मानसी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है और यह मानसी सेवा भी तनुजा और वित्तजा सेवाओंसे ही सिद्ध होती है। श्रवण-कीर्तन आदि जो सेवा-क्रियाएँ शरीरसे की जाती हैं उन्हें तनुजा सेवा कहते हैं। धर्मोपार्जित द्रव्यसे भगवान्‌के लिये मन्दिर, आभूषण, वस्त्र, रथ आदि बनवा देना हो वित्तजा सेवा कहलाती है। इन दोनों प्रकारकी सेवाओंसे ही मानसी सेवाका भाव पुष्ट होता है। जब यह मानसी सेवाका भाव सबल हो जाता है तभी भगवान्‌में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। यह मानसिक स्थिति ही भगवान्‌के प्रति रति-स्वरूपा प्रथम भूमिका है। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों भक्ति बढ़ती है और जीव अत्यन्त मनोयोगसे सेवा करनेमें आनन्द प्राप्त करने लगता है त्यों-त्यों पहले तो उसके मनमें श्रीकृष्णके प्रति आसक्ति होती है और जब यह आसक्ति अत्यन्त तीव्र और प्रबल हो जाती है तब वह व्यसनका रूप धारण कर लेती है।

भगवान् में 'व्यसन' उत्पन्न होनेकी जब मानसिक वृत्ति बन जाती है तब समझना चाहिए कि जीवोंका परम पुरुषार्थ सिद्ध हो गया। व्यसन हो चुकनेपर फिर उस भक्त जीवको किसी भी प्रकारके बाहरी साधनों या सेवा-चेष्टाओंका आचरण करना तनिक भी आवश्यक नहीं रह जाता। इससे भी ऊपरकी एक स्थिति होती है—भगवान्में सर्वात्मभाव—

मेरे तो गिरिधर-गोपाल, दूसरा न कोई।

—किन्तु यह सर्वात्मभावकी वृत्ति केवल भगवान्की अनुकम्पासे ही प्राप्त होती है। मानसी सेवा या भगवान्के प्रति व्यसनका उत्कृष्टतम फल भगवान्को प्राप्त करना ही है।

निष्काम सेवा

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके मतानुसार भगवान्की सेवा करते समय मनमें किसी प्रकारकी इच्छा, कामना, वासना, अभिलाषा या आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। भक्तको निष्काम भावसे भगवान्की सेवा करनी चाहिए तभी वह सेवा फलवती होती है। किसी भी देवताकी भक्ति या सेवा करते हुए जो मनौती मानता है, कामना करता है, याचना करता है, वह सेवा निरर्थक होती है। भगवान्से तो केवल यही प्रार्थना करनी चाहिए कि मैं तेरा हूँ, जो तेरी इच्छा हो कर—

तुम बिन एती को करै, कृपा जु मेरे नाथ।
मोहि अकेली जानिकै, दुख राख्यो है साथ॥

श्रीमद्वल्लभ-सम्प्रदायमें भगवान्के बाल-स्वरूपकी सेवा की जाती है। जैसे अपने सुन्दर बालकको हम सुन्दर वस्त्रों और आभूषणोंसे सजाते हैं, उसके सुख-दुःखका ध्यान रखते हैं, प्रत्येक ऋतुमें उस ऋतुके अनुकूल उसके लिये चारों प्रकारके (चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय), षड्रस (मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय, लवण) व्यंजन बनाकर खिलाते हैं, उसे संगीत तथा क्रीडनीयक वस्तुओंके

द्वारा प्रमुदित तथा प्रसन्न रखते हैं, उसी प्रकार बालक श्रीकृष्णकी सेवा भी अत्यन्त गाढ़े स्नेहके साथ की जाती है। इतना ही नहीं, जैसे बच्चेको ठीक समयपर सुलाया, जगाया, खिलाया, पिलाया जाता है वैसे ही सेवामें भी समयका ध्यान रक्खा जाता है और कुडीठसे बचानेके लिये भगवान्‌को डिठौना भी लगाया जाता है। आज भी गोकुलमें साँझ होते ही जब गोपाल शय्यापर पौढ़ा दिए जाते हैं उस समयसे लेकर प्रातःकालतक समूचे गोकुलमें कोई भी ऊँचे स्वरसे नहीं बोलता है। यह कोई साधारण राष्ट्रीय संयमकी बात नहीं है। इसी सेवा-भावनाके कारण जाड़ेके दिनोंमें भगवान्‌के लिये दिनमें गद्दा और रातमें रजाई रक्खी जाती है, गरम पानीसे स्नान कराया जाता है तथा आग तापनेके लिये अँगीठी रक्खी जाती है। गर्मीके दिनोंमें उनके मन्दिरके आगे खसकी टट्टियाँ बाँधी जाती हैं, पंखा खींचा जाता है तथा चन्दन, घनसार और गुलाबजल अर्पित किया जाता है। प्रातःकालसे सन्ध्या-कालतक विभिन्न ऋतुओंके अनुकूल अनेक प्रकारके पकवान, सत्तू, पन्ना, अमरस, घी, दूध, दही, मक्खन-मिस्री आदि अनेक प्रकारके वे पदार्थ अर्पित किए जाते हैं जो बालक श्रीकृष्णको प्रिय होते हैं। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें कहा भी गया है—

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चापि प्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यम्··· ··· ··· ··· ··· ॥

[जो कुछ पदार्थ संसारमें सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हो और जो अपनेको बहुत प्रिय लगे वह सब मुझे अर्पित करना चाहिए।] ऐसा करनेसे भगवान्‌के प्रति अत्यन्त तीव्र स्नेह उत्पन्न होता है। श्रीमद्वल्लभाचार्य-जीके ज्येष्ठ पुत्र श्रीविट्ठलनाथजीने और भक्त-प्रवर श्रीगोविन्ददासजी-ने भी भगवान् श्रीनाथजीसे सर्वात्मभाव-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। यह माना जाता है कि श्रीगोविन्ददासजी भगवान् श्रीकृष्णके

अन्तरंग सखा श्रीदामा थे जिन्होंने महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके समयमें श्रीगोविन्ददासजीके रूपमें अवतरित होकर श्रीनाथजी (श्रीनाथ-द्वारा राजस्थानमें विराजमान) के सखा होकर उनके साथ खेल खेले थे। कभी तो वे घोड़े बनकर श्रीनाथजीको पीठपर चढ़ाते थे, कभी जब श्रीनाथजीको भूखा देखते तो छाक (दोपहरका भोजन) भी लाकर उन्हें खिलाते थे। वे निरन्तर रात-दिन श्रीनाथजीके साथ ही रहते और प्रत्यक्ष उनकी लीलाएँ देखते थे। वे (गोविन्ददास स्वामी) गोसाईं विट्ठलनाथजीके शिष्य थे और अद्भुत गायक थे। इसलिये वे श्रीनाथजीको गा-बजा और नाचकर प्रसन्न किए रहते थे। श्रीगोविन्द स्वामीने श्रीनाथजीको इतना वशमें कर लिया था कि जब-तक गोविन्दस्वामी साथमें बैठकर भोजन न करते तब तक वे भी भोजन ग्रहण नहीं करते थे। इतना ही नहीं, श्रीगोविन्दस्वामीके साथ चड्ढा-चड्ढी खेलते हुए श्रीनाथजी हार जाते थे तो वे भी श्रीगोविन्दस्वामीको अपनी पीठपर लादकर दाँव देते थे। एक बारकी बात है कि श्रीनाथजी खेलमें हार गए। गोविन्दस्वामीने कहा कि अब घोड़ा बनो और मुझे पीठपर लादकर ले चलो। भगवान् श्रीनाथजी झट भागकर मन्दिरमें घुस गए। फिर क्या था, गोविन्ददासजी हाथमें डंडा लेकर मन्दिरके द्वारपर आ डटे और कहने लगे कि बाहर निकलो तो तुम्हारी मरम्मत करूँगा। भीतर गोसाईं विट्ठलनाथजी बैठे थे। उनसे श्रीनाथ-जीने कहा कि बाहर गोविन्ददास मुझे मारनेके लिये आ खड़ा हुआ है। गोसाईंजीने गोविन्दस्वामीको बुलाकर और उन्हें मिठाई-प्रसाद देकर किसी-किसी प्रकार शान्त किया।

इसी प्रकार एक बार श्रीगोसाईं विट्ठलनाथजी बैठे श्रीनाथजी-का शृंगार कर रहे थे। सामने मंडपमें गोविन्दस्वामी बैठे भजन गा रहे थे। श्रीनाथजीको जो विनोद सूझा तो उन्होंने गोस्वामीजीसे छिपाकर सात कंकरियाँ गोविन्दस्वामीको मारीं। जब सातवीं

कंकरी लगी तो गोविन्दस्वामीने भी एक कंकरी खींचकर श्रीनाथजीको मार दी। लगते ही श्रीनाथजी तिलमिलाकर रो उठे। गोसाईंजीने कारण पूछा तो श्रीनाथजीने बता दिया कि गोविन्दस्वामीजीने कंकरी मारी है। गोस्वामीजी गोविन्दस्वामीपर बहुत बिगड़े, पर गोविन्द स्वामी क्या किसीसे दबनेवाले थे। उन्होंने झट निर्भीकताके साथ उत्तर दिया—'आपकौ लाड़लौ मोकूँ सात कंकरी मारे और मैं एकऊ न मारूँ, यहू काहू न्याव है ?

इस प्रकार गोविन्दस्वामी और श्रीनाथजीके परस्पर खेल-कूदकी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। यह सब सेवाका ही प्रभाव है।

श्रीविट्ठलनाथजीने भी श्रीबालकृष्णजी (श्रीनाथजी) से सर्वात्मभाव स्थापित करके उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया था। एक बारकी बात है कि श्रीनाथजीके अधिकारी श्रीकृष्णदासने गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीको श्रीनाथजीके दर्शन करनेपर रोक लगा दी। इस वियोगको जिस तन्मयतापूर्ण व्यथाके साथ गोस्वामी विट्ठलनाथजीने अपनी विज्ञप्तियोंमें प्रकट किया है वह उनकी एकात्मभावनाका पूर्ण परिचायक है। छह मासतक निरन्तर वे प्रतिदिन एक विज्ञप्ति श्रीनाथजीके चरणारविन्दमें अर्पित किया करते रहे, इतना उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके साथ एकात्मभाव स्थापित कर लिया था। यही सेवाकी पराकाष्ठा और उसका परम लक्ष्य है।

नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा—

पुष्टि-मार्गमें दो सेवाएँ प्रसिद्ध हैं—नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा। स्वरूप-सेवाका अर्थ है भगवान्‌के स्वरूपकी सेवा, जिसका विवरण ऊपर दे दिया गया है और नाम-सेवाका तात्पर्य है उन ग्रंथोंका अध्ययन, मनन, स्वाध्याय श्रवण और प्रवचन करना, जिनसे भगवान्‌के स्वरूपको भली प्रकार समझनेमें सुविधा हो। सभी वैष्णवोंके लिये विधान है कि वे दोनों प्रकारकी सेवा करते

रहें। कभी-कभी परिस्थितिवश जब स्वरूप-सेवा करना सम्भव न हो उस समय नाम-सेवा ही कर लेनी चाहिए। इतना ही नहीं, जो लोग स्वरूप-सेवा करते हुए भी नाम-सेवा नहीं करते उनकी सेवा अधूरी समझी जाती है। इस प्रकारकी सेवासे सेवकको सन्तोष होना चाहिए।

यह सेवा दो प्रकारकी होती है—साधन-रूप-सेवा और फलरूप-सेवा। इन दोनोंमेंसे मानसी सेवा भी फलरूपा सेवा कहलाती है और यही सेवा व्रजांगनाओंको साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके सान्निध्य-रूपमें प्राप्त थी। यह सेवा तभी सिद्ध होती है जब मनुष्य निरन्तर मनसा, वाचा, कर्मणा सदा और सर्वत्र भगवान्‌का ही ध्यान करता रहे, उनको अपना आराध्य मानता रहे। यह सेवा भी दो प्रकारकी होती है—बाह्य और आभ्यन्तर। इन दोनोंमें मानसीसे सेवा तो बाह्य सेवाका फल है। ये दोनों प्रकारकी सेवाएँ साधन-फल-रूपा हैं इसलिये इनका नित्य अनुष्ठान करना चाहिए। शास्त्रोंने भी कायिक, वाचिक और मानसिक साधनोंमें मानसिकको ही श्रेष्ठ बताया है। यह बाह्य साधन तब-तक करते रहना चाहिए जब-तक भगवान्‌में स्नेह न उत्पन्न हो जाय। जिस प्रकार अष्टांग योगकी अन्तिम तीन अवस्थाओं (धारणा, ध्यान और समाधि)को सिद्धिका चरम लक्ष्य बताया गया है उसी प्रकार सेवाकी सिद्धिके सम्बन्धमें कहा गया है कि प्रथम अवस्थामें मन कोमल हो जाता है, दूसरी अवस्थामें मन भगवान्‌के अधीन हो जाता है और तीसरी अवस्थामें वह भगवान्‌में तन्मय हो जाता है। इन तीन प्रेम-अवस्थाओंको ही आसक्ति और व्यसन कहते हैं। इस अन्तिम अवस्थाके सिद्ध होनेपर ही मानसी सेवा सिद्ध होती है जिसमें जीव अपने इष्टदेवको ही कर्तव्य, धर्म और गति मानकर उसमें तन्मय हो जाता है।

सेवा के तीन फल

श्री हरिरामचरणजीने बताया है कि मानसी सेवासे तीन फल मिलते हैं—अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य, सेवोपयोगी देह। इनमेंसे अलौकिक सामर्थ्य सर्वोत्तम सायुज्य मध्यम और सेवोपयोगी देह साधारण फल हैं।

जब मानसी सेवासे परम संतुष्ट होकर पूर्ण फल देनेके लिये साधनके हृदय में आकर सुप्रतिष्ठित हो जाते हैं उस समय उस इष्टदेव को अनुभव करनेके सामर्थ्यको ही अलौकिक सामर्थ्य कहते हैं।

सायुज्य फलका तात्पर्य यह है कि भगवानकी नित्य लीलामें भगवानके साथ रहनेका आनन्द प्राप्त हो।

जब भगवानका साधारण अनुग्रह होता है तब तीसरा सेवोपयोगी देह प्राप्त होनेका फल मिलता है। इसमें अलौकिक सेवासे प्राप्त होनेवाली साक्षात् सेवा नहीं मिल पाती। केवल इतना ही होता है कि जो भक्त लोग साक्षात् लीला रसका आनन्द लेनेवाले होते हैं उनके साथ बैठने उठने और उनका सत्संग प्राप्त करनेका अवसर अवश्य मिल जाता है। जिस प्रकार भगवान्‌के अवतारके समय ऋषि मुनी, पशु, पक्षी, मृग आदि भगवान्‌की सेवाका परोक्ष अनुभव करते हैं वैसे ही वैकुण्ठमें सेवोपयोगी देह प्राप्त करनेसे सेवाका परोक्ष अनुभव करनेका सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें नौ प्रकारकी सेवा

श्रीमद्भागवतमें नौ प्रकारकी भक्ति बताई गई है जिसे नौ प्रकारकी बाह्य सेवा समझना चाहिए—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

[भगवान्‌की कथा सुनना, उनका कीर्तन करना, उनका नाम-

स्मरण करना, उनके चरणोंकी सेवा करना, उनकी पूजा करना, उन्हें प्रणाम करना, उनका दास बनकर रहना, उनसे सखा-भाव रखना और सर्वात्म भावसे अपने-आपको उनके हाथोंमें सौंप देना—यही नौ प्रकारकी भक्ति और सेवा है।]

श्रवणका अर्थ है कि किसी भगवद्-भक्तके मुखसे भगवान्‌की लीलाओं, नामों, स्तोत्रों आदिको अत्यन्त श्रद्धाके साथ सुनना। कीर्तनका अर्थ है भगवान्‌के नाम, चरित्र और स्तोत्रोंको श्रद्धाके साथ, भाव-भक्ति और संगीतके साथ बार-बार जपते रहना। स्मरणका अर्थ है भगवानके स्वरूप और लीलाओंको बार-बार मनमें लाना और उनका निरन्तर ध्यान करना। पाद-सेवाका अर्थ है श्रद्धा-पूर्वक भगवान्‌की परिचर्या करते रहना अर्थात् सोहिनी सेवासे लेकर अन्नकूट तककी सेवा करना। अर्चनका भाव है कि भगवान्‌का माहात्म्य हृदयमें समझकर शास्त्रीय विधिसे सेवाके उपचार प्रस्तुत करना। वन्दनका तात्पर्य है कि अपनी दीनता प्रकट करते हुए प्रभुके आगे नमन या प्रणाम करना। दास्यका तात्पर्य है कि किसी भी अन्यका आश्रय न लेकर केवल भगवान्‌का दास बने रहना। सख्यका अर्थ है श्रद्धापूर्वक प्रभुकी सेवा करते हुए भगवान्‌के सुखका ध्यान रखते हुए विभिन्न ऋतुओंके अनुकूल उनको उचित पदार्थ भेंट करना और उपचार करना। आत्मनिवेदनका अर्थ है कि देह, पुत्र, स्त्री, धन तथा जो भी प्रिय पदार्थ हैं वह सब भगवान्‌को अर्पण करना।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके मतानुसार इस नवधा भक्तिके पालनकी रीति यह है कि जिस समय भगवान पौढ़ रहे हों और सेवाका अवसर न हो, उस समय श्रीमद्भागवत, श्रीसुबोधिनीजी तथा भगवन्नामोंका स्मरण करना ही श्रवण भक्ति है। सेवाके अवसर या अनवसरमें जब संस्कृत अथवा देशी भाषाओंमें भगवान्‌की लीलाओं और गुणोंका गान किया जाता है वह कीर्तन भक्ति होती

है। नित्य नियम-पूर्वक शरण-मंत्र, समर्पण-मंत्र तथा बार-बार भगवान्‌का नाम जपनेको स्मरण-भक्ति कहते हैं। भगवान्‌के मन्दिर-में सोहिनी आदिसे झाड़ू-बुहारू करना, भगवान्‌के वस्त्रोंको धोना और रँगना तथा मंगलासे लेकर शयन-पर्यन्त सब प्रकारकी सेवा करना ही पाद-सेवन है। पंचामृत-स्नान, अधिवासन, संकल्प, देवोत्थापन, तथा इन सबके मंत्रोंके साथ धूप, दीप, शङ्खोदक आदि प्रस्तुत करना ही अर्चन है। भगवान्‌को दैन्य भावके साथ प्रणाम करते रहना ही वन्दन है। भगवान्‌का प्रसाद लेना, प्रसाद-रूप वस्त्र धारण करना, कुंकुम, चन्दन आदिसे तिलक करना और भगवान्‌-को छोड़कर किसी दूसरेका आश्रय न लेना ही दास्य भक्ति है। ऋतुओंके अनुसार विभिन्न प्रकारके प्रसादसे भगवान्‌को सुख पहुँचाना ही सख्य भक्ति है तथा देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, स्त्री, पुत्र, गृह, मित्र तथा धनको भगवान्‌की सेवामें लगाना ही आत्मनिवेदन है।

सेवाका महत्त्व

भारतमें जितने भी धर्म, दर्शन, सम्प्रदाय और पंथ हैं, प्रायः सभीमें त्याग, उत्सर्ग, बलिदान और विरागकी शिक्षा दी जाती है; संसारको नश्वर और निःसार बताकर समस्त सांसारिक भोगोंको तुच्छ और त्याज्य बताते हुए जगत्‌के सभी पारिवारिक सम्बन्धोंको माया-मोह मानते हुए सबसे दूर रहकर एकान्त साधनके द्वारा मन और इन्द्रियोंको वशमें करके एकाग्रताके द्वारा ईश्वरकी सिद्धि करने अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करनेका उपदेश दिया जाता है। किन्तु श्रीमद्‌वल्लभाचार्यजीने देखा कि ये सभी सिद्धान्त अव्यावहारिक हैं और केवल तृतीय तथा चतुर्थ आश्रमके ही अनुकूल हैं। अव्यावहारिक होनेके कारण जन-सामान्यको उनके प्रति रुचि नहीं हो सकती और यदि प्रथम तथा द्वितीय आश्रममें उस प्रकारके विरक्त जीवनके प्रति रुचि भी हुई तो वह आश्रम-धर्मके प्रतिकूल अर्थात्

लोक-वेदके विरुद्ध होती है। ऐसी स्थितिमें ऐसे सिद्धान्तकी नितांत आवश्यकता थी जो गृहस्थ धर्म और सांसारिक भोगके साथ-साथ सात्त्विक जीवन वहन करनेका मार्ग-निर्देश करे। यह कमी पुष्टिमार्ग-के उपदेश द्वारा पूर्ण हो गई जिनमें सभी प्रकारके भोग श्रीकृष्णार्पण करके प्राप्त किए जा सकते हैं, जिनमें गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए भी पवित्र और सात्त्विक जीवन व्यतीत किया जा सकता है, जिनमें सब प्रकारके इहलौकिक ऐश्वर्यका भोग भी स्वीकार्य है। यही कारण है कि भारतका धनिक वर्ग शीघ्र ही इस मार्गमें दीक्षित हो गया और आज प्रायः वैश्य तथा धनिक व्यापारी-वर्ग ही पुष्टि-मार्गका अनुयायी है जिसका सुफल यह हुआ है कि धनके साथ जो स्वाभाविक मद उत्पन्न होता है और अनेक प्रकारके व्यसनोंमें प्रवृत्ति होती है उन सबसे हमारे देशका धनी समाज बच गया और सात्त्विक रूपसे धनका प्रयोग करनेकी वृत्ति उनमें जागरित हो गई।

सेवाका विधान करनेसे दूसरा बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि पुष्टि-मार्गीय वैष्णवों तथा गृहस्थोंकी जीवन-चर्या अत्यन्त संयत हो गई। नियमपूर्वक उठकर स्नान-ध्यान आदि करनेसे जीवनमें तो सात्त्विकता आई ही, साथ ही खान-पान, रहन-सहन, आहार-विहार सब संयत और स्वच्छ हो गया जिससे सदाचारके साथ-साथ स्वास्थ्यमें वृद्धि, व्यसनोंसे विराग और लोक-सेवाके कार्योंमें प्रवृत्ति बढ़ गई। इस प्रकार श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने भारतके धार्मिक जीवनको ही नहीं, वरन् राष्ट्रीय जीवनको भी संयत और परिष्कृत करनेमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने आज्ञा दी है कि जीवको किसी भी देश और किसी भी कालमें सेवाके बिना नहीं रहना चाहिए, यही मनुष्यका परम धर्म है।

जब कोई भी व्यक्ति ब्रह्म-संबंधकी दीक्षा प्राप्त कर लेता है तभीसे वह सेवाका अधिकारी हो जाता है। वल्लभ-सम्प्रदायके अनुसार भगवत्सायुज्य प्राप्त करनेका एक मात्र साधन है सेवा। पहले इस प्रकारके परम फलकी प्राप्ति यज्ञ आदिके द्वारा सम्पन्न की जाती थी किन्तु इस कलिकालमें शुद्ध यज्ञके लिये देश, काल, द्रव्य, मन्त्र, कर्ता, कर्म और होता कोई भी शुद्ध नहीं रह गए। इसलिये कलियुगके प्राणियोंके उद्धारके लिये और उनमें सात्त्विक वृत्ति बनाए रखनेके लि श्रीकृष्णकी निष्ठापूर्ण सेवा ही एक मात्र मार्ग श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने बताया है।

———

बाईसवाँ अध्याय

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके सोलह ग्रन्थ

श्रीमद्वल्लभाचार्यजीकी सोलह रचनाएँ षोडश ग्रन्थके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये सभी छोटी-छोटी रचनाएँ पुष्टिमार्गके गहन तत्त्वोंका निरूपण करनेवाली हैं, अतः, इन्हें 'ग्रन्थ' शब्दसे ही संबोधित किया जाता है। ये ग्रन्थ हैं—१. श्रीयमुनाष्टक; २. बालबोध; ३. सिद्धान्तमुक्तावली; ४. पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाभेद; ५. सिद्धान्तरहस्य; ६. नवरत्न; ७. अन्तःकरणबोध; ८. विवेकधैर्याश्रय; ९. श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्र; १०. चतुःश्लोकी; ११. भक्तिवर्द्धिनी; १२. जलभेद; १३. पञ्चपद्य; १४. संन्यासनिर्णय; १५. निरोधलक्षण और १६. सेवाफल।

॥ १. श्रीयमुनाष्टकम् ॥

नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारिपदपंकजस्फुरदमन्दरेणूत्कटाम् ।
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ॥ १ ॥

समस्त अलौकिक सिद्धियोंका देनेवाली, मुरदैत्यके शत्रु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-कमलकी तेजस्वी और अधिक (अर्थात् जलसे विशेष) रेणुको धारण करनेवाली, अपने तटपर स्थित नवीन वनके विकसित सुगन्धित पुष्प-मिश्रित जल-द्वारा, सुर अर्थात् दैन्यभाववाले व्रजभक्तोंके द्वारा और असुर अर्थात् मानभाववाले व्रजभक्तोंके द्वारा अच्छी प्रकारसे पूजित, श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभाको

धारण करनेवाली श्रीयमुना महारानीजीको मैं (श्रीवल्लभाचार्य) सहर्ष नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

कलिन्दगिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला
विलासगमनोल्लसत्प्रकटगण्डशैलोन्नता ।
सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढदोलोत्तमा
मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता ॥ २ ॥

सूर्यमंडलमें स्थित प्रभुके हृदयसे रस-रूपमें प्रकट होकर फिर कलिन्द पर्वतके शिखरपर गिरते हुए अनन्त प्रवाहोंसे उज्ज्वल, विलास-सहित चलनेसे सुन्दर और उत्तम शिलाओंसे उन्नत तथा ध्वनिसहित गमनसे ऊँची-नीची होती अर्थात् उत्तम झूलेमें विराजित हुई-सी दीखती एवं श्रीकृष्णचन्द्रमें प्रीति बढ़ानेवाली श्रीसूर्य-पुत्री श्रीयमुना महारानी श्रेष्ठतासे विराजमान हैं ॥ २ ॥

भुवं भुवनपावनीमधिगतामनेकस्वनैः
प्रियाभिरिव सेवितां शुकमयूरहंसादिभिः ।
तरङ्गभुजकंकणप्रकटमुक्तिकावालुका-
नितम्बतटसुन्दरीं नमत कृष्णतुर्यप्रियाम् ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाली, भूमण्डलमें पधारनेपर जैसे प्रियसखियों द्वारा सेवन होती हो वैसे ही अनेक प्रकारका रव करते हुए तोते, मोर और हंस आदि मधुर शब्द बोलनेवाले पक्षियोंके द्वारा सुसेवित और तरंगरूपी भुजाओंके कंकणोंमें स्पष्ट दीखनेवाली, मोतियोंके समान चमकनेवाली, बालुका-युक्त एवं नितम्ब भाग-रूपी उभय तटोंसे सुन्दर लगनेवाली श्रीकृष्णकी चतुर्थ प्रिया (श्रीयमुनाजी) को हे भक्तगण ! तुम नमन करो ॥ ३ ॥

अनन्तगुणभूषिते शिवविरञ्चिदेववस्तुते
घनाघननिभे सदा ध्रुवपराशराभीष्टदे ।
विशुद्धमथुरातटे सकलगोपगोपीवृते
कृपाजलधिसंश्रिते मम मने सुखे भावय ॥ ४ ॥

अनन्त गुणोंसे सुशोभित, शिव-ब्रह्मादि देवताओं-द्वारा स्तवित, निरन्तर गम्भीर मेघके समूहके समान देदीप्यवती, ध्रुव और पराशरको मनोवाञ्छित फलदान करनेवाली, अत्यन्त शुद्ध मथुरा नगरीको अपने तटपर बसा रखनेवाली सम्पूर्ण गोप-गोपीजनोंसे आवृत तथा कृपासागर श्रीव्रजाधीश्वरके आश्रयमें रहनेवाली हे श्रीयमुनाजी ! हमारे मनको सुख (आनन्दानुभव) दीजिए ॥ ४ ॥

यया चरणपद्मजा मुररिपोः प्रियम्भावुका
समागमनतोऽभवत् सकलसिद्धिदा सेवताम् ।
तया सदृशतामियात् कमलजासपत्नीव यद्
हरि-प्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम् ॥ ५ ॥

जिन श्रीयमुनाजीके समागमसे, भगवच्चरणसे प्रकट हुई श्रीगङ्गाजी भी भगवानको प्रिय हुई, उन श्रीयमुनाजीकी समानता भला कौन प्राप्त कर सकता है ? हाँ, यदि कुछ समानता कर सकती हैं तो वह कुछ न्यूनताके साथ श्रीलक्ष्मीजी ही । ऐसी सर्वोपरि तथा भगवद्भक्तोंके क्लेशोंका नाश करनेवाली श्रीयमुनाजी मेरे मनमें निरन्तर वास करें ॥ ५ ॥

नमोस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयः पानतः ।
यमोपि भगिनीसुतान् कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर्यथा गोपिकाः ॥ ६ ॥

हे श्रीयमुनाजी ! आपको निरन्तर नमस्कार हो । आपका चरित्र अतिशय आश्चर्यकर है, आपके जलका पान करनेसे किसी भी समय यमकी यातना (नरकवास) होती ही नहीं, क्योंकि यमराज भी अपनी बहनके दुष्ट पुत्रोंको कैसे मारे ? अर्थात् नहीं मार सकते । आपका सेवन करनेसे जैसे गोपियाँ भगवान् श्रीव्रजेश्वरको प्रिय बनीं, उसी प्रकार जीव भी आपके सेवनसे भगवत्प्रिय बनता है ॥ ६ ॥

ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता
न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये ।
अतोस्तु तव लालना सुरधुनी परं संगमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि-पुष्टिस्थितैः ॥ ७ ॥

मुक्ति देनेवाले श्रीकृष्णकी प्रिया हे श्रीयमुनाजी ! आपके सन्निधानमें हमारा नवीन शरीर हो, केवल इतनेसे अर्थात् शरीर-परिवर्तनसे ही मुररिपु श्रीकृष्णमें प्रीति अत्यन्त दुर्लभ नहीं अर्थात् सुलभ है । इसलिये आपकी स्तुति-रूप लालना हो । श्रीगङ्गाजीने भी आपके ही संसर्गसे पृथ्वीमें प्रशंसा प्राप्त की है । परन्तु पुष्टिस्थ जीवोंने आपसे अलग अकेली गङ्गाजीकी कभी स्तुति नहीं की ॥ ७ ॥

स्तुतिं तव करोति कः कमलजासपत्नि प्रिये
हरेर्यदनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षतः ।
इयं तव कथाधिका सकलगोपिकासंगम-
स्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः संगमः ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मीजीकी सौतिन ! हे श्रीयमुनाजी ! आपकी स्तुति कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं कर सकता क्योंकि श्रीहरिके पश्चात् श्रीलक्ष्मीजीके सेवन करनेसे मोक्ष-पर्यन्त सुख होता है; परन्तु आपकी यह कथा तो इससे भी अधिक है कि आपके सेवनसे श्रीगोपीजनोंके समागमसे श्रीअंगोंसे प्रकट हुए स्मरश्रमके जलबिन्दुका भी संगम हो जाता है ॥ ८ ॥

तवाष्टकमिदं मुदा पठति सूरसूते सदा
समस्तदुरितक्षयो भवति वै मुकुन्दे रतिः ।
तया सकलसिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभावविजयो भवेद् वदति वल्लभः श्रीहरेः ॥ ९ ॥

हे सूर्यपुत्रि ! आपके इस अष्टकका जो प्रसन्नतापूर्वक निरन्तर पाठ करता है उसके समस्त पाप नष्ट होकर, निश्चय ही मुकुन्द भगवान्में प्रीति होती है। इस प्रीतिके प्राप्त करनेसे सम्पूर्ण सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है तथा स्वभावपर विजय प्राप्त होता है अर्थात् स्वभाव अपने अनुकूल हो जाता है। इस प्रकार श्रीहरिके प्रिय श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कहते हैं ॥ ९ ॥

॥ २. बालबोधः ॥

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम्।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

सदा आनन्द-स्वरूप हरिको नमस्कार करके बालकोंके जाननेके लिये भली प्रकार विचारपूर्वक निश्चय किया हुआ सब सिद्धान्तोंका स्वरूप कहता हूँ ॥ १ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम्।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

विवेकी पुरुषोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ कहे हैं। वे दो प्रकारके हैं—एक तो ईश्वरके कहे हुए और दूसरे जीवके कहे हुए ॥ २ ॥

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशक्तया ॥ ३ ॥

ईश्वरके कहे हुए अलौकिक पुरुषार्थोंका साधन फल-सहित वेदमें वर्णन है। ईश्वरकी ही प्रेरणासे ऋषियोंके द्वारा बनाए हुए लौकिक पुरुषार्थोंका वर्णन पुराण आदिमें है ॥ ३ ॥

लौकिकाँस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥
त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते।

अब लौकिक पुरुषार्थोंका निर्णय कहता हूँ, अलौकिक पुषार्थोंका तो वेदमें ही निर्णय है। धर्मशास्त्र धर्मका साधक है, नीति-शास्त्र अर्थका साधक है और काम-शास्त्र कामका साधक है। इन तीनों शास्त्रोंका निर्णय मैं नहीं कहता हूँ ॥ ४ ॥

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥ ५ ॥
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ।
त्यागात्यागविभागेन साङ्ख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥
अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥

लौकिकमें मोक्षके साधक चार शास्त्र हैं और ये दो भागोंमें विभक्त हैं—एक तो दूसरेकी कृपासे मोक्ष-लाभ करानेवाले और दूसरा स्वयं अपने पुरुषार्थसे मोक्ष-लाभ करानेवाले। अपने पुरुषार्थसे मोक्ष-लाभ करानेवाले दो शास्त्र हैं जो सांख्य और योग नामसे प्रसिद्ध हैं। सांख्यशास्त्रका मत है कि सब वस्तुओंका त्याग कर दिया जाय और योगशास्त्रका मत है कि त्याग न किया जाय। सांख्य मतके अनुसार सबका त्याग करनेसे अहंता अर्थात् अहंकार और ममता या मोहका नाश हो जाता है और अहंकाररहित जीव जब अपने ही स्वरूपमें स्थित हो जाता है तभी कृतार्थी माना जाता है ॥ ५-७ ॥

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥ ८ ॥

उस मोक्षके लिये ऋषियोंने किसी-किसी पुराणमें साधन करनेके लिये बहुत-सी क्रियाएँ भी निरूपित की हैं किन्तु इनके अन्तरंग होनेके कारण उसका फल भी एक ही है ॥ ८ ॥

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोपि मनसैव हि।
यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ९ ॥

योगमार्गके साधनमें साक्षात् तो सब वस्तुओंका त्याग नहीं बताया है किन्तु त्यागके बिना योग सिद्ध हो नहीं सकता इसलिये मनसे त्याग करना बताया है और कहा है कि यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि के अष्टाङ्ग योगका साधन क्रमानुसार करनेसे मन निश्चल होकर योग सिद्ध होता है और ऐसा होनेसे ही कृतार्थता मानी जाती है ॥ ९ ॥

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥१०॥

दूसरे के आश्रयसे मोक्षलाभ करनेके जो दो मार्ग हैं सो मैं बतलाता हूँ । ब्रह्माजी तो ब्राह्मणत्वको प्राप्त हैं इसलिये ब्राह्मण-रूपसे उनकी सेवा-उपासना आदि होती है ॥ १० ॥

ते सर्वार्था न चाद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥११॥
वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥१२॥

चारों पुरुषार्थ ब्रह्मासे सिद्ध भी नहीं हो सकते क्योंकि उन्होंने तो किञ्चित् शास्त्र-निरूपण किया है जिससे जीवोंका कल्याण होता है। अतएव शिव और विष्णु ही जगत्के हितकारी हैं । इसलिये स्थिति और संहार करनेमें भी वे ही दोनों समर्थ हैं, शास्त्रोंके प्रवर्तक हैं और शास्त्रोंमें दोनोंकी सर्वात्मकता भी कही गई है, इसलिये वे ही मूल पुरुष ब्रह्म है ॥ ११-१२ ॥

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥१३॥
भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।
लोकेऽपि यत् प्रभुर्भुङ्क्ते तत्र यच्छति कर्हिचित् ॥१४॥

उनके शास्त्रोंमें अर्थात् शैव पुराणोंमें शिवकी और वैष्णव पुराणोंमें विष्णुकी निर्दोषपूर्ण गुणता लिखी है, तथापि भोग और मोक्षरूपी

फल देनेमें दोनों ही समर्थ हैं। तो भी गुणावतारसे शिवसे भोगकी और विष्णुसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि स्वामीके भोगनेकी वस्तु दूसरेको कदापि नहीं मिल सकती ॥१३-१४॥

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥१५॥

तथापि कोई अत्यन्त प्यारा हो तो उसको कुछ दे दिया जाता है। अतः, नित्य प्रति जो वस्तु प्राप्त हो वह उनको समर्पण कर दी जाय। उनमेंसे प्रत्येकको प्रसन्न करनेका यही साधन है ॥ १५ ॥

प्रत्येकं साधनं चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्श्रमः।
जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥१६॥

अतः, उनकी ही भक्ति की जाय और उनका ही आश्रय लिया जाय, परन्तु मोक्ष-लाभ करनेके लिये तो महान् परिश्रम करना होगा। जीव स्वभावसे ही दुष्ट हैं इसलिये इसे निर्दोष बनानेके लिये सदा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन नामक नवधा भक्ति करनी चाहिए ॥ १६ ॥

श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिध्यति।
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥१७॥

ऐसा करनेसे जब भगवान्से प्रेम हो जायगा तब सब कार्य सिद्ध हो जायँगे। मोक्षकी प्राप्ति विष्णुसे सुलभ है और भोगकी प्राप्ति शिवसे सुलभ है ॥ १७ ॥

समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्।
अतदीयतया चापि केवलश्चेत् समाश्रितः ॥१८॥

उनको आत्मसमर्पण करनेसे और उनकी अटल भक्ति करनेसे ही तदीयता प्राप्त होती है। जिन्होंने आत्म-निवेदन नहीं किया है और ईश्वरका आश्रयमात्र लिया है—॥ १८ ॥

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत्।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ॥१९॥

वे लोग प्रभुका आश्रय लेकर तथा दासपनको बुद्धि रखकर थोड़ा-बहुत जितना कुछ भी बन आवे उतना मन लगाकर भगवद्धर्मका पालन करें और अपने धर्ममें स्थित रहें। जो ऐसा नहीं करता है उसपर दुगुना भार चढ़ता है ॥ १९ ॥

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥२०॥

इस प्रकारसे सब सिद्धान्तका सार मैंने कहा है। इसको अच्छी प्रकार जान लेनेपर फिर किसीको किसी प्रकार भ्रम नहीं रहेगा ॥ २० ॥

॥ ३. सिद्धान्तमुक्तावली ॥

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥ १ ॥

श्रीहरिको नमस्कार करके अपना विवेकपूर्वक निश्चय किया हुआ सिद्धान्त बताता हूँ। कृष्णकी सेवा सदा ही करनी चाहिए। वह मानसी सेवा सबसे उत्तम और परम फलरूप मानी जाती है ॥ १ ॥

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥ २ ॥

चित्तको प्रभुमें लगाना अर्थात् लवलीन कर देना ही सेवा है। उसकी सिद्धिके लिये मन लगाकर तनुजा (शरीरसे) और वित्तजा (द्रव्यसे) प्रभुकी सेवा करे। ऐसा करनेसे संसारके दुःखोंसे छुटकारा हो जाता है और ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो जाता है ॥ २ ॥

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद् विलक्षणम् ॥ ३ ॥

परम ब्रह्म तो एक श्रीकृष्ण ही हैं। सत्, चित् और आनन्द रूपसे सबमें व्याप्त हैं और अक्षर ब्रह्म कहलाते हैं। उस अक्षर ब्रह्मके दो स्वरूप हैं—एक तो 'जगत्' रूप और दूसरा उससे विलक्षण है ॥ ३ ॥

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः ।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ॥ ४ ॥

प्रथम कहे हुए उस प्रपञ्चरूपी ब्रह्मके विषयमें वेदविरोधी विविध वादवाले लोग विविध प्रकारसे कहते हैं। शंकर मतवाले इस जगत्को मायासे बना हुआ, सांख्यवाले गुणोंका कार्य्य, नैयायिक लोग द्व्यणुकादि कर्मसे ईश्वरका बनाया हुआ तथा मीमांसक लोग अनादि कालसे चला आ रहा बताते हैं। बौद्ध, माध्यमिक, वैशेषिक, सौत्रान्तिक, आर्हन्त (जैन), चार्वाक, लोकायतिक, वाम और शाक्त आदि वेदविरोधी मतवाले जगत् (प्रपञ्च) के सम्बन्धमें अपने इच्छानुकूल कहते हैं। अतः, वे एक प्रकारसे न बताकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे बताते हैं ॥ ४ ॥

तदेवैतत् प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ।
द्विरूपं चापि गंगावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी ॥ ५ ॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा ।
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम् ॥ ६ ॥

परन्तु वेदका मत तो यह है कि जो अक्षर ब्रह्म है वही जगत्के रूपमें स्थित है। गङ्गाके समान 'जगत्' रूप ब्रह्मके दो रूप हैं। जैसे एक तो केवल जलरूपिणी गङ्गाजी हैं और दूसरी वे गंगा हैं जो मर्यादा-मार्गकी विधिके अनुसार माहात्म्य जानकर सेवन करनेवालोंको भोग और मोक्ष प्रदान करती हैं, उसी प्रकार जगत्रूप ब्रह्मको भी समझना चाहिए ॥ ५-६ ॥

तत्रैव देवतामूर्तिर्भक्त्या या दृश्यते क्वचित् ।
गंगायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये ॥ ७ ॥

उस जलरूपिणी गङ्गाजीमें उसकी विशेषताको जानकर अभेद-बुद्धिसे जो भक्ति रखता है उसको गङ्गाजीका साक्षात् मूर्तिमान दर्शन होता है ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात् तया जले ।
प्रवाहाच्च फलात् तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते ॥ ८ ॥

यद्यपि प्रत्यक्ष दृष्टिके सम्मुख समस्त प्राणियोंको वे समान दीखती हैं तथापि उनके परम भक्तको प्रत्यक्ष होनेवाली गंगाजीसे गंगाजलमें उत्तम कामनाकी पूर्ति होती है। उसी प्रकार वह श्रीगङ्गाजीका जल निश्चय ही शास्त्रोंमें कहे हुए फलसे और प्रतीतिसे बड़ोंके अंतःकरणके विश्वासके द्वारा भी अन्य जलकी अपेक्षा विशेष होता है ॥ ८ ॥

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।
यथा देवी तथा कृष्णस्तत्राप्येतदिहोच्यते ॥ ९ ॥

जिस प्रकार जलरूपिणी गङ्गाजी हैं, उसी प्रकार जगत् रूप ब्रह्म है। जैसे तीर्थरूपिणी श्रीगङ्गाजी हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म है और जैसे देवीरूपा साकार गङ्गाजी हैं वैसे ही कृष्ण हैं, ऐसा शास्त्रोंमें कहा हुआ है ॥ ९ ॥

जगत् तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः।
देवतारूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः ॥१०॥

अक्षर ब्रह्ममें स्थित श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा, विष्णु शिव आदि देवता-रूप होकर उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि जगत्का सब कार्य करते हैं ॥ १० ॥

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा।
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥११॥

इच्छानुसार विषय-भोगोंकी प्राप्ति तो ब्रह्मा आदि देवताओंसे मिलती है और अपने आत्मामें परमानन्द-स्वरूपका दान श्रीकृष्णसे मिलता है ॥ ११ ॥

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।
आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥१२॥

अतएव पुनः ब्रह्मवादके द्वारा परब्रह्म श्रीकृष्णमें अन्तःकरणको विशेष रूपसे लगाना चाहिए। आकाशमें जिस प्रकार अनन्त छिद्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मरूप अपने आत्मामें अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं। चेतनाका अर्थ जीवात्मा भी लिया गया है ॥ १२ ॥

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ।
गंगातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति ॥१३॥

जिस प्रकार गङ्गातीरपर स्थित गङ्गाका भक्त देवतारूपी मूर्तिमती गङ्गाजीके दर्शन करता है उसी प्रकार हृदयकी काम-क्रोधादिक उपाधियोंका नाश होनेपर ब्रह्म और आत्माका अनुज्ञान होनेपर सर्वत्र भगवद्दर्शन होते हैं ॥ १३ ॥

तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ।
संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥१४॥
अपेक्षितजलादीनामभावात् तत्र दुःखभाक् ।
तत्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥१५॥

और उसी प्रकार कृष्णका भक्त ज्ञानी पुरुष अपने आत्मामें परब्रह्म कृष्णके दर्शन करता है । जिस प्रकार गङ्गाजीसे दूर देशमें रहनेवाला गङ्गाजीके जलकी अप्राप्तिके कारण दुखी होता है । उसी प्रकार जिनका मन अहन्ता-ममता रूपी संसारमें लगा हुआ है वे भी भगवान्के स्वरूपानन्दके सुखसे वञ्चित रहनेके कारण दुःखित रहते हैं । अतः, जिन्होंने श्रीकृष्णके भक्तिमार्गमें प्रवेश किया है, वे सांसारिक उपाधियोंसे मुक्त हैं ॥ १४-१५ ॥

आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ।
लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥१६॥

अपने आत्मानन्द-समुद्रमें विराजमान श्रीकृष्णका ही चिन्तन करना चाहिए । लौकिक कामनाके निमित्त जो कोई कृष्णका भजन करता है उसे बहुत कष्ट होता है ॥ १६ ॥

क्लिष्टोपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ।
ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु ॥१७॥

कष्टोंको सहन करते हुए बराबर कृष्णका भजन करता ही जाय तो उसकी लौकिक कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। ज्ञानके अभावमें पुष्टिमार्गीय भक्त पूजा तथा उत्सव आदिमें नित्य तत्पर रहे ॥ १७ ॥

मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्परः ।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥१८॥

मर्यादा-मार्गीय भक्तको गङ्गाके तीरपर निवास करके श्रीभागवत-का पाठ आदि नित्यप्रति करना चाहिए । शुद्ध पुष्टिमार्गमें श्रीप्रभुका अनुग्रह नियामक है ऐसी स्थितिमें इस प्रकारकी व्यवस्था है ॥ १८ ॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैवं फलिष्यति ।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान् निरूपितः ॥१९॥

ज्ञानी और भक्त दोनोंको क्रमसे प्रथम पुष्टिमार्गमें आनेपर ही पुनः प्रथम कही हुई मानसी सेवा सिद्ध होगी । इस प्रकार प्रथम कथनानुसार भक्तिमार्ग ही ज्ञानमार्गसे श्रेष्ठ है । इसलिये गङ्गाजीके दृष्टान्त-द्वारा विवेचनपूर्वक निरूपण किया गया है ॥ १९ ॥

भक्त्याभावे तु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ।
अन्यथाभावमापन्नस्तस्मात् स्थानाच्च नश्यति ॥२०॥

जिस प्रकार श्रीगङ्गाजीके तटपर स्थित रहनेवाला पुरुष भक्तिके अभावमें अर्थात् भक्ति न हो तो अपने दुष्टतापूर्ण कर्मों-द्वारा अन्यथाभाव—पाखण्डादि दोषोंको प्राप्त होकर उस स्थानसे भी नाशको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ।
एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥२१॥

इस प्रकार मैंने (श्रीवल्लभाचार्यजीने) अपने शास्त्रका जो सर्व-स्वरूप गुप्त है, उसका भी निरूपण किया है । इस हमारे कहे सिद्धान्तोंको जानकर कोई भी पुरुष सम्पूर्ण संशयोंसे मुक्त हो सकता है ॥ २१ ॥

॥ अथ पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ॥

पुष्टिप्रवाहमर्यादा-विशेषेण पृथक् पृथक् ।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च ॥ १ ॥
वक्ष्यामि सर्वसंदेहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुतेः ।
भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ २ ॥

पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा ये तीनों अलग-अलग होते हैं, जिनके जीव, देह, क्रिया, प्रवाह (प्रवृत्ति) और फल, इन पाँचों भेदोंको विशेष रूपसे पृथक्-पृथक् कहता हूँ, जिसके सुननेसे किसी प्रकारका भी संदेह नहीं रहेगा। शास्त्रोंमें जहाँ-जहाँ भक्ति-मार्गका निरूपण किया गया है वहाँ-वहाँ पुष्टिमार्ग समझना चाहिए ॥ १-२ ॥

द्वौभूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोपि व्यवस्थितः ।
वेदस्य विद्यमानत्वान् मर्यादापि व्यवस्थिता ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च" के अनुसार इस लोकमें दो प्रकारकी सृष्टि है, एक दैवी और दूसरी आसुरी। इस प्रमाणसे 'प्रवाह-मार्ग' भी माना है और वर्णाश्रम-धर्म आदिकी मर्यादा बतलानेवाला 'वेद' भी विद्यमान है इसलिये मर्यादा-मार्ग भी माना है ॥ ३ ॥

कश्चिदेव हि भक्तो हि 'यो मद्भक्त' इतीरणात् ।
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥ ४ ॥

भगवद्गीतामें कहा है कि "कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्तः स मे प्रियः" ; कोई बिरला ही मेरा भक्त होता है और जो मेरा भक्त है, वह मुझको अत्यन्त प्यारा है। इस प्रकार भगवान्ने श्रीमुखसे भक्तको सबसे श्रेष्ठ कहा है। अतः, निश्चय 'पुष्टिमार्ग' भी एक मार्ग है ॥४॥

न सर्वतः प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदतः ।
'यदा यस्ये'तिवचनान्नाहं वेदैरितीरणात् ॥ ५ ॥

सब मार्गोंका पुष्टिमार्गके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। भागवतमें लिखा है कि 'यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ।' आत्माके प्यारे भगवान् जब इस जीवको ग्रहण करते अर्थात् अपनाते हैं तब वह लौकिक और वैदिक कामनाओंको त्याग देता है। गीतामें लिखा है कि 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥' तुमने जो मेरे स्वरूपका दर्शन अभी किया है वह दर्शन न तो

किसीको वेदपाठ करनेसे प्राप्त हो सकता है, न तपस्या करनेसे, न दान करनेसे और न यज्ञादिसे ही हो सकता है। उपर्युक्त श्रीभागवत-के और गीताके प्रमाणोंसे यह बात विदित होती है कि पुष्टिमार्गीय भक्तको लौकिक-अलौकिक और वैदिक कर्म करनेसे कुछ अपराध या हानि नहीं होती। इसलिये पुष्टिमार्गको प्रवाह-मार्ग और मर्यादा-मार्गकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि यह मार्ग इनसे भिन्न है और परमोत्तम है ॥ ५ ॥

मार्गैकत्वेपि चेदन्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ।
न तद् युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिकः ॥ ६ ॥

यदि कोई कहे कि सब मार्ग भक्ति मार्गके ही साधक हैं इसलिये इसीके अंग हैं तो ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि भक्ति-सूत्रकी और वेदकी युक्तिके अनुसार पुष्टिमार्ग दोनों मार्गोंसे भिन्न है ॥ ६ ॥

जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः।
यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधतः ॥ ७ ॥

जीव सब नित्य हैं और उनके देहकी कृति एक दूसरेसे विभिन्न है ऐसा वेदमें लिखा है। इस प्रमाणसे--"पुष्टिमार्ग" उन दोनों मार्गोंसे भिन्न है ॥ ७ ॥

प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपितः।
सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् ॥ ८ ॥

उपर्युक्त प्रमाणानुसार "पुष्टिमार्ग" सबसे भिन्न है, ऐसा निरूपण किया है। अब सर्गभेदको उसके स्वरूप अंग और क्रिया-सहित बतलाता हूँ ॥ ८ ॥

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ॥ ९ ॥

प्रभुने अपने इच्छा-मात्रसे प्रवाही सृष्टि रची है, वाणीसे

वेदमार्ग बनाया है और पुष्टि—सृष्टि अपने साक्षात् श्रीअङ्गसे की है ॥ ९ ॥

मूलेच्छातः फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च ।
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोपि नैकता ॥१०॥

प्रवाही सृष्टिको मूल इच्छाके अनुसार फल मिलता है, वैदिक सृष्टिको वेदमें लिखे अनुसार फल मिलता है और पुष्टि सृष्टिको प्रभुके स्वरूपानन्दका फल मिलता है। इस प्रकार फल भी सबको भिन्न-भिन्न प्रकारसे मिलते हैं, एक प्रकारसे नहीं ॥ १० ॥

'तानहं द्विषतो'वाक्याद् भिन्नाः जीवाः प्रवाहिणः ।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥११॥

गीताजीमें भगवान्ने कहा है कि "तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ॥ क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥" मैं उन द्वेष करनेवाले क्रूर नराधमोंको संसारमें अशुभ आसुरी योनिमें ही बराबर फेंकता हूं। गीताके इस प्रमाणानुसार प्रवाही जीव भिन्न हैं और दूसरे मर्यादामार्गीय जीव प्रवाही जीवोंसे भिन्न हैं, क्योंकि अन्तमें उनको मोक्षका अधिकार है ॥ ११ ॥

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥

इसलिये निःसन्देह पुष्टिमार्गीय जीव सबसे भिन्न हैं और वह सृष्टि केवल भगवद्रूपकी सेवाके लिये ही बनाई गई है। इसलिये इनमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता । १२ ॥

स्वरूपेणावतारेण लिंगेन च गुणेन च ।
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा ॥१३॥

पुष्टिमार्गीय जीव, देहमें, लिंगमें, क्रियामें, गुणोंमें एक दूसरेसे न्यूनाधिक देखनेमें नहीं आते हैं अर्थात् तीनों प्रकारके जीवोंके देह आदि बाह्य दृष्टिवालोंको एक समान दीखते हैं ॥ १३ ॥

तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि ।
ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान् मिश्रास्त्रिधा पुनः ॥१४॥

तो भी प्रभुको जितना काम जिससे कराना होता है उसके अनुसार उनमें न्यूनाधिकता करते ही हैं। ये पुष्टिमार्गीय जीव भी दो प्रकार के होते हैं—एक 'शुद्धपुष्टि' और दूसरे 'मिश्रपुष्टि'। ये मिश्रपुष्टि जीव भी तीन प्रकार के होते हैं ॥ १४ ॥

प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः ॥१५॥

एक तो 'पुष्टिमिश्र पुष्टि' दूसरे 'मर्यादामिश्र पुष्टि', तीसरे 'प्रवाहीमिश्र पुष्टि'। इस प्रकारके भेद भगवान्ने अपना कार्य सिद्ध करनेकी दृष्टिसे ही बनाए हैं ॥ १५ ॥

मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभाः ।
एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते ॥१६॥

जो 'पुष्टिविमिश्र' पुष्टिजीव हैं वे सभी बातोंको जाननेवाले होते हैं। जो 'प्रवाहमिश्र' पुष्टिजीव हैं वे सांसारिक काम-काजमें तत्पर रहते हैं। जो 'मर्यादामिश्र' पुष्टिजीव होते हैं वे भगवान्के वे गुण जानते हैं, और आनन्द-रूप 'शुद्ध पुष्टि' जीव मिलने तो अत्यन्त दुर्लभ हैं, जिनको प्रेम-लक्षणा भक्ति सिद्ध हो गई है। इस प्रकार सृष्टिका क्रम चलता है। अब उनके फलोंका निरूपण करता हूँ ॥ १६ ॥

भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि ।
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत् ॥१७॥

पुष्टिमार्गीय जीवको भूतलपर आनेके पश्चात् अपने-अपने गुण और स्वरूपके अनुसार भगवान् ही फलके रूपमें प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित् ।
अहंकारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि ॥१८॥

जब पुष्टिमिश्र भक्त लौकिक विषयोंमें आसक्त या अहंकारी हो

जाता है तो उसे भगवान् कभी कुछ शाप भी दिला देते हैं, परन्तु वह शाप भी मार्ग-स्थापनके लिये ही दिलाया जाता है ॥ १८ ॥

न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवाः ।
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे ॥१९॥

शाप मिलनेपर भी उनमें न तो पाखण्डता होती है और न उनको रोग आदिसे उपद्रव होते हैं । क्योंकि वे तो महानुभाव अर्थात् बड़े ही महात्मा होते हैं ! प्रायः शास्त्र (भागवत तथा भगवद्गीतादि) का श्रवण-पाठ आदि करनेसे उनकी शुद्धि हो जाती है ॥ १९ ॥

भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि ।
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा ॥२०॥

श्रीभगवान्की इच्छाके भेदसे ही वे पुष्टिमार्गीय जीव बड़े-छोटे होते हैं, इन पुष्टिमार्गीय जीवोंमें जो लौकिक और वैदिक कर्मोंमें प्रीति होती है वह दिखावे मात्रके लिये रहती है, वस्तुतः रुचि नहीं होती ॥ २० ॥

वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ।
सम्बन्धिनस्तु ये जीवाः प्रवाहस्थास्तथापरे ॥२१॥

इन पुष्टिमार्गीय जीवोंमें वैष्णवता स्वाभाविक होती है । यद्यपि इनका सम्बन्ध प्रवाह-मार्गी तथा अन्य प्रकारके जीवोंसे भी होता है, तथापि इन प्रकारके जीवों और विषयोंसे इनका मेल नहीं खाता ॥ २१ ॥

चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित् ॥२२॥

ऐसे सब जीव चर्षणी (कलछी या चम्मच) जैसे होते हैं कि सबसे क्षणमात्रके लिये मिले तो रहते हैं पर उन चर्षणी जीवोंकी किसीमें भी रुचि नहीं रहती ॥ २२ ॥

तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।
प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान् ॥२३॥

उन जीवोंको अपनी-अपनी क्रियाके अनुसार सब स्थानोंमें सब

प्रकारके फल प्राप्त होते हैं। अब स्वरूप, अङ्ग एवं क्रिया-सहित प्रवाहमें रहनेवाले जीवोंका मैं कथन करता हूँ ॥ २३ ॥

जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे 'प्रवृत्तिं चे'ति वर्णिताः।
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ॥२४॥

प्रवाही जीव सब आसुरी होते हैं। उनके विषयमें भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि "प्रवृत्तिं च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥" (अ० १६ श्लोक ७) आसुर जीव प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते अर्थात् किस कार्यमें प्रवृत्त होना तथा किससे निवृत्त होना ये नहीं जानते। इन आसुरी जीवोंमें शुद्धता, श्रेष्ठ आचार, तथा सत्यता नहीं रहती है। अज्ञ और दुर्ज्ञ भेदसे ऐसे जीव दो प्रकारके कहे गए हैं ॥ २४ ॥

दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः।
प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते ॥२५॥

दुर्ज्ञेय जीवोंका वर्णन भगवान्‌ने गीतामें किया है। जो आसुरी जीवोंका अनुकरण करते हैं वे अज्ञेय हैं अर्थात् पहचानमें नहीं आते। पुष्टिमार्गवाले जीव प्रवाहमें आकर भी उनके साथ नहीं मिलते ॥ २५ ॥

सोपि तैस्तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः ॥२६॥

आसुर जीव भी उनके साथ यदि उनके कुलमें पैदा होता है तो वेद विरोधी कर्मोंके द्वारा असुर ही होता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितः पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः सम्पूर्णः ॥४॥

[यह पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा-भेदका विवेचन अपूर्ण ही प्राप्त होता है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजीकी प्रतिज्ञाके अनुसार प्रवाह-मार्गीय जीवके साधन, अङ्ग, क्रिया और फलका तथा मर्यादा-मार्गीय जीवोंके प्रयोजन, स्वरूप, अङ्ग, क्रिया, साधन तथा फलका विवेचन होना चाहिए।]

॥ ५. सिद्धान्तरहस्यम् ॥

श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

श्रावण मासके शुक्लपक्षकी एकादशी (पवित्रा एकादशी) की मध्यरात्रिमें साक्षात् भगवान् श्रीगोवर्धनोद्धरणने प्रकट होकर जो कुछ कहा वह अक्षरशः मैं (श्रीवल्लभाचार्य) कहता हूँ ॥ १ ॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषा पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥

ब्रह्मसम्बन्ध करनेसे देह और जीव-सम्बन्धी सब दोषों की अवश्य निवृत्ति हो जाती है । ये दोष पाँच प्रकारके कहे गए हैं ॥ २ ॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन ॥ ३ ॥

लोक और वेदमें निरूपण किये हुए सहज, देशज, कालज, संयोगज और स्पर्शज दोष किसी प्रकार भी मानने योग्य नहीं हैं । सहज दोष वे हैं जो जीवके साथ उत्पन्न होते हैं । देशज दोष उन्हें कहते हैं जो देश के कारण उत्पन्न होते हैं । कालज कालसे उत्पन्न होनेवाले, संयोगज संयोगसे उत्पन्न होनेवाले, तथा स्पर्शज दोष स्पर्शसे उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥

ब्रह्म-सम्बन्ध किए बिना दूसरे किसी प्रकारसे समस्त दोषोंकी निवृत्ति नहीं होती इसलिये ब्रह्म-सम्बन्ध अर्थात् आत्मनिवेदन आवश्यक है अतः, असमर्पित वस्तुओंका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥४॥

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तं समर्पणम् ॥ ५ ॥

जिनका आत्मनिवेदन अर्थात् ब्रह्मसम्बन्ध हो चुका है वे समस्त वस्तुएँ भगवान्‌के लिये समर्पण करके ही अपना सब कार्य करें। यही भक्तिमार्ग की मर्यादा है। सामिभुक्त अर्थात् अर्धभुक्त वस्तुका समर्पण देवाधिदेव श्रीकृष्णको नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्।
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥

अतएव प्रथम समस्त कार्य्योंमें सब वस्तुएँ श्रीभगवान्‌को समर्पण करनी चाहिए। भगवन्निवेदित वस्तुका उपयोग अपने लिये नहीं करना चाहिए। ये वचन भिन्नमार्ग या पूजामार्गके लिये हैं, क्योंकि भक्तिमार्गकी रीतिके अनुसार सब कुछ श्रीहरिका ही है ॥ ६ ॥

न 'ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ॥ ७ ॥

लोकमें सेवकोंका जिस प्रकार कार्य सिद्ध हो उस प्रकार सब कुछ भगवान्‌को समर्पण करके ही सब कार्य्य करना उचित है; क्योंकि ऐसा करनेसे ही सबकी ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥ ७ ॥

गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना।
गंगात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वदत्रापि चैव हि ॥ ८ ॥

जिस प्रकार गङ्गाजीमें आनेवाले समस्त दोष और गुण मिलकर सब गंगामय हो जाते हैं और गङ्गारूपसे उनका निरूपण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार सब पदार्थ आत्मनिवेदन होनेपर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचितं सिद्धान्तरहस्य सम्पूर्णम् ॥ ५ ॥

॥ ६. नवरत्नम् ॥

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

जिन्होंने प्रभुको आत्मनिवेदन कर किया है उनको चाहिए कि कभी किसी प्रकारकी चिन्ता न करें। अनुग्रह-परायण भगवान् अङ्गीकृत जीवोंकी लौकिक गति नहीं करेंगे ॥ १ ॥

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

पुष्टिमार्गीय जोव तादृशीय (भगवदीय) महानुभावोंके साथ निवेदनका विशेष रूपसे स्मरण करते रहें। भगवान् सबके ईश्वर, सबके नियामक एवं सबके आत्मरूप हैं; वे अपनी इच्छासे कल्याण ही करेंगे ॥ २ ॥

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

आत्मनिवेदन होनेके पश्चात् निवेदित समस्त पदार्थोंके साथ श्रीप्रभुका सम्बन्ध है। जिन्होंने निवेदन किया है, उनका केवल कोई भिन्न सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा ही है तो फिर किसी पदार्थका अन्यमें विनियोग होनेपर चिन्ता करना उचित नहीं, क्योंकि वह भी तो भगवान्का ही है ॥ ३ ॥

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिवेदना ॥ ४ ॥

अज्ञानसे अथवा ज्ञानसे जिन्होंने आत्मनिवेदन किया है, उन्हें चिन्ता करना उचित नहीं। फिर जिन्होंने श्रीकृष्णको प्राण समर्पण कर दिया है, उन्हें किस बातका शोक है ? ॥ ४ ॥

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीपुरुषोत्तमको 'निवेदन' कर देनेपर और अन्यके लिये 'विनियोग' समझकर चिन्ता छोड़ देनी चाहिए, क्योंकि प्रभु स्वतः सब प्रकारसे समर्थ हैं ॥ ५ ॥

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

पुष्टिमार्ग या अनुग्रह-मार्गमें स्थित जीवको श्रीभगवान् लोक और वेदके फेरमें नहीं डालेंगे । इस विषयमें आप सब पुष्टिमार्गीय भक्त साक्षी रूप हैं ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

श्रीगुरुदेवके आज्ञानुसार प्रभुकी सेवा करनी चाहिए । किसी समय प्रभुकी इच्छासे उसमें किसी प्रकारकी अड़चन आ भी पड़े और गुरुकी प्रथम आज्ञाके अनुसार सेवा न भी बन सके तो भी कोई चिन्ताकी बात नहीं । वैष्णवको चाहिए कि चित्तको सेवा-परायण रखकर सुखपूर्वक रहे ॥ ७ ॥

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

श्रीप्रभुकी सेवा करते हुए किसी समय भगवान् चित्तमें उद्वेग कराकर जो कुछ करेंगे उसे उनकी वैसी ही लीला मानकर बहुत शीघ्र चिन्ताका त्याग कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं 'श्रीकृष्णः शरणं मम' ।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

इसलिये सब प्रकार सदैव 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस प्रकार उच्चारण करते हुए रहना चाहिए यही मेरी सम्मति है ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचितं नरवत्नं सम्पूर्णम् ॥ ६ ॥

॥ ७. अन्तःकरणप्रबोधः ॥

अंतःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात् परं नास्ति देवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण ! मेरे वाक्योंको सावधान होकर श्रवण कर । वस्तुतः श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई भी देवता दोष-रहित नहीं है ॥ १ ॥

चांडाली चेद् राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेऽपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

कोई चाण्डाली राजपत्नी हो जाय और राजा उसका विशेष सम्मान भी करे पर यदि किसी समय राजा उसे अपमानित भी कर दे तो उसका क्या बिगड़ता है ॥ २ ॥

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पण या आत्मनिवेदनके पहले क्या मैं सदा उत्तम रहा और अब मुझमें कौनसी अधमता आ गई है कि जिसके कारण मुझे पश्चात्ताप हो ॥ ३ ॥

सत्यसङ्कल्पको विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

भगवान् विष्णु सत्य प्रतिज्ञावाले हैं । वे अपनी प्रतिज्ञाके विपरीत कभी कुछ नहीं करेंगे । हमें सदा उनकी आज्ञके अनुसार ही चलना चाहिए । यदि ऐसा न करेंगे तो स्वामि-द्रोह होगा ॥ ४ ॥

सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान् मधुवने न कृतं तद् द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

स्वामीकी आज्ञाके अनुसार चलना सेवकका धर्म है । वे अपने वचनका पालन स्वयं करेंगे । प्रथम गंगासागरके संगमपर और फिर

मधुवनमें जो 'देह और देशके परित्यागके सम्बन्धमें' आज्ञा हुई उस आज्ञाका पालन मैंने नहीं किया; किन्तु मैंने तृतीय आज्ञाका पालन किया जो कि लोकमें प्रसिद्ध है ॥ ५-६ ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत् कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ॥७॥

मैं तो सेवक हूँ, अतः, स्वामीकी आज्ञाके विपरीत कुछ नहीं कर सकता, फिर पश्चात्ताप कैसा ! क्योंकि श्रीकृष्णको कभी भी लौकिक नहीं समझना चाहिए । भक्तिके द्वारा सब समर्पण करके तुम कृतार्थ हो गए, अतः, सुखसे रहो ॥ ७ ॥

प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ।
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।
लोकवच्चेत् स्थितिर्मे स्यात् किं स्यादिति विचारय ॥८-९॥

जिस प्रकार माता-पिता प्रौढावस्था-सम्पन्न पुत्रीको स्नेहवश उसके स्वामी (पति) के पास नहीं भेजते; उस प्रकार अपने शरीर-से ममता नहीं करनी चाहिए क्योंकि सेवाके बिना पति प्रसन्न नहीं होता । यदि लोकके समान मेरी स्थिति रहा तो क्या होगा, यह तो विचार करो ॥ ८-९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।
इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

असमर्थ होनेपर प्रभु ही हमारी सहायता करेंगे । इसलिये हे अन्तःकरण ! तू मोहमें मत पड़ । इस प्रकार श्रीकृष्णके दास श्रीवल्लभाचार्यजीने अपने चित्तको हितकारी वचन कहे हैं जिनको सुनकर भक्त लोग चिन्ता-रहित बनें ॥ १० ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितोन्तःकरणप्रबोधः सम्पूर्णः ॥ ७ ॥

॥ ८. विवेक-धैर्याश्रयनिरूपणम् ॥

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

जिस प्रकार सदैव विवेक और धैर्य्य धारण करना उचित है उसी प्रकार श्रीभगवान्का आश्रय रखना भी उचित है । यही समझना विवेक है कि श्रीहरि ही अपनी इच्छासे सब कुछ करेंगे ॥ १ ॥

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

स्वामीका अभिप्राय क्या है इस विषयमें सेवकको कोई ज्ञान नहीं होता । तब प्रार्थना करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है । सर्वत्र सब कुछ उनका ही है और उनमें सब कुछ करने का सामर्थ्य है । अतः पुष्टिमार्गीय भक्त प्रभुसे किसी बातके लिये कभी प्रार्थना न करे, सब कुछ भगवान्पर छोड़ दे ॥ २ ॥

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।
आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अपनेको स्वामीके अधीन मानकर सब प्रकारका अभिमान त्याग देना चाहिए । अलौकिक या सेवा-सम्बन्धी कोई प्रभुकी विशेष आज्ञा जब अपने अन्तःकरण-द्वारा प्रकट हो तब उसीके अनुसार आचरण करना उचित है । आपत्तिके अवसरपर तथा गमन आदि कार्य्योंमें कभी हठ नहीं करना चाहिए ॥ ३-४ ॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।
विवेकोऽयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

किसी भी विषयमें आग्रह न करके धर्म और अधर्मका

विचार करना चाहिए । इस प्रकार मैंने विवेकके विषयमें अपना मत बताया । अब धैर्यका निरूपण करता हूँ ॥ ५ ॥

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।
तक्रवद् देहवद् भाव्यं जडवत् गोपभार्यावत् ॥ ६ ॥

सदैव मृत्युपर्यन्त आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके दुःखोंको सब प्रकारसे सहन करना ही धैर्य कहलाता है । तक्रके समान, देहके समान, जड भरतके समान तथा गोपभार्याके समान भावना रखनी चाहिए ॥ ६ ॥

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

यदि श्रीप्रभुकी इच्छासे या अन्य कारणोंसे दुःखका निवारण होता हो तो दुःख भोगनेका आग्रह नहीं करना चाहिए । पत्नी इत्यादि अथवा अन्य असत् पुरुषोंके आक्रमणोंको धैर्यके साथ सहन करना चाहिए ॥ ७ ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

स्वयं मन, वचन और कर्मसे इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग कर देना ही उचित है । अपना असामर्थ्य विचारकर और भगवान्‌के सामर्थ्य-पर विश्वास करके विषय-भोगका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए । इन्द्रियोंको जीतनेके लिये जिस शौर्यकी आवश्यकता है वह सबमें नहीं रहता इसलिये वे भगवान्‌का सामर्थ्य लेकर अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं ॥ ८ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत् सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

जिन कार्योंके करनेमें हम सामर्थ्य-रहित हैं उनमें श्रीहरि ही सहायक हो सकते हैं । उनके आश्रयसे ही सब कार्य सिद्ध होते हैं ।

इस प्रकार यहाँ धैर्यके सम्बन्धमें मैंने निरूपण किया। अब आगे आश्रयके विषयका निरूपण करता हूँ ॥ ९ ॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥

इस लोकके और परलोकके सब कार्योंमें श्रीहरि ही एक मात्र शरण या सहारे हैं। दुःख, पाप, भय, असफलता, भक्तद्रोह अथवा भक्तिके अभावमें दुःख प्राप्त होने तथा इस प्रकारकी अन्य शोचनीय अवस्थाओंमें भगवान्‌का आश्रय ही उचित है ॥१०-११॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थं शरणं हरिः ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥

अहंकार होनेपर, पोष्य वर्गका भरण-पोषण और रक्षण करनेके लिये, पोष्य वर्ग या सेवकों-द्वारा दुःख पानेपर, अलौकिक मानसी सेवा सिद्धिमें तथा इस प्रकारके सब कामोंके लिये हरिकी ही शरणमें जाना चाहिए। इस प्रकार सदैव चित्तमें विचारते रहना चाहिए और मुखसे अष्टाक्षर मन्त्र 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का उच्चारण करते रहना चाहिए ॥ १२-१३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थनाकार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥

दूसरे देवताओंका भजन, स्वयं दूसरे देवताओंके यहाँ जाना और किसी भी कार्यके लिये उनसे प्रार्थना करना, इन तीनों बातोंको त्याग देना चाहिए ॥ १४ ॥

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातको भाव्यो प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥

अविश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि यह निश्चय बाधक ही है। मेघनादने हनुमानजीको ब्रह्मास्त्रसे बाँधा था; तब वे बँध गए परन्तु रावणको उसपर अविश्वास था इसलिये उसने हनुमानजीको लोहेकी मोटी जंजीरसे बाँधा तब ब्रह्मास्त्रने अपना गुण छोड़ दिया और हनुमानजीने उस मोटी जंजीरको भी तोड़ डाला। विश्वास रखनेके कारण चातक पक्षीको, मेघ जड होनेपर भी स्वाती नक्षत्रमें वर्षा करके जल देता ही है। इस प्रकार ब्रह्मास्त्र और चातक पक्षीके दृष्टांतको स्मरण रखते हुए जो कुछ प्राप्त हो सके उसे ममता-रहित होकर सेवन करे ॥ १५ ॥

यथाकथंचित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरण भावयेद्धरिम् ॥१६॥

जितना बने उतना लौकिक, वैदिक तथा अन्य कार्य भी करता रहे। विशेष कहनेकी क्या आवश्यकता है? सदा श्रीहरिकी शरण में रहे ॥१६॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥१७॥

इस प्रकार सदैव सबका हित करनेवाला आश्रयका स्वरूप मैंने कहा। इन तीनोंके बिना कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग सिद्ध होना बहुत कठिन है ऐसी मेरी सम्मति है ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं विवेकधैर्याश्रयनिरूपणं सम्पूर्णम् ॥८॥

॥ ९. श्रीकृष्णाश्रयः ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

दुष्टधर्मवाले इस कलिकालमें मनोवाञ्छित फलप्राप्तिके कर्म ज्ञान, उपासना आदि सब साधन मार्ग लुप्त हो चुके हैं और लोग अत्यन्त पाखण्डी हो गए हैं। इसलिये श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ १ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

कुरुक्षेत्र, गङ्गातट आदि सब पवित्र देश म्लेच्छ पुरुषों से व्याप्त हो गये हैं तथा एक मात्र पापके स्थान बन गए हैं और सज्जनोंकी पीडा को देखकर लोग अधीर हो रहे हैं। इसलिये श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ २ ॥

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इस कलियुगमें दुष्ट पुरुषोंसे घिरे हुए गङ्गा आदि मुख्य तीर्थोंके अधिष्ठाता देवता तिरोहित हो गए हैं इसी कारण उनसे यथार्थ फलकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

सज्जन पुरुष भी अभिमानसे भ्रान्त हो रहे हैं, स्वार्थसिद्धिके लिये पापका अनुसरण तथा प्रतिष्ठाके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, इस लिये श्रीकृष्णही मेरे रक्षक हैं ॥ ४ ॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

गुरुसेवा न बनने कारण पाठ, अर्थ और विनियोग आदिके अज्ञानसे वैदिक तथा अन्य मन्त्रोंका नाश हो गया है, तथा ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंसे हीन पुरुषोंके पास रहनेसे उन मन्त्रोंके अर्थ और अधिष्ठाता देवता तिरोहित हो गए हैं। इसलिये श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

शास्त्र विरुद्ध अनेक प्रकारके विवादोंसे वेदोक्त सम्पूर्ण कर्म, व्रत आदिका नाश हो गया है और लोग केवल पाखण्ड दिखानेके लिये ही प्रयत्न कर रहे हैं। इसलिये श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ६ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

नामग्रहण-मात्रसे अजामिल आदि दुष्ट जीवोंके महापापोंका नाश करनेवाले तथा दोषोंके नाश करनेवाले हैं। इस प्रकार भक्तोंके अनुभवमें आनेवाले और दैवी जीवोंको अपने सम्पूर्ण माहात्म्य-ज्ञान करानेवाले श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ७ ॥

प्राकृताः सकला देवाः गणितानन्दकं बृहत्।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता भगवान्‌की शक्ति मायाके वशीभूत हैं और अक्षर ब्रह्मके आनन्दकी भी अवधि है इसलिये अगणित आनन्द-वाले और भक्तोंके सब दुःख दूर करनेवाले श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेक, धैर्य, भक्ति आदि भगवान्‌के धर्मोंसे रहित, पापोंमें अत्यन्त आसक्त तथा मुझ-जैसे अत्यन्त दीन व्यक्तिके लिये श्रीकृष्ण ही रक्षक हैं ॥ ९ ॥

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

हे कृष्ण! आप सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त हैं, और सब अवस्थाओंमें भक्तोंके सारे मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं इसलिये शरणमें आए हुए भक्तका उद्धार करनेवाले हे प्रभो! मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ ॥१०॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

जो भगवान् श्रीकृष्णके समीप इस श्रीकृष्णाश्रय-स्तोत्रका पाठ करता है उस मनुष्यके श्रीकृष्ण स्वयं आश्रय हो जाते हैं। यह श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुने आज्ञा की है ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥ ९ ॥

॥ १०. चतुःश्लोकी ॥

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सदैव सर्वभावसे श्रीव्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनेके योग्य हैं। अपना (जीवात्माका) यही धर्म है। किसी देशमें और किसी कालमें श्रीकृष्णकी भक्तिके अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं है ॥ १ ॥

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

इस प्रकार सदैव सेवारूप स्वधर्मका पालन करना चाहिए। प्रभु स्वयं अपना कर्तव्य पूर्ण करेंगे। श्रीप्रभु सब कुछ करनेमें समर्थ हैं यह समझकर भक्त निश्चिन्त रहे ॥ २ ॥

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

हे मन! यह बता कि यदि श्रीगोकुलके अधिपति श्रीकृष्णको सम्पूर्ण रूपमें सब प्रकारसे अपने हृदयमें धारण कर लिया है तो फिर लौकिक और वैदिक फलोंसे प्रयोजन क्या रह जाता है? ॥ ३ ॥

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अतएव सब प्रकारसे सदैव श्रीगोकुलेशके चरणकमलका स्मरण और भजन करते रहना चाहिए यही मेरी सम्मति है ॥ ४ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा ॥ १० ॥

॥ ११. भक्तिवर्धिनी ॥

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

जिस प्रकार भक्तिकी वृद्धि हो उसका उपाय बताया जाता है। बीज भावके दृढ होनेपर ही भक्तिकी वृद्धि होती है, साथ ही त्याग-पूर्वक श्रीभगवानकी कथाओंके श्रवण तथा कीर्तनसे भक्तिकी वृद्धि होती है ॥ १ ॥

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजकी दृढ़ताका प्रकार यह है कि स्वधर्म पालन करते हुए घरमें रहकर सब प्रकारके व्यवसायका त्याग करके भगवत्सेवा और श्रवण आदिके द्वारा श्रीकृष्णका भजन करे ॥ २ ॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

यदि गृहस्थाश्रमके निर्वाहके लिये व्यवसाय करना भी पड़े तो उसे करते हुए भगवानमें चित्त लगाया जाय तथा सदैव श्रवण आदि भक्ति में प्रयत्नशील रहे जिससे प्रभुमें प्रेम, आसक्ति और व्यसन बढ़ता रहे ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः ॥ ४ ॥

शास्त्रमें उसी बीजको दृढ कहते हैं जो किसी कारणसे नष्ट न हो पावे। भगवान्में स्नेह करनेसे सांसारिक रागोंसे निवृत्ति होती है तथा भगवान्में आसक्ति होनेपर घरसे अरुचि हो जाती है ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि ॥ ५ ॥

इस अवस्थामें भक्तको यह प्रतीत होने लगता है कि घरमें रहने-

वाले बाधक हैं तथा अपने सगे नहीं हैं। जिस समय श्रीकृष्णमें व्यसन हो जाता है उसी समय वह जीव कृतार्थ हो जाता है ॥ ५ ॥

तदृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम्।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदार्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्।

ऐसे व्यसनावस्थावाले भक्तको घरमें सदैव रहना बाधक जान पड़ने लगता है। अतएव जो भक्त घर-बार त्यागकर केवल भगवत्-प्राप्तिके निमित्त एकाग्रचित्त होकर प्रयत्नशील रहता है वह भक्त सबसे अधिक और दृढ भक्ति प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंगात् तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

किन्तु घर त्याग करनेपर भी अनेक प्रकारकी बाधाएँ उठ खड़ी होती हैं; क्योंकि अन्यत्र जानेपर भी दुःसंग और अन्नदोष-का भय बना रहता है जो भक्तिमें बाधक हो सकते हैं। अतएव भगवदीय जनोंके साथ भगवत्परायण होकर श्रीभगवत्-स्थानमें निवास करना चाहिए। भगवन्मन्दिर तथा भगवदीयोंके समीपमें अथवा दूर इस प्रकार रहना चाहिए कि जिससे चित्त दूषित न हो ॥ ७-८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

भगवत्सेवा अथवा भगवत्कथामें जिनको जीवन-पर्यन्त दृढ आसक्ति रहती है उनका कहींपर भी नाश नहीं होता यह मेरी सम्मति है ॥ ९ ॥

बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यदि एकान्त-वाससे प्रभुकी भक्तिमें बाधा होनेकी सम्भावना हो

तो एकान्त-वास भी नहीं करना चाहिए। हरि तो सब प्रकारसे भक्तकी रक्षा करेंगे इसमें कोई संशय नहीं ॥ १० ॥

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम्।
य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥११॥

इस प्रकार गुप्त रहस्यवाला भगवत्-शास्त्र मैंने समझाया है। जो भक्त इसका भली प्रकार अध्ययन करेंगे उनकी निश्चय ही प्रभुमें दृढ़ भक्ति होगी ॥११॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता भक्तिवर्धिनी सम्पूर्णा ॥११॥

॥ १२. जलभेदः ॥

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥ १ ॥

श्रीहरिको नमन करके वक्ताओंके गुणोंका भेद बतानेवाले, समस्त सन्देहोंको दूर करनेवाले बीस प्रकारके भाव मैं बताता हूँ ॥१॥

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥ २ ॥

जितने प्रकारके भेद जलके गुणोंमें होते हैं उतने ही भेद वक्ताओंमें भी हैं। गानेवाले गन्धर्व कहलाते हैं। वे कूपजलके समान होते हैं। २ ॥

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेऽपि सम्मता।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥ ३ ॥

जितने कूपके भेद हैं उतने वक्ताओंके भी माने गए हैं। इस भूमण्डलमें परम्परागत पौराणिक वक्ता नहरके जलके सदृश हैं ॥३॥

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥ ४ ॥

जो वक्ता अपने कुटुम्बके भरण-पोषणके निमित्त कथा आदि

कहते हैं वे खेतमें प्रविष्ट जलके समान हैं और जो गायक लोग वेश्या आदिके संग रहकर उन्मत्त होकर गान करते हैं, वे गड्ढेके जलके समान हैं ॥ ४ ॥

जलार्थमेव गर्तांतु नीचा गानोपजीविनः ।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥ ५ ॥

जो गायक अपनी आजीविकाके निमित्त गान करते हैं वे गड्ढेके गन्दे जलके समान हैं। भगवत्-शास्त्रमें तत्पर विद्वज्जन तो निर्मल सरोवरके सदृश बताए गए हैं ॥ ५ ॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥ ६ ॥

जो वक्ता गम्भीर मनवाले होते हैं तथा अपने श्रोताओंके सब प्रकारके सन्देहोंका निवारण करते हैं, वे प्रेमपूर्ण पण्डितजन कमलोंसे सुशोभित सरोवरके समान हैं ॥ ६ ॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥ ७ ॥

भगवत्-प्रेममें निमग्न, स्वल्प शास्त्रके ज्ञानवाले वक्ताओंको छोटे तालाबके जलके सदृश बताया गया है। जिनके कर्म शुद्ध हैं तथा जो अल्प ज्ञान और अल्प भक्तिवाले हैं उनको जंगली छोटे गड्ढेके जलके समान कहा गया है ॥ ७ ॥

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥ ८ ॥

योग, ध्यान आदिसे सम्पन्न जो लोग भगवद्गुण गानेमें तत्पर रहते हैं वे वर्षा ऋतुके जलके समान हैं। जो लोग तप तथा ज्ञान आदिसे रहित हैं वे वक्ता शरीरके पसीनेके तुल्य बताए गए हैं ॥ ८ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कदाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥ ९ ॥

जो लोग अपने अलौकिक ज्ञानसे किसी-किसी समय शब्दके

द्वारा जाननेयोग्य श्रीहरिका गुणगान करते हैं वे पर्वतसे गिरनेवाले प्रपात (निर्झर) के जलके समान बताए गए हैं ॥ ९ ॥

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्ट्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥१०॥
प्रेममूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

देवताओंकी उपासना करनेवाले वक्तागण पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले स्वल्प जलके समान कहे गए हैं। प्रेमपूर्वक नवधा भक्तिमार्गके द्वारा भगवान्‌के स्मरणको जो धर्म मानते हैं ऐसे वक्ताओंको पर्वतसे निकले हुए निर्झरके परम पवित्र निर्मल जलके समान कहा गया है ॥ १० ॥

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥११॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

ऐसे ऊपर बताए हुए लोग नवधाभक्तिके अनुसार साधनयुक्त, वृद्धि और क्षयसे रहित (सांसारिक सुख-दुःखहीन) तथा मर्यादामार्गमें परिनिष्ठित वक्ता महाशयोंको स्थावर जलाशयके सदृश कहा है ॥११॥

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥१२॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षय्युता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥१३॥

जो अनेक जन्मोंसे सिद्धिके लिये प्रयत्नशील हैं परन्तु जन्मान्तरोंमें सुसंग और दुःसंगके गुण-दोषोंसे ईश्वरमें उनका प्रेम कभी-कभी कम और अधिक हो जाता है वे निरन्तर प्रवाहवाली नदीके जलके समान हैं ॥ १२-१३ ॥

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥१४॥

उपर्युक्त वक्ताओंके सदृश जो स्वतन्त्र हों अर्थात् मनकी सब उपाधिसे मुक्त हों तो वे सागरमें मिलनेवाली बड़ी नदीके तुल्य होते

हैं। जैसे कि पूर्ण भगवदीय शेष, व्यास, अग्नि (श्रीवल्लभाचार्यजी), हनुमान इत्यादि हैं ॥ १४ ॥

जड़नारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।
लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

इसी प्रकार जडभरत, नारद, मैत्रेय आदि महानुभावोंको समुद्रके जलके समान कहा गया है। जो वक्ता लौकिक और वैदिक गुणोंसे मिश्रित श्रीहरिका गुणगान गाते हैं वे क्षार आदि छह समुद्रोंके समान कहे गए हैं ॥ १५ ॥

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥
सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥१७॥

जो वक्ता गुणातीत, शुद्ध और सच्चिदानन्दरूप विष्णुभगवान्के समस्त गुणोंका ही वर्णन करते हैं, वे अमृत-सिन्धुके समान कहे गए हैं। उनके वचनामृतका पान परम दुर्लभ है ॥१६-१७॥

तादृशानां क्वचित् वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद् बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥१८॥

इस प्रकारके भगवदीयोंके वचनामृतका पान कहीं-कहींपर भगवत् पार्षदोंके समान होता है। जिस प्रकार अजामीलने शब्द सुनेथे उसके समान वाक्योंको बिन्दुपानके समान सुखकर कहा गया है ॥१८॥

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥१९॥

जब सांसारिक राग और अज्ञान आदि पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाते हैं, उस समयका भगवद्गुण-गान अपने आनन्दकी उत्पत्तिका कारण हो जाता है। तब वह लेहन जलके सदृश कहा जाता है। ऐसे वक्ता अपने आप सदैव गुणगानमें तत्पर रहते हैं ॥ १९ ॥

उद्धृतोदकवत् सर्वे पतितोदकवत् तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥२०॥

ऊपर जितने प्रकारके वक्ताओंके भेद कहे गए हैं इनके अतिरिक्त अन्य प्रकारके जिन वक्ताओंका उल्लेख इस ग्रन्थमें नहीं किया गया है वे सब उपयोग कर लेनेके पश्चात् बचे हुए जलके समान निरर्थक होते हैं ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥२१॥

इस प्रकार जीवोंकी इन्द्रियोंमें विद्यमान विष्णु भगवानके गुणोंका अनेक जलके भेदोंके दृष्टान्त देकर उनके रूप तथा फलसहित मैंने (श्रीवल्लभाचार्यने) निरूपण किया है ॥ २१ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितो जलभेदः सम्पूर्णः ॥१२॥

॥ १३. पञ्चपद्यानि ॥

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाऽरतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥ १ ॥

मुख्य श्रोता वे हैं जिन्होंने प्रेमयुक्त होकर भगवान् श्रीकृष्णके भजनानन्दरूपी रसमें अपना मन डुबा दिया है, निरन्तर श्रवण करनेका अभ्यास डाल लिया है, लोक और वेदके सुखमें आनन्द नहीं माना तथा भगवत्कथा सुननेमें सदा उत्साह दिखाया है ॥ १ ॥

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥ २ ॥

इस प्रकार भगवत्-स्मरणमें जिनका मन आर्द्र तथा विह्वल भी हो जाता है, और भगवान के गुणश्रवणमें उत्साह भी दिखाते हैं पर साथ-साथ अर्थ-साधनमें भी लगे रहते हैं, वे मध्यम श्रोता कहलाते हैं ॥ २ ॥

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात् तु विकला निरोधाद् वा न चान्यथा ॥३॥

जो भक्तगण सन्देहरहित होकर भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको भली भाँति जानते हैं और केवल आवेश अथवा निरोधसे ही विकल होते हैं, किसी अन्य कारण या छलसे नहीं होते, वे पूर्ण भक्त होते हैं ॥ ३ ॥

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

जो लोग कभी-कभी पूर्ण भावसे सम्पन्न होकर कृतकृत्य हो जाते हैं, परन्तु उनका वह भाव सदा स्थायी नहीं रहता और लौकिक तथा वैदिक आदि अन्य कार्योंमें भी आसक्त रहते हैं वे अधम श्रोता कहे गए हैं ॥ ४ ॥

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥ ५ ॥

देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्मको जानकर उसके अनुसार यज्ञादि कार्य करनेवालोंकी अपेक्षा अनन्य मनसे श्रवण आदि नवधा भक्तिका आश्रय लेनेवाले श्रोता उत्तम कहे गए हैं ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि सम्पूर्णानि ॥ १३ ॥

॥ १४. संन्यासनिर्णयः ॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितीये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥ १ ॥

पश्चात्तापकी निवृत्तिके लिये सब कुछ परित्याग करनेके विषयमें विचार करते हैं । संन्यास-ग्रहणके दो मार्ग हैं—एक तो भक्तिमार्गीय संन्यास और दूसरा ज्ञानमार्गीय संन्यास ॥ १ ॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद् विचारणा ॥ २ ॥

इस समय कराल कलिकाल है, इसलिये कर्ममार्गकी प्रणालीके अनुसार सन्यास नहीं लेना चाहिए। भक्तिमार्गके अनुसार संन्यास ग्रहण करना हमारा परम कर्तव्य है, इसलिये प्रथम इस भक्तिमार्गीय संन्यासपर ही विचार करते हैं ॥ २ ।

श्रवणादिप्रसिद्धयर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।
सहायसंगसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥ ३ ॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः।

श्रवण आदि नवधा भक्तिमें प्रवृत्त होनेके लिये (संन्यास) लेना आवश्यक नहीं है, क्योंकि नवधा भक्तिके साधनोंकी रक्षा करनेके लिये दूसरे मनुष्योंकी सहायताकी परमावश्यकता रहती है और संन्यास अवस्थामें अभिमान और संन्यासीके धर्म दोनों ही भक्ति-मार्गके विरुद्ध पड़ते हैं ॥ ३ ॥

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥ ४ ॥
अन्यत्रेऽपि तादृशैरेव संगो भवति नान्यथा।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात् तु कालतः ॥ ५ ॥

नवधा भक्तिके साधन करनेमें यदि गृहको बाधक समझकर (संन्यास) लिया जाय तो अन्य स्थानोंपर भी इसी प्रकारके मनुष्योंका समागम सम्भव है। अच्छे महात्माका समागम सम्भव नहीं है क्योंकि कराल कलिकाल है। अतः पाखण्डियोंके साथ रहनेसे स्वयं भी विषयाक्रान्त होनेका भय बना रहता है ॥४-५॥

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥ ६ ॥

जिनके हृदयोंमें विषय-वासनाओंने अपना स्थान बनाए रक्खा है, उनके हृदयमें प्रभुका आवेश कभी नहीं आ सकता। इसलिये

भक्तिमार्गका साधन करनेके निमित्त संन्यास-ग्रहण करना सुखप्रद नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥ ७ ॥

विरहका अनुभव करनेके लिये ही संन्यास ग्रहण करना उचित बताया गया है । इस भक्तिमार्गीय संन्यासमें अपने कुटुम्बके मनुष्योंका मोहरूपी बन्धन तोड़ने अर्थात् उनके सम्बन्धसे होनेवाली विविध उपाधियोंसे बचनेके लिये वेष मात्र बदल दिया जाता है, अन्य कुछ भी कारण नहीं है ॥ ७ ॥

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥ ८ ॥

इस मार्गमें कौण्डिन्य ऋषि और गोपिकाएँ गुरु हैं । उन्होंने जो साधन किया वही साधन श्रेष्ठ है । भाव तो भावनाके द्वारा सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त दूसरा कोई साधन परमोत्तम नहीं है ॥ ८ ॥

विकलत्वं तथा स्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः ॥ ९ ॥

इस मार्गमें विकलता, अस्वस्थता तथा स्वभाव आदि सामान्य मनुष्योंके तुल्य नहीं रहता है । इस प्रकारकी अवस्थामें रहनेवाले भक्तजनोंके लिये ज्ञान और लौकिक गुण बाधक होते हैं ॥ ९ ॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥१०॥

ज्ञानमार्गके अनुसार संन्यास लेनेसे साधकको सत्यलोककी प्राप्ति होती है । परन्तु यहाँ तो भक्ति ही साधन है और उसका फल भी साक्षात् प्रभुके दर्शनकी प्राप्ति है ॥१०॥

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद् यदि ॥११॥

तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा।

ज्ञानमार्गके अनुसार संन्यास लेनेवाले तो निःसन्देह सत्यलोक आदिमें ही पहुंचते हैं; परन्तु भक्तिमार्गमें तो अपना ही आत्मा बाहरसे प्रकट होकर अग्निके समान जब हृदयमें प्रवेश करता है तब समस्त सांसारिक बन्धन टूट जाते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥११॥

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥१२॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥१३॥

लौकिक आसक्तिसे रहित लोगोंके लिये भगवत्-गुणगान ही जीवन है। भक्तिमार्गमें तो भगवान् ही स्वयं फलरूप हैं इसलिये यहाँ बाधक कुछ है ही नहीं। स्वस्थताकी बात भगवान्के लिये करनी ही नहीं चाहिए क्योंकि भगवान् सदा दयालु हैं, वे अपनी दयालुताके विरुद्ध कोई काम करेंगे ही नहीं ॥१२-१३॥

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिद्धयति नान्यथा।
ज्ञानमार्गे तु सन्यासो द्विविधोऽपि विचारितः ॥ १४ ॥

यह (संन्यास) बड़ा दुर्लभ है क्योंकि यह प्रेमके द्वारा सिद्ध होता है, अन्य साधनोंसे नहीं। ज्ञानमार्गवाला संन्यास दो प्रकारका बताया गया है ॥ १४ ॥

ज्ञानार्थमुत्तराङ्गञ्च सिद्धिर्जन्मशतैः परम्।
ज्ञानञ्च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणात् मतम् ॥१५ ॥

ज्ञानप्राप्तिके लिए (विविदिषा) संन्यास और उत्तराङ्ग (विकृत) संन्याससे अनेक जन्मों के पश्चात् सिद्धि मिलती है। यज्ञादिक करनेका कथन शास्त्रमें होनेसे ज्ञानके लिये बहुत साधन की आवश्यकता होती है। १५ ॥

अतः कलौ न संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥१६॥

सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ।

अतएव ज्ञानमार्गीय संन्यास कलियुगमें पश्चात्तापके निमित्त हो ठीक है, अन्य प्रकारसे फलप्रद नहीं है। फिर इस प्रकारके संन्यास से पाखण्ड भी बढ़ सकता है इसलिये ज्ञानमार्गमें संन्यास लेना किसी प्रकार उचित नहीं है। कलियुगके दोषोंकी विशेष प्रबलताके कारण इस प्रकार व्यवस्था प्रदर्शित की गई है ॥ १६ ॥

भक्तिमार्गेऽपि चेद् दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥१७॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद् बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥१८॥

यदि भक्तिमार्गमें भी दोष हो तो क्या किया जाय। इसपर कहते हैं कि यहाँ भक्ति मार्गका आरम्भ करके नाश ही नहीं होता क्योंकि भक्तिमार्गपर चलनेवालोंका नाश होनेका कोई उदाहरण नहीं प्राप्त होता है। फिर लौकिक स्वास्थ्यके कारणोंका परित्याग करनेसे बाधा आती ही कहाँ है ॥ १७-१८ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥ १९ ॥

यहाँ पर तो स्वयं श्रीहरि भी बाधा नहीं कर सकते तब और दूसरे का सामर्थ्य ही क्या है, जो बाधा डाल सके। यदि ऐसा न हो तो फिर माताएँ अपने प्रिय बालकको कभी अपने स्तनके दुग्धपानके द्वारा पोषण ही न करें ॥ १९ ॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥ २० ॥

ज्ञानियोंके उपदेश-वाक्योंसे भी प्रभु अपने भक्तोंको मोहमें नहीं डालते हैं क्योंकि प्रभु हमको अपना स्वरूप दान करनेवाले और प्रिय हैं। वे भक्तोंको भला क्यों मोहित करेंगे ? ॥ २० ॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रंश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥२१॥

अतएव उपर्युक्त प्रकारसे संन्यासका व्यवस्था कही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे यदि कोई संन्यास ग्रहण करेगा तो वह अपने पुरुषार्थसे भ्रष्ट होगा, यह मेरी निश्चित सम्मति है ॥ २१ ॥

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णकी कृपासे श्रीमद्वल्लभाचार्यजीने भली प्रकार विचारपूर्वक निश्चय किया हुआ भक्तोंके लिये संन्यासग्रहणका निरूपण किया है। यदि कोई इसके विपरीत करेगा तो उसका पतन ही होगा ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितः संन्यासनिर्णयः सम्पूर्णः ॥ १४ ॥

॥ १५. निरोधलक्षणम् ॥

यच्च दुखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान् मम क्वचित् ॥१॥

जब श्री व्रजाधिप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी मथुरापुरीमें पधारे उस समय यशोदाजी और नन्दजी आदि गोकुलके सब व्रजवासियों और श्रीगोपीजनोंको जो दुःख हुआ था उस प्रकारका दुःख क्या मुझको भी कभी होगा ? ॥ १ ॥

गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम् ।
यत् सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥ २ ॥

गोकुलमें गोपिकाओं और समस्त व्रजवासियोंको जो प्रभुके साक्षात् स्वरूपानन्दका सुखानुभव हुआ था, क्या उसी प्रकारका सुख श्रीभगवान् मुझको भी प्रदान करेंगे ? ॥ २ ॥

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा ।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥ ३ ॥

भक्तप्रवर श्रीउद्धवजीके (मथुरापुरीसे) आनेपर वृन्दावन और श्रीगोकुलमें जो महान् उत्सव हुआ था, इसी प्रकारका हर्ष क्या मेरे मनमें भी कभी-कभी उत्पन्न होगा ? ॥ ३ ॥

महतां कृपया यावद् भगवान् दययिष्यति ।
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि ॥ ४ ॥

पूज्य गुरुजनोंकी परम कृपासे जबतक भगवान् गोकुलेन्दु दया करें तबतक अपने सुखके लिये आनन्दरूप प्रभुका कीर्तन करना ही परम सुखकर है ॥ ४ ॥

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा ।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत् ॥ ५ ॥

बड़े पुरुषोंकी परम कृपासे भक्तोंके द्वारा लीला आदिका विविध कीर्तन सर्वदा सुखका अनुभव करानेवाला होता है । जिस प्रकार घृतसे स्निग्ध भोजन करनेवालेको शुष्क भोजन सुखप्रद नहीं होता उसी प्रकार लौकिक पुरुषोंका कीर्तन तो कभी सुखप्रद नहीं हो सकता है ॥ ५ ॥

गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते ।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः ॥ ६ ॥

श्रीगोविन्द भगवान्का गुणगान करनेसे जो अनन्त सुख मिलता है, उस प्रकारका सुख तो शुकदेव आदि मुनीश्वरोंको आत्मानन्दमें भी कभी नहीं मिला, तब दूसरोंकी तो गणना ही क्या है ? ॥ ६ ॥

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् ।
तदा सर्वं सदानन्द हृदिस्थं निर्गतं बहिः ॥ ७ ॥

अपने भक्तोंको क्लेशयुक्त देखकर भक्तवत्सल भगवान् जब कृपा-

युक्त होते हैं उस समय पूर्णतया सदा आनन्द-स्वरूप प्रभु अपने हृदयसे स्वयं बाहर प्रकट होते हैं ॥ ७ ॥

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः ।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः स्रावयते जनान् ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण आनन्दमय प्रभुका कृपानन्द अत्यन्त दुर्लभ है । हृदय-पंकजमें विराजमान होकर जब भगवान् अपने गुण सुनते हैं तब अपने भक्तको पूर्ण आनन्द-सागरमें निमग्न कर देते हैं ॥ ८ ॥

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः ।
सदानन्दपरैर्गेयाः सच्चिदानन्दता ततः ॥ ९ ॥

अतएव सदा आनन्दरूप प्रभुमें आसक्त पुरुषोंको समस्त लौकिक आसक्तियाँ छोड़कर चित्तका अवरोध करनेके लिये सदा प्रभुका गुणगान करना ही परमोचित है । ऐसा करनेसे सच्चिदानन्दता सिद्ध होती है अर्थात् सत्, चित् और आनन्दरूप प्रभु स्वयं प्रगट हो जाते हैं ॥ ९ ॥

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥ १० ॥

मैं निरोधका अभिलाषी अवरोध करनेसे निरोध पदवीको प्राप्त हुआ हूँ, अब जो निरोधके अभिलाषी हैं उनके लिये मेरे द्वारा निरोधका वर्णन किया जाता है ॥ १० ॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम् ॥ ११ ॥

श्रीहरि ने जिनको त्याग रखा है वे समस्त प्राणी भवसागरमें निमग्न (डूबे हुए) हैं, और जिन भक्तजनोंका निरोध किया है वे यहाँ भगवत्सन्निधिमें प्रत्येक क्षण आनन्दमय रहते हैं ॥ ११ ॥

संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै ।
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ॥ १२ ॥

सांसारिक कामोंमें लगी हुई दुष्ट इन्द्रियोंके हितके लिये समस्त वस्तुओंका श्रीजगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके साथ सम्बन्ध कर देना ही सर्वोत्तम है ॥ १२ ॥

गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः ।
संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम् ॥ १३ ॥

जिनके चित्तमें भगवान् मुरारिके गुणोंका सुख भरा हुआ है उनके लिये सांसारिक विरह तथा क्लेशका कुछ भी भान नहीं होता अर्थात् वे श्रीहरिके तुल्य सर्वदा सुखमय रहते हैं ॥ १३ ॥

तदा भवेद् दयालुत्वमन्यथा क्रूरता मता ।
बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासोपि सिध्यति ॥१४॥

इसीको दयालुता कहते हैं अन्यथा इसके विरुद्ध वृत्ति को तो क्रूरता ही माना है। यहाँ पर बाधाओंको तो आशंका भी उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ तो असाध्य भी सिद्ध हो जाता है अर्थात् अनायास ही प्रभुका स्मरण सफल हो जाता है ॥ १४ ॥

भगवद्धर्मसामर्थ्यात् विरागो विषये स्थिरः ।
गुणैर्हरेः सुखस्पर्शान्न दुःखं भाति कर्हिचित् ॥१५॥

श्रीभगवान्के प्रतापसे विषयोंके प्रति अविचल विराग उत्पन्न हो जाता है। प्रभुके गुणोंके सुखका अनुभव होनेपर किसी समयमें भी दुःखकी प्रतीति नहीं हो पाती ॥१५॥

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गादुत्कर्षो गुणवर्णने ।
अमत्सरैरलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः ॥१६॥

इस प्रकार ज्ञानमार्गसे भगवद्गुणगानको परम श्रेष्ठ मानकर द्वेष और लोभ-रहित होकर सदैव प्रभुका गुणगान करना ही सर्वश्रेष्ठ है ॥१६॥

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि ।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा ॥१७॥

जिस प्रकार श्रीहरिके स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन तथा संस्पर्श करते हैं, उसी प्रकार संकल्प-द्वारा भी सदैव मानस-पङ्कजमें उनका ध्यान करना चाहिए ॥ १७ ॥

श्रवणं कीर्त्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः ।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥ १८ ॥

श्रवण और कीर्तन सदा स्पष्ट रूपसे करना चाहिए और हमारा पुत्र भी भगवान् कृष्णका भक्त हो, इस भावसे अपनी स्त्रीके साथ सहवास करना चाहिए। केवल गुदा इन्द्रिय-आदि मलांश त्यागनेका स्थान छोड़कर शरीरकी समस्त इन्द्रियोंको भगवत्-सेवामें लगा देना चाहिए ॥ १८ ॥

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते ।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः ॥ १९ ॥

जिस इन्द्रियका भगवत्-सेवा-कार्यमें उपयोग न होता हो उसका निग्रह करके अन्यको अवश्य ही भगवत्-कार्यमें लगाना चाहिए ।

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः ।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात् परम् ॥ २० ॥

अतएव परा भक्तिसे बढ़कर न तो कोई मन्त्र है, न कोई स्तोत्र है, न कोई विद्या ही है और न कोई तीर्थ ही है ॥ २० ॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं निरोधलक्षणं सम्पूर्णम् ॥ १५ ॥

॥ सेवाफलम् ॥ १६ ॥

यादृशो सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते ।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिध्येन् मनोरथः ॥ १ ॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः ।
उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकम् ॥ २ ॥

जिस प्रकार सेवा बताई गई है, उसकी सिद्धिके लिये उसका फल भी बताते हैं । अलौकिक दानमें प्रथम मनोरथ सिद्ध होता है । उसका

फल अथवा अधिकार प्राप्त होनेमें कालका नियन्त्रण नहीं होता। उद्वेग, प्रतिबन्ध और (भोग) ये सेवामें विघ्न करनेवाले हैं ॥ २ ॥

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर्न हि।
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम् ॥ ३ ॥

यदि भगवान्को सब प्रकारसे फलका दान न करना हो तब कोई उपाय ही नहीं है। यहाँपर प्रमाण-तत्त्वके निश्चयको अथवा विवेकको ही साधन माना है ॥ ३ ॥

बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथापरम्।
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा ॥ ४ ॥

सेवामें विघ्न करनेवाले समस्त कारणोंका परित्याग करना उचित है। लौकिक और अलौकिक दो प्रकारके भोगमेंसे लौकिक भोगका परित्याग करना उचित है। इसी प्रकार सेवामें लोककृत प्रतिबन्ध और भगवत्कृत प्रतिबन्धमेंसे लौकिक प्रतिबन्धका त्याग करना उचित है। महान् भोग अर्थात् अलौकिक भोग सेवामें अन्तराय रूप नहीं है क्योंकि वह तो अलौकिक भोगके फलके अन्तर्गत आता है ॥ ४ ॥

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलादेतौ सदा मतौ।
द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात् ॥ ५ ॥

लौकिक भोग अनेक प्रकारसे विघ्न डालते हैं एवं अल्प तथा घातक हैं। वे दोनों अर्थात् लौकिक भोग और लोककृत् प्रतिबन्ध दोनों सेवाफलोंमें अन्तराय करनेवाले माने गए हैं। इन दोनोंके प्रबल होनेसे अहन्ता-ममतात्मक संसारमें पड़ा रहना निश्चित है, यह समझकर सब प्रकारकी चिन्ताका परित्याग कर देना चाहिए ॥ ५ ॥

नन्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्।
अवश्येयं सदा भाव्यं सर्वमन्यत् मनोभ्रमः ॥ ६ ॥

सेवामें उद्वेग होनेपर समझ लेना चाहिए कि फल देनेकी भगवान्की इच्छा नहीं है। भोगमें घर विघ्नरूप है। जो हमने कहा है

यह अवश्य विचारनेके योग्य है। इसके अतिरिक्ति सब मनको भ्रान्ति है॥ ६॥

तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्।
गुणक्षोभेऽपि द्रष्टव्यमेतदेवेति मे मतिः॥
कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः॥ ७॥

यदि भगवदीयजन ऐसा करेंगे तो भगवत्कृपामें विलम्ब नहीं होगा। गुणोंके कारण क्षोभ होनेपर भी ऐसा ही विचार रखना, यह मेरी श्रीवल्लभाचार्यजी की सम्मति है। यहाँपर किसी प्रकारकी कुसृष्टि उत्पन्न होना ही भ्रम है।

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं सेवाफलं सम्पूर्णम्॥ १६॥

२३

तेईसवाँ अध्याय

श्रीवल्लभाचार्यजीका परिवार

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यजीको श्रीपांडुरंग विट्ठलनाथजीने यह प्रेरणा दी कि आप गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके विवाह कर लें क्योंकि मैं आपके यहाँ अब अवतरित होनेका इच्छुक हूँ। इस दैव वाणीको शिरोधार्य करके महाप्रभुने काशीमें आकर श्रीदेवीभट्टकी स्वस्तिमती कन्या अक्काजी श्रीमती महालक्ष्मीके साथ विवाह किया। इस मंगलोद्वाहके फलस्वरूप आश्विन कृष्णा द्वादशी संवत् १५६७ को (कुछ लेखकोंके अनुसार आश्विन शुक्ला दशमी (सं० १५७०) को महाप्रभुजीके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजीका जन्म हुआ और तत्पश्चात् चरणाद्रि (चुनार) में पौष कृष्णा नवमी, शुक्रवार संवत् १५७६ को श्रीविट्ठलनाथजीका

जन्म हुआ। विट्ठल शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—विद् अर्थात् विद्या या ज्ञानके द्वारा शून्यान् अर्थात्—शून्यको—मूर्खताको, अज्ञानकी भ्रांतिको दूर करे अर्थात् जो ज्ञानके द्वारा अज्ञानको दूर करे और अपना दास बनाकर दूर करे वह विट्ठल कहलाता है।

श्रीगोपीनाथजी अत्यन्त विद्वान्, तपस्वी और समर्थ निष्ठावान् पुरुष थे। उनके श्रीपुरुषोत्तमजी नामक एक ही पुत्र हुए जिनके पश्चात् गोपीनाथजीका वंश आगे नहीं चला।

श्रीविट्ठलनाथजी

श्रीविट्ठलनाथजी वल्लभ-सम्प्रदायके अनुयायियोंमें श्रीगोसाईंजी तथा श्रीप्रभुचरणके नामसे प्रसिद्ध हैं। आजकल जितने भी गोस्वामि-परिवार भारतमें विद्यमान हैं, ये सभी श्रीविट्ठलनाथजीके वंशज हैं। श्रीगोसाईंजीने दो विवाह किए थे। इनका बाल्य-जीवन अपने पिताजीकी स्निग्ध करुणामयी छायामें व्यतीत हुआ था जिससे इन्हें प्रारम्भमें ही विद्या, बुद्धि, विवेक तथा कृष्ण-भक्ति सबका दृढ़ संस्कार अपने देवतुल्य पिताजीसे ही प्राप्त हो गया था। ये अभी कुल १५ वर्षके ही थे कि महाप्रभु लीला-धाममें प्रविष्ट हो गए। किन्तु तबतक अपनी विलक्षण और विचक्षण प्रतिभाके बलपर इन्होंने सब प्रकारसे प्रौढ विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी। अपने पिताजीके न रहनेपर भी इन्होंने अपने अध्ययनमें किसी प्रकारकी शिथिलता न होने दी। उसीका परिणाम है कि श्रीविट्ठलनाथजीके सदुपदेश, सत्प्रयत्न और पाण्डित्यके कारण वल्लभ-सम्प्रदायका व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ। इन्होंने ही वल्लभ-सम्प्रदायमें क्रियात्मक सेवा-पद्धतिका प्रचलन किया था। इन्होंने विद्वन्मंडन, भक्ति-हंस, भक्ति-हेतु-निर्णय आदि अनेक गम्भीर, पांडित्यपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना करके विद्वत्समाजमें अत्यन्त यश अर्जित किया।

महाप्रभुजीने श्रीगोपीनाथ तथा श्रीविट्ठलनाथजीका यज्ञो-

पवीत-संस्कार बड़ी धूमधामसे चुनारगढ़में किया था और उपवीत-संस्कारके अनन्तर काशीके प्रसिद्ध संन्यासी विद्वान् श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीके पास विद्याध्ययनके लिये छोड़ दिया था। दोनों कुमारोंने अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा चमत्कारपूर्ण कुशाग्र बुद्धिसे किशोर अवस्थामें ही वेदवेदांग, दर्शन-शास्त्र आदि सब विद्याओंको आत्मसात् कर लिया था।

श्रीवल्लभाचार्यजीके आसुर व्यामोहके अनन्तर श्रीविट्ठलनाथजी अड़ैल (प्रयागमें) जा पहुँचे और वहाँ भगवान्‌की सेवा तथा उपदेश आदिके द्वारा जीवन व्यतीत करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने अड़ैलमें रहकर अपने पिताजीके अपूर्ण ग्रन्थोंको पूर्ण करनेका संकल्प किया और ब्रह्मसूत्रपर अपने पिताजी के अणुभाष्यका अन्तिम भाग लिखकर उसे पूर्ण किया। महाप्रभुजीने अपने तत्त्व-दीप-निबन्धके अन्तर्गत जिस भागवतार्थ-प्रकरणको तृतीय स्कन्धतक लिखा था उसे उन्होंने पंचम स्कन्धतक लिख डाला तथा श्रीमहाप्रभुजीके द्वारा रचे हुए षोडश ग्रन्थ तथा सुबोधिनी आदि अनेक ग्रन्थोंकी विशेष टीका लिखकर विद्वत्समाज, भक्त-समाज और वैष्णव-समाज सबका बड़ा कल्याण किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम वल्लभ-कुलमें गोस्वामि-पद धारण किया।

प्रौढ विद्वान् होनेके साथ-साथ गोस्वामी विट्ठलनाथजी अत्यन्त दक्ष व्यवस्थापक और क्रियाकुशल पुरुष थे। वल्लभ-सम्प्रदायमें अत्यन्त व्यवस्थित तथा सुनियोजित सेवा-पद्धति चलानेका सारा श्रेय श्रीविट्ठलनाथजीको ही है। वे गान्धर्व शास्त्र अर्थात् संगीत-विद्याके भी बड़े सूक्ष्म पारखी थे जिसका विनियोग उन्होंने केवल भगवत्-सेवामें ही किया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं श्री श्रीनाथजीके आगे गाए जानेके लिये अनेक गीतोंकी भी रचना की थी।

जिस समय श्रीवल्लभाचार्यजीने नित्य-लीला-धाममें प्रविष्ट होनेकी इच्छा की, उस समय गोस्वामीजी काशीमें उनसे मिलनेके लिये

आए। अपने पिताजीका यह आकस्मिक निर्णय सुनकर गोसाईंजीको हार्दिक क्लेश हुआ। अपने पुत्रकी यह दशा देखकर वल्लभाचार्यजीने डेढ़ श्लोकका उपदेश दिया जो शिक्षा-श्लोकीके नामसे प्रसिद्ध है—

मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे।
तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित्॥
मुक्तिर्हि त्वन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।

[यदि मुझमें तुम्हारा विश्वास रहेगा तो तुम कृतार्थ हो जाओगे। तुम्हारी शोचनीय दीन दशा कभी न होगी। मुझमें विश्वास रक्खो।]

अपने पिताजीसे वियोग होनेके समय वे कुल १५ वर्षके किशोर थे। किन्तु इस अल्पावस्थामें भी वे अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका रहस्य समझनेके लिये श्रीदामोदरदासजी और पद्मनाभदासजीसे सहायता लेते रहते थे। एक बारकी घटना है कि श्रीविट्ठलनाथजी अपने समवयस्क बालकोंके साथ कुछ खेल खेल रहे थे। उस समय दामोदरदासजीने अत्यन्त विनयके साथ निवेदन किया—'कृपानाथ! यह मार्ग खेलनेका नहीं है अपितु प्रभुके ताप क्लेशका है'। इस वाक्यका गोसाईंजीके हृदयपर ऐसा विचित्र प्रभाव पड़ा कि उस दिनसे उन्होंने सम्पूर्ण हास्य-विनोद और खेलकूद छोड़ दिया तथा शास्त्रोंके अभ्यासमें मनोयोग-पूर्वक साधना करते हुए भगवत्सेवामें हो लग गए।

अपने सम्प्रदायको सुव्यवस्थित करनेके लिये तथा उसका वास्तविक मर्म समझानेके लिये आपने विद्वन्मंडन, दशम-स्कन्ध-विवृति, श्रीटिप्पणीजी, शृंगार-रसमंडन, ब्रह्मसूत्रके अणुभाष्यका अन्तिम डेढ़ अध्याय आदि ग्रन्थोंकी रचना की और ब्रह्मवाद तथा निर्गुण भक्तिमार्गका वास्तविक स्वरूप स्थापित किया। आपके पांडित्य, चरित्र-बल और भक्तिके प्रतापसे राजा टोडरमल, राय पुरुषोत्तम, रानी दुर्गावती, राजा रामचन्द्र तथा बीरबल आदि अनेक प्रतापशाली

शासक आपके अनन्य भक्त तथा शिष्य थे। इसीलिये आपको 'अनेक-क्षितिपश्रेणिमूर्धासक्तपदाम्बुजः' कहते हैं।

गोसाईंजीके दो विवाह हुए थे—पहला श्रीरुक्मिणी बहूजीके साथ और दूसरा गढ़ाकी रानी दुर्गावतीजीके आग्रहसे श्रीपद्मावती बहूजीके साथ। प्रथम पत्नीसे इनके ६ पुत्र—श्रीगिरिधरजी, श्रीगोविन्दरायजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीरघुनाथजी तथा श्रीयदुनाथजी, और चार पुत्रियाँ—शोभा, यमुना, कमला और देवकी—हुईं। दूसरी पत्नीसे एक पुत्र श्रीघनश्यामजी हुए। आजकल जितना गोस्वामि समाज विद्यमान है वह सब श्रीविट्ठलनाथजीके प्रथम पुत्र श्रीगिरिधरजी और षष्ठ पुत्र श्रीयदुनाथजीका वंशज है। अन्य पुत्रोंके वंश नहीं चले।

श्रीविट्ठलनाथजीके जीवनमें एक बार बड़ा घोर संकट उत्पन्न हुआ जब श्रीनाथजीके मन्दिरके अधिकारी श्रीकृष्णदासजीने गोसाईंजीको श्रीनाथजीके दर्शनसे वंचित कर दिया। श्रीनाथजीके वियोगमें इनको इतना अधिक क्लेश हुआ कि ये नित्यप्रति छह मास तक निरन्तर श्रीनाथजीके नाम अत्यन्त भावपूर्ण, तन्मयतापूर्ण तथा अपने हृदयकी सारी वियोगजन्य व्यथाकी अभिव्यक्तिसे पूर्ण विज्ञप्ति लिखते रहे। इन विज्ञप्तियोंके पढ़नेसे ही प्रतीत होता है कि श्रीनाथजीमें इनकी कितनी प्रगाढ भक्ति थी। इनके विषयमें प्रसिद्ध है कि श्रीनाथजी इनसे प्रत्यक्ष वार्त्तालाप किया करते थे।

यद्यपि कृष्णदासजीने गोसाईंजीको इतना क्लेश दिया किन्तु जब बादशाहकी आज्ञासे कृष्णदासजी हटाए गए और संकटमें पड़े तब गोसाईंजीने ही कृपा करके उनकी रक्षा की थी। अपने साथ अपकार करनेवालेके प्रति उपकारकी यह भावना उनकी महत्ताका ज्वलंत उदाहरण है।

श्रीविट्ठलनाथजीकी अलौकिक शक्तियोंके सम्बन्धमें अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि जब पटनेके बादशाह दाऊदके

साथ सम्राट् अकबरका युद्ध होनेवाला था तब राजा टोडरमलने सेनापतिके रूपमें जानेसे पूर्व गोसाईंजीसे प्रसाद रूपमें पीताम्बर प्राप्त किया और उससे विजय पाई। इसी प्रकार गूँगे गोपालदासके मुखमें अधरामृत देकर इन्होंने उसका गूँगापन दूर किया और उनका नाम जपनेसे श्रीरघुनाथजीको सब शास्त्र कंठाग्र हो गए।

जैसे महाप्रभु वल्लभाचार्यजीके ठाकुरजी श्रीश्रीनाथजी हैं वैसे ही श्रीगोसाईंजीके ठाकुरजी श्रीनवनीत-प्रियजी हैं। इन दोनों स्वरूपोंकी सेवाका अधिकार सभी गोस्वामि-वंशजोंको है। श्रीगोसाईंजीने अपने पुत्रोंको स्वतन्त्र रूपसे सेवाके लिये अलग-अलग स्वरूप प्रतिष्ठित किए थे जिनमेंसे श्रीगिरिधरजीको श्रीमथुरेशजीका स्वरूप सौंपा था जो पहले कोटेमें और अब जतिपुरा मथुरामें विराजमान हैं। श्रीगोविन्दरायजीको श्रीविट्ठलेशका स्वरूप सौंपा गया था जो आजकल श्रीनाथ-द्वारा राजस्थानमें विराजमान हैं। श्रीबालकृष्णजीको श्रीद्वारकाधीशजीका स्वरूप सौंपा गया था जो आजकल काँकरौलीमें विराजमान हैं। श्रीगोकुलनाथजीको श्रीगोकुलेशजीका स्वरूप सौंपा गया था जो आजकल श्रीगोकुलमें विराजमान हैं। श्री रघुनाथजीको श्रीगोकुलचन्द्रमाजीका स्वरूप सौंपा गया था जो आजकल कामवनमें हैं और श्रीघनश्यामजीको श्रीमदन-मोहनजीका स्वरूप सौंपा गया था जो आजकल कामवन (भरतपुर)में है। श्रीगोसाईंजीके समयमें श्रीयदुनाथजीने और तृतीय पुत्र बालकृष्णजीने साथ-साथ श्रीबालकृष्ण प्रभु और द्वारिकाधीशजीकी सेवा की जो क्रमशः सूरत और काँकरौलीमें विराजमान हैं। उस समय गोकुलनाथजीके पास श्री कल्याण रायजी विराजमान थे जो आजकल बड़ौदेमें हैं और श्रीमुकुन्दरायजी आजकल काशीजीमें विराजमान हैं जिनकी सेवा रामदासजी मुखियाने की थी और जो श्रीनाथजीकी गोदमें आ विराजे थे।

गोसाईंजीके रचे हुए ग्रन्थोंमें श्रीवल्लभाष्टक, श्रीस्फुरत्कृष्ण-प्रेमामृत,

श्रीयमुनाष्टपदी, भुजंगप्रयाताष्टक, ललितत्रिभंगस्तोत्र, षोडश-ग्रन्थ सिद्धान्तमुक्तावली, यमुनाष्टकादिकी टीकाएँ, विद्वन्मंडन, भक्ति-हेतु, भक्तिहंस, अष्टाक्षरनिरूपण, रस-सर्वस्व प्रबोध, गुप्तरस, व्रतचर्या-टिप्पणीजा, अणुभाष्यका अन्तिम डेढ़ अध्याय, 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रपर विवेचन इत्यादि अनेक समर्थ ग्रन्थ लिखे हैं।

श्रीविट्ठलनाथजी ७० वर्ष २८ दिन इस पृथ्वीपर विद्यमान रहे और माघ शुक्ला सप्तमी, संवत् १६४८ को कुम्भनदासजीके साथ गिरिराज गोवर्धनकी कन्दरामें प्रविष्ट होकर नित्यलीला-धाममें पहुँच गए। इस कन्दराका द्वार अभी कुछ वर्ष पूर्वतक खुला हुआ था परन्तु अब बन्द करा दिया गया। कुछ विद्वानोंने इनका अन्तर्धान-काल फाल्गुन कृष्णपक्ष सायंकाल संवत् १६४२ भी लिखा है।

श्रीगोकुलनाथजी

गोस्वामी विट्ठलनाथजीकी धर्मपत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवीकी पावन कुक्षिसे चार पुत्रोंका जन्म हुआ—श्रीगिरधरजी, श्रीगोविन्दरायजी श्रीबालकृष्णजी तथा श्रीगोकुलनाथजी। श्री गोकुलनाथजीका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, गुरुवार, संवत् १६०८ को अड़ैलमें हुआ था। यह मंगल समाचार गोस्वामीको गिरिराज गोवर्धनपर प्राप्त हुआ और वे तत्काल अड़ैल चले आए। वहाँ आकर उन्होंने बालकका नामकरण श्रीवल्लभ किया इसीलिये गोकुलनाथजीने अपनी सब रचनाओंमें अपना नाम श्रीवल्लभ ही दिया है किन्तु उनका घरका व्यावहारिक नाम श्रीगोकुलनाथ ही था।

पाँचवें वर्ष अर्थात् संवत् १६१२ के मार्गशीर्षमें स्वयं गोसाईंजीने अपने हाथसे 'श्रीगणेशाय नमः' लिखवाकर उनका अक्षरारम्भ कराया और चैत्र शुक्ला ६, संवत् १६१५ को उपनयन-संस्कार कराकर वेदारंभ करा दिया तथा इस नव बटुको नियमित रूपसे सन्ध्या-वन्दन, हवन आदि नित्यकर्म करानेका भार अपने ज्येष्ठपुत्र श्रीगिरिधरजीपर सौंप दिया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने

कर्णाटकके प्रसिद्ध विद्वान् नारायण भट्टजीसे समग्र वेदोंका अध्ययन किया और अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा अप्रतिम प्रतिभाके द्वारा अल्प अवस्थामें ही वेद, वेदान्त, भागवत, सुबोधिनी आदिके सर्वमान्य विद्वान् हो गए। इतना ही नहीं, उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदायके समग्र ग्रन्थोंका अध्ययन अपने पितृचरण तथा ज्येष्ठ भ्राताओंसे किया। इस व्यापक पांडित्यके कारण श्रीविट्ठलेशजीने अपने रचे हुए ग्रन्थोंके परिष्करण तथा अपूर्ण ग्रन्थोंको पूर्ण करनेका भार इन्हींको सौंप दिया।

जब श्रीगोकुलनाथजी १६ वर्षके थे तभी संवत् १६२४ के ज्येष्ठ मासमें श्रीवेणीभट्टकी कन्या स्वस्तिमती पार्वतीसे इनका विवाह हो गया। संयोगवश बहुत वर्षोंतक भी इनके कोई सन्तान न हुई। श्रीगोसाईं-जीने विचार किया कि इनका दूसरा विवाह करा दिया जाय। जब इन्होंने यह सुना तो कहला दिया कि—'पै करेंगे तो दुख पाऊँगो, कहियो तुम समुझाय।' किन्तु भगवान्‌की कुछ ऐसी लीला हुई कि इन्हीं श्रीपार्वतीसे उनके छह सन्तान हुईं—तीन पुत्र, तीन पुत्रियाँ। ये तीन पुत्र थे श्रीगोपालरायजी, श्रीविट्ठलरायजी और श्रीव्रजरायजी।

संवत् १६४६ में जब श्रीगोकुलनाथजी गुजरात गए थे उस समय तारभट्ट नामक व्यक्तिने अहमदाबादमें एक नया मत चला रक्खा था। उसने श्रीगोकुलनाथजीके आगमनका समाचार सुना तो शास्त्रार्थके लिये सन्नद्ध हो गया। श्रीगोकुलनाथजीने भी उसका समाह्वान स्वीकार कर लिया और उसे ऐसा निरुत्तर कर दिया कि वह भी गोकुलनाथजीकी विद्वत्ताका लोहा मान गया।

उन दिनों दिल्लीके सिंहासनपर जहाँगीर आसीन था। उसपर चिद्रूप नामक व्यक्तिका बड़ा प्रभाव था। उसने अपने प्रभावका प्रयोग करके ऐसी राजाज्ञा निकलवा दी कि कोई भी व्यक्ति न तो तुलसीकी माला धारण करे न ऊर्ध्वपुण्ड्र लगावे। इस अन्यायपूर्ण आज्ञासे चारों ओर हाहाकार मच गया। सब वैष्णवोंने आकर

श्रीगोकुलनाथजीसे कहा। उन्होंने निश्चय किया कि या तो ऐसी अन्यायपूर्ण राजाज्ञा हटवाई जायगी या अपने धर्मकी रक्षाके लिये बड़ेसे बड़ा त्याग और बलिदान किया जायगा।

इस निश्चयके अनुसार श्रीगोकुलनाथजीने अपने सभी शिष्यों और भक्तोंको आदेश दे दिया कि सब लोग धर्माग्रह धारण करके अपने गलेसे न तुलसीकी माला उतारें न ऊर्ध्वपुण्ड्र मिटने दें। सबने निश्चय कर लिया कि प्राण भले ही चले जायँ किन्तु माला-तिलकका त्याग नहीं करेंगे। गुजरातके देवाभाई नामक वैष्णवने इस अत्याचारपूर्ण राजाज्ञापर कहा था—

माला केम उतारिए, जे आपी छे जगदीश।
ए कोणके माला उतराव, माला बाँधी शीश॥
शीषजे बाँधी छे, ते शीष साथे जाय।
पण हाथे करे माला उतारूँ, एम केम करि थाय॥

[जो माला स्वयं जगदीशने दी है वह कैसे उतारी जा सकती है। जो माला सिरपर बँधी है उसे कौन उतार सकता है। जो हमारे सिरपर बँधी है वह सिरके साथ ही जायगी। वह माला अपने हाथसे उतार दूँ, यह कैसे हो सकता है।]

जब इस धर्माग्रहपर भी कुछ सुनवाई न हुई तो श्रीगोकुलनाथजी जहाँगीरसे मिलनेके लिये आगरे पहुँचे। छूटते ही जहाँगीरने पूछा कि आपने अभी माला क्यों नहीं उतारी। इसपर श्रीगोकुलनाथजीने नम्रतापूर्वक किन्तु दृढ उत्तर दिया कि तिलक-माला धारण करना शास्त्रके अनुसार विहित कर्म है इसलिये प्राण देकर भी हम इन्हें धारण करेंगे। इस सम्बन्धमें यदि कोई शास्त्रार्थ करना चाहे तो उसे भी हम ललकारते हैं। इस प्रकार श्रीगोकुलनाथजीने माला और तिलककी रक्षाका विधान बनवाया जिसका विस्तृत विवरण माला-प्रसंग-सार नामक ग्रन्थमें प्राप्त है।

श्रीगोकुलनाथजीके अधिकांश शिष्य भड़ोंच आदि गुजरातके नगरोंमें रहते हैं।

श्रीगोकुलनाथजीने षोडश ग्रन्थोंमेंसे कुछपर संस्कृत-टीका लिखी तथा गायत्री-भाष्य-विवरण, गुप्तरस-टीका, अस्मत्कुलपर टीका आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की। ब्रज भाषामें आपने अनेक ग्रन्थ लिखे जो ब्रज-भाषा-साहित्यकी अक्षुण्ण निधि हैं। वे प्रायः गोकुलमें ही रहकर अपने आराध्य श्रीगोकुलनाथजीकी ही सेवा किया करते थे और यदा-कदा श्रीगोवर्धननाथजीकी सेवाके लिये श्रीगिरिराज भी जाया करते थे।

श्रीगोकुलनाथजीकी तेरह बैठकें हैं जिनमें उनकी सेवा होती रही है। उनके मुख्य सेवकोंमें कल्याणभट्टजी और मोहनभाई प्रसिद्ध हैं।

श्रीगोकुलनाथजी ९९ वर्ष, २ मास, १७ दिनतक इस भूतलपर भगवत्सेवा करके फाल्गुन कृष्णा नवमी संवत् १६९७ को नित्यलीलामें प्रविष्ट हो गए। कहा जाता है कि उनका वियोग सहन न कर सकनेके कारण उनके प्रधान ७८ सेवकोंने भी उनके साथ ही प्राण त्याग दिए।

श्रीहरिरायजी

श्रीमद्वल्लभाचार्यकी चौथी पीढ़ीमें श्रीहरिरायजीका जन्म हुआ। ये विट्ठलेशजीके प्रपौत्र, गोविन्दरायजीके पौत्र और कल्याणरायजीके पुत्र थे। ये इतने बड़े तपस्वी, विद्वान् और साधक थे कि श्रीनाथजी स्वयं इनके साथ प्रत्यक्ष वार्त्तालाप करते थे और श्रीगोवर्धननाथजीके साथ भी इनका इसी प्रकारका तादात्म्य-संबन्ध था। इन्होंने गोसाईंजीके चतुर्थ पुत्र श्रीगोकुलनाथजीसे ब्रह्मसम्बन्ध-दीक्षा ली थी किन्तु वल्लभ-सम्प्रदायका सारा रहस्य और उसके मार्मिक तथा तात्त्विक सिद्धान्तोंका ज्ञान इन्हें अपने पिता

श्रीकल्याणरायजीसे प्राप्त हुआ था जो बड़े प्रौढ विद्वान् भी थे और जिन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी की थी।

श्रीमहाप्रभुमें श्रीहरिरायजीकी इतनी प्रबल आस्था थी कि उन्होंने सभी वैष्णवोंको श्रीमहाप्रभुमें दृढ भक्ति करनेका खुला आदेश दे दिया था—

तस्यैवाऽयं कृपापूर्णः प्रभुः श्रीवल्लभाधिपः।
तदाश्रयः सदा कार्यो मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
सर्वं श्रीवल्लभाचार्य-प्रसादेन भविष्यति।
श्रीमदाचार्यचरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः॥

श्रीवल्लभाचार्यजी साक्षात् भगवान्के मुखारविन्द हैं। इसलिये सदा मन, वचन, कर्म और इन्द्रियोंसे श्रीमहाप्रभुका आश्रय लेना। उनकी कृपासे सब कार्य सिद्ध होंगे। अतः, उन्हींमें मन लगाना।]

एक बार गोस्वामी पुरुषोतमजीने श्रीनाथजीके लिये मोतीकी मोजड़ी सेवामें लाकर दी। श्रीतिलकायतने उत्तापन-पर्यन्त मोजड़ी धारण करानेकी व्यवस्था कर दी। सुकुमार-चरण श्रीनाथजी भला उष्ण-कालमें वह मोजड़ी अधिक समय-तक कैसे धारण कर सकते थे। फलतः, श्रीनाथजीने श्रीहरिरायजीको अपनी इच्छाकी प्रेरणा दी जो उस समय श्रीनाथद्वारासे कुछ दूर खिम्नोरमें रहते थे। तत्काल श्रीहरिरायजी घोड़ेपर चढ़कर श्रीनाथजीके पास आए और उनकी मोजड़ी बड़ी की।

एक बार श्रीपुरुषोत्तमजीको श्रीसुबोधिनीके प्रवचनमें कुछ शंका हुई तो तत्काल एक वृद्धाने श्रीहरिरायजीसे सुने हुए वचनके अनुसार उनका समाधान कर दिया।

श्रीहरिरायजीने कामाख्यदोष-विवरण, पुष्टिमार्ग-लक्षणानि, स्वरूपनिर्णय, षोडश ग्रन्थपर टीका आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

एक बार श्रीहरिरायजी परदेश गए थे। वहीं उ
प्राप्त हुई कि मेरे छोटे भाई गोपेश्वरकी पत्नी नित्यत
वाली है। इस वियोगमें गोपेश्वरजीकी सेवा त
समझकर वे प्रतिदिन प्रबोधके लिये उनके पास एक
लगे। यथासमय जब गोपेश्वरजीकी पत्नीका अव
गोपेश्वरजी खिन्न हो गए तब उनके सेवक वैष्णव
श्रीहरिरायके पत्र निकालकर दिए तो उन्हें बड़ो स
ये पत्र शिक्षापत्रके नामसे प्रसिद्ध हैं।

श्रीहरिरायजीकी बैठकें श्रीगोकुलनाथद्वारा, जैस
डाकोर, जम्बूसर, खिमनोर आदि स्थानोंमें विद्यमान

श्रीहरिरायजी १२० वर्षकी दीर्घायु भोगकर
प्रविष्ट हुए।

श्रीदेवकीनन्दनजी

गोसाईंजीके पंचम पुत्र श्रीरघुनाथजीके ज्येष्ठ पुत्र
जीका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् १
था। इनकी माताका नाम श्रीजानकीजी और
श्रीचन्द्रावलीजी था। इनके तीन पुत्र श्रीरघुनाथजी
और श्रीवल्लभजी थे।

ये आठ वर्षकी अवस्थातक श्रीविट्ठलेशजी
श्रीगोसाईंजी अष्टाक्षर मन्त्र (श्रीकृष्णः शरणं मम
पाठ करते हुए इनके मुखपर हाथ फेरते जाते थे
'विट्ठलेशकराम्भोजसंललितमुखाम्बुजः' कहा गया है

श्रीदेवकीनन्दनजी स्वयं तो विद्वान् थे, साथ ही
आदर भी करते थे। इसीलिये अनेक पंडित और वि
आश्रयमें रहते आते थे। इनमेंसे तारा नामक दक्षिणी
वैष्णव धर्मकी दीक्षा लेकर सदैव इनके पास गोकुलमें

विधि (मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या-आरती और शयन) की व्यवस्था करके आठों प्रहरोंके विभिन्न अवसरों पर आठ कीर्तनकारों द्वारा सेवाका विधान किया। अपने पिताजीके उपर्युक्त चार शिष्योंको लेकर और साथ ही चार और जोड़कर विट्ठलनाथजीने संवत् १६०२ में अष्टछापकी स्थापना की। ये आठ महानुभाव वल्लभ-संप्रदायमें 'अष्टसखा, अष्ट कीर्तनकार, अष्ट काव्यबारे' ही कहलाते थे और १६६७ तक उनके लिये 'अष्ट काव्यबारे' नाम ही प्रचलित रहा। इनके लिये अष्टछाप' शब्दका प्रयोग 'वार्त्ता' की सं० १६६७ की प्रतिमें ही प्राप्त होता है जिसमें 'अष्टछापी चार सेवकनकी वार्त्ताका' प्रसंग है। श्रीद्वारकादास पारीखका मत है कि विट्ठलनाथजीने ही यह नामकरण कर दिया था। अष्टछापमें निम्नांकित अष्ट सखा आते हैं —

१—सूरदास (सं० १५३५-१६४०)
२—परमानंददास (सं० १५५०-१६४१)
३—कुम्भनदास (सं० १५२५-१६४०)
४—कृष्णदास (सं० १५५३-१६३६)
५—नंददास (सं० १५६०-१६४०)
६—चतुर्भुजदास (सं० १५८७-१६४२)
७—गोविन्द स्वामी (सं० १५६२-१६४२)
८—छीतस्वामी (सं० १५७२-१६४२)

इन अष्टछापके कवियोंने जहाँ एक ओर पुष्टिमार्गको संपुष्ट किया वहीं हिन्दी साहित्यको भी अत्यन्त सरस रचनाओंसे आप्लावित कर दिया।

॥काशीस्थ अभिनवभरत आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी-द्वारा रचित श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनका पुष्टि मार्ग नामक ग्रंथ सम्पूर्ण हुआ॥

———